कबीर-साहित्य की परख

परशुराम चतुर्वेदी

भारती भण्डार
प्रयाग

ग्रंथ संख्या—१७९
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण :
सं० २०११
मूल्य ५)

मुद्रक : राम आसरे कक्कड़, हिंदी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

संत-काव्य की परंपरा

संत कबीर साहब ने जब अपनी बानियाँ रचीं उस समय काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार कम न था। निपुण कवि शिष्ट समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और उन्हें सामन्ती दरबारों में बहुधा आश्रय भी मिला करता था। यशोलिप्सा और अर्थ-प्राप्ति की प्रेरणा से वे नवीन कला-कौशल दिखलाते जाते थे और काव्यकला-सम्बन्धी नियमों का नित्यशः विस्तार भी होता जा रहा था। फलतः सत्काव्य की परीक्षा का मानदण्ड उस समय उक्त नियमों का अक्षरशः पालन तथा एक विशिष्ट वर्ग द्वारा उसका अनुमोदन ही समझा जा रहा था। कबीर साहब के वरीय समसामयिक विद्यापति कदाचित् उस समय तक अपनी 'पदावली' का निर्माण कर चुके थे। वे संस्कृत कवि जयदेव के प्रसिद्ध काव्य 'गीत गोविन्द' के आदर्शों पर लिखते थे और 'अभिनव जयदेव' तक कहलाकर प्रसिद्ध थे। उन्हें अपनी भाषा-शक्ति का गर्व था। उन्हें इस बात में दृढ़ विश्वास था कि मेरा काव्य केवल अपने भाषा-सौन्दर्य के बल पर भी उच्च स्तर के लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेगा और इस बात को उन्होंने अपनी अपभ्रंश-रचना 'कीर्ति-लता' के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया था। उनका कहना था—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ईणिच्चइ नाअर मन कोहइ॥[1]

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी भाषा दोनों एक समान सुन्दर हैं, जिस कारण दुर्जन लोग इनकी हँसी नहीं उड़ा सकते। वह (चन्द्रमा) शंकर भगवान् के शिर पर शोभित होता है और यह (मेरी भाषा) सदा नागरिकों का मन मोह लिया करती है। विद्यापति न केवल भाषा के सौन्दर्य को ही महत्त्व देते थे, अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे। उक्त पंक्तियों के अनन्तर उन्होंने यह भी बतलाया था कि 'यदि मेरी भाषा सरस होगी तो जो कोई भी उसे समझ सकेगा वही उसकी प्रशंसा करेगा।' तथा, 'जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार

---

१. 'कीर्तिलता' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ४

केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है।'[१] वास्तव में उस समय किसी काव्य की भाषा के सौन्दर्य और उसकी सरसता के ही कारण उसे, कदाचित् 'गीत' की संज्ञा दी जाती थी और वह 'पद' भी कहा जाता था।

कबीर साहब ने अपनी बानियों की रचना इससे भिन्न धारणा के साथ की। उनका सिद्धान्त बहुत कुछ उन पंक्तियों से सूचित होता है जो उनके एक पद के अन्तर्गत इस प्रकार आती हैं। वे कहते हैं—

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥[२]

अर्थात् मेरे इस पद को तुम किसी साधारण गीत के रूप में न देखो। इसमें मेरा अपना 'ब्रह्म-विचार' निहित है। इसमें मैंने अपनी आत्मसाधना का सार भरकर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। उन्होंने 'ब्रह्मविचार' को भी अपनी एक पंक्ति में 'आप-ही-आप विचारिये, तब केता होइ अनन्द रे' कहकर स्पष्ट कर दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वे अपनी इस प्रकार की रचना को अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप में देखते हैं। अपनी बानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कव्व कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते जैसा विद्यापति ने बतलाया है। वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि 'यदि मैं अपनी साखियों की रचना करूँगा तो, सम्भव है कि उससे प्रेरणा पाकर भव-सागर में पड़े हुए दुःख सहने वाले लोगों को उसके पार तक पहुँच पाने का एक अवसर मिल जाय।'[३] कबीर साहब की अनेक साखियों में भी उक्त अभिव्यक्ति-परक पंक्तियों के उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जिस कारण 'साषी' शब्द यहाँ पर उनकी 'बानी' की ही भाँति साधारण कविता का भी बोधक हो सकता है। कबीर साहब किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कोरा 'कविकर्म' समझते हैं और उसमें सदा व्यस्त रहने वाले कवियों को 'कविता करते-करते

---

१. "जो सुरसइ होसइ मझु भासा, जो बुज्झिह सो करिह पसंसा॥" तथा "महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइल्ल॥" (कीο लο), पृο ४

२. 'कबीर ग्रंथावली' (काο नाο प्रο सभा), पृο ८९ (पद ४)

३. "हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥"—(कο ग्रंο) पृο ४६

व्यर्थ ही मर जाने वाले"[1] तक कह डालते हैं। कबीर साहब के इन संकेतों द्वारा हमें संत-काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य संतों ने भी किया।

कबीर साहब का आविर्भाव भक्तिकाल के आरम्भ में ही हुआ था। इनके पीछे सूफ़ी-काव्य एवं वैष्णव भक्ति-काव्य के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलने लगे और उनके जायसी, सूर एवं तुलसी जैसे रचयिताओं ने 'महाकवि' की पदवी पाई। इनमें से जायसी (मृ० सं० १५६६) ने प्रबन्ध-काव्य की एक विशिष्ट रचना-पद्धति को अपनाया और अपने 'हिम्र भण्डार' की 'पूँजी' को 'सुरस पेम मधु भरी' बोली के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष कर, सत्कवियों में गिने जाने की ही उन्होंने अभिलाषा प्रकट की। उन्हें अपने काव्य को शुद्ध और सुव्यवस्थित रूप देने की इतनी चिन्ता थी कि 'खाकसारी' के आवेश में उन्होंने अपने को कवियों का 'पछिलगा' बतलाया और उसके साथ ही 'पंडितों' अर्थात् काव्य-कलाभिज्ञों से अपनी त्रुटियों को सुधारने की प्रार्थना भी की।[2] इसके सिवाय उनकी 'पद्मावत' की कुछ अन्तिम पंक्तियों से यह भी सूचित होता है कि उन्होंने उस प्रेमगाथा को यशोपार्जन के लिए लिखा था। उन्होंने उसमें स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।
केह न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरे दुइ बोल॥[3]

अर्थात् मैंने यह कविता अपने मन में यह समझ-बूझकर लिखी कि यह मेरे लिए इस जगत् में एक स्मारक का काम देगी। कौन इस संसार में ऐसा है जिसने यश का विक्रय नहीं किया अथवा जिसने इसे कभी मोल नहीं लिया; मुझे विश्वास है कि जो इस कहानी को पढ़ेगा वह मेरी प्रशंसा में दो शब्द अवश्य कह देगा।

जायसी को जितनी चिन्ता अपनी कविता के शुद्ध एवं निर्दोष सिद्ध करने की थी उससे कम उसके विषय को लोकप्रिय भी बनाने की नहीं थी।

सूरदास (मृ० सं० १६४०) ने बहुत कुछ विद्यापति के अनुकरण में अपना काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित किया। परन्तु उनका उद्देश्य 'सगुण लीलापद' का भी गाना रहा जिस कारण उनकी पंक्तियों में विद्यापति अथवा जयदेव से अधिक

---

१. **"कवि कवीनैं कविता मूये"—(क० ग्रं०) पृ० १६९, पद ३१७**
२. **'जायसी ग्रंथावली' (हिंदुस्तानी ऐकेडमी, प्रयाग), पृ० १३९**
३. **वही, पृ० २९९**

भक्तिरस का भी समावेश था और उनकी रचनाएँ भाषा-लालित्य के साथ-साथ भावगाम्भीर्य के लिए भी समादृत हुईं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास (मृ० सं० १६८०) ने भी अपनी कृतियों का निर्माण भक्तिभाव से ही प्रेरित होकर किया और उनमें प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक पदों के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। परन्तु उनके 'रामचरित मानस' की कुछ पंक्तियों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि वे उस रचना की प्रसिद्धि भी चाहते हैं।[1] जायसी की भाँति ही उन्होंने अपने को पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करने वाला कहा है और प्रायः विद्यापति के ढंग से उस अपनी रचना को 'बुधों' द्वारा अपनाये जाने की अभिलाषा प्रकट की है। उनका यह निश्चित सिद्धान्त-सा जान पड़ता है कि

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं॥[2]

किन्तु वे, अपनी कृति के लिए 'साधु समाज भनिति सनमानू' की इच्छा रखते हुए भी, विद्यापति की भाँति अपनी भाषा के सौन्दर्य तथा उसकी सरसता की प्रशंसा नहीं करते और न उसका आश्रय लेते ही जान पड़ते हैं। उनका कहना है कि

जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि मांही॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥[3]

और वे 'स्वान्तः सुखाय' के साथ-साथ 'सब कहँ हित' की भी चर्चा करते हैं—गोस्वामी तुलसीदास के कथनों में वस्तुतः सभी उपर्युक्त बातें पाई जाती हैं, किन्तु उनका 'निज कबित्त केहि लाग न नीका' का मोह छूटा हुआ नहीं प्रतीत होता और वे रह-रहकर 'कवित दोष गुन विविध प्रकारा' जैसे विभिन्न प्रसंग भी छेड़ा करते हैं जिस कारण उन्हें भी काव्य कलाभिज्ञों का ही कवि कहना कदाचित् अनुचित न होगा।

परंतु इन महाकवियों के प्रायः समकालीन समझे जाने वाले संतों के भी विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। संत दादूदयाल (मृ० सं० १६६०) ने अपने संबंध में एक स्थल पर[4] कहा है कि "अपने प्रेमास्पद से मिलने की मेरी

---

१. 'रामचरित मानस' (बाल कांड) "प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग" इत्यादि। (साहित्य कुटीर, प्रयाग), पृ० ८

२. वही, पृ० १० ३. वही, पृ० ८

४. "ऐसी प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूँ पंषी पीव सुनावैरे।
त्यूँ मन मेरा रहै निसबासुरि, कोइ पीव कूँ आंणि मिलावैरे॥""
—'दादूदयाल की वाणी' (अजमेर), पृ० ४१७

अभिलाषा बहुधा इतनी तीव्र हो जाती है कि मेरा मन उसमें रात-दिन रमने लगता है और मैं अपने विरह की पीर का गान, एक पक्षी की भाँति आप-से-आप करने लग जाता हूँ" और वे इस बात का स्पष्टीकरण वहाँ पर कई अन्य पंक्तियों द्वारा भी करते हैं। उन्हें उस समय न तो कवि जायसी के ढंग से कोई प्रेम कहानी कहने लगने को जी चाहता है, न वे सूर की भाँति 'सगुण लीला पद' गाते हैं और न तुलसी के अनुकरण में अपने 'राम' के चरित का आधार लेकर किसी प्रबन्ध की रचना में ही प्रवृत्त होते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि मेरी पंक्तियों की रचना काव्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार हो रही है कि नहीं अथवा उनकी सराहना 'पण्डित' लोग करेंगे वा नहीं। उन्हें उनके निर्माण के आधार पर यश पाने की भी आशा नहीं और न वे उन्हें गा-गाकर तर जाने का ही मनोरथ रखते हैं। इस प्रकार की बातें उनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं और न इसी कारण वे इनकी ओर ध्यान देना आवश्यक ही समझते हैं। वे केवल कबीर का-सा 'साचा सबद' पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें मिठास भरी जान पड़ती है और जिसे वे सुनकर भी आनन्दित होते हैं।[1]

कबीर साहब और दादूदयाल केवल अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति थे और उनके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी कहा जा सकता था, किन्तु संत सुन्दरदास (मृ० सं० १७४६) जैसे पण्डित और निपुण कवि के विचार भी इससे भिन्न नहीं थे। वे कहते हैं—

नखशिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै।
अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अच्छर घटि-बढ़ि होइ बुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औंढेर काण से तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
कहि सुन्दर हरि जस जीव है, हरि जस बिन मृत कहि तथा॥[2]

अर्थात् काव्य सर्वांग सुन्दर होने पर पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है और यदि अंगहीन हो तो उसे सुनते ही कविजन भाग खड़े होते हैं। बात यह है कि अक्षरों की न्यूनाधिकता के कारण वह लुढ़कता हुआ चलता है, मात्रा की घटी-बढ़ी में वह मतवाला-सा लगता है और बेमेल तुकों की कविता ऐंची कानी हो जाती है

---

१. 'दादूदयाल की वाणी' साखी ३४, पृ० २७६
२. 'सुंदर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ६७२

तथा अर्थहीन होने पर अंधी-सी लगती है। परन्तु फिर भी ये सभी उसके शारीरिक अथवा बाह्य दोष ही कहे जा सकते हैं। काव्य का प्राण 'हरिजस' है और उसके बिना वह शवतुल्य कहा जा सकता है। इसी कारण संत सुंदरदास ने उस काव्य की घोर निन्दा की है जो सर्वांग सुन्दर होने पर भी शृङ्गार जैसे रसों द्वारा प्रभावित होता है। सुन्दरदास के समय तक हिंदी-साहित्य के इतिहास का उपर्युक्त भक्तिकाल समाप्त हो चुका था और उसके रीतिकाल काल का आरम्भ भी हो चुका था। उस समय तक कवि केशवदास (मृ० सं० १६७४) अपनी 'रसिक प्रिया' लिख चुके थे, नन्ददास (मृ० सं० १६३९) 'रसमंजरी' की रचना कर चुके थे और सुंदर नाम के एक ग्वालियर निवासी कवि उसी विषय पर अपना 'सुंदर शृङ्गार' नामक ग्रंथ भी, सं० १६८८ में, तैयार कर चुके थे। संत सुंदरदास ने दो कुण्डलियाँ लिखकर इन तीनों रचनाओं के शृङ्गारपूर्ण काव्य की निन्दा खुले शब्दों में की और इन्हें अनिष्टकर बतलाया।[1] इन्होंने उक्त 'हरिजस' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की, किन्तु संतों के मंतव्यानुसार, उसका स्वरूप कदाचित् 'हरिरस' एवं 'रामरस' से भिन्न नहीं हो सकता। संत सुन्दरदास ने, एक निपुण कवि होने के नाते, काव्य के बाह्य रूप की ओर भी पूरा ध्यान दिया और उसके लक्षणादि तक की चर्चा की, किन्तु कविता के विषय अथवा भाव पर अपने समय का उन्होंने कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया और वे संत-काव्य ही लिखते रह गए।

इस प्रकार संत-काव्य की जो परंपरा कबीर साहब के समय से चल निकली वह उस स्वतःप्रसूत निर्झर के समान आगे बढ़ी जो किसी मूल स्रोत से आप-से-आप निकलकर सदा अग्रसर होता चला जाता है। उसका मार्ग किसी नहर का-सा बना बनाया नहीं रहा करता और न उसके दाहिने-बायें कोई कृत्रिम करारों की बाधाएँ ही खड़ी रहती हैं। संत-काव्य का आरम्भ पहले बानियों अथवा पदों एवं साखियों के ही रूपों में हुआ था, किन्तु वह पीछे अन्य प्रकार से भी छन्दोबद्ध होकर दीख पड़ा। फिर भी उसकी मौलिक विशेषताएँ प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी रह गईं और उनमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं लक्षित हुआ। उसका प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन का ही बना रह गया। उसके कवियों ने लगभग सदा केवल मुक्तकों को ही अपनाना पसन्द किया और अपनी कथन-शैली में उन्होंने पिंगल, भाषा, व्याकरण, रस, अलंकारादि-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा भी की।

---

१. 'सुंदर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ४३९-४०

यह परंपरा अभी आधुनिक युग तक लगभग एक ही ढंग से चली आई है किन्तु शुद्ध भावप्रधान काव्य की उसमें कभी कमी नहीं रही, संत कवियों में कबीर साहब, नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुंदरदास, धरणीदास, तेगबहादुर, पलटू तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष भी हुए जिनकी रचनाओं में हमें उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण सरलतापूर्वक मिल सकते हैं। इन्होंने अपने-अपने युगानुसार केवल विविध छन्दों तक को ही अपनाया और एकाध ने छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य तथा प्रेमगाथाओं तक के निर्माण की चेष्टा की और कतिपय गीत भी गाये। परन्तु सूफ़ी-काव्य, वैष्णवभक्ति-काव्य, शृङ्गार-काव्य अथवा प्रेम-साधना वाले प्रसिद्ध कवियों के उन्मुक्त हृदयोद्गारों तक का प्रभाव उन्होंने अपने विषय पर नहीं पड़ने दिया और वे सदा अपने ही रंग में रँगे रहकर पद्य-रचना करते चले आए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस परंपरा का एक अस्पष्ट रूप कबीर साहब के पहले से भी विद्यमान था। उनके आविर्भाव काल (विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के सम्भवतः द्वितीय चरण से लेकर उसके कुछ पीछे तक) के पहले से ही नामदेव, त्रिलोचन और सधना जैसे संत लगभग इसी प्रकार की रचना करते आ रहे थे और बहुत से विद्वानों का अनुमान है कि स्वयं गीत-गोविन्दकार जयदेव तक ने कुछ ऐसे पद लिखे थे जिनमें से दो 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत हैं, परन्तु उनकी रचनाओं में अभी तक वह भावगाम्भीर्य नहीं आ पाया था जो सर्व-प्रथम कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ा। वास्तव में संतो की 'निर्गुण' साधना का अभी तक वह रूप ही नहीं निखर पाया था जिससे उनके परवर्त्ती संतों ने अपने लिए पीछे प्रेरणा ग्रहण की। नामदेव की रचनाओं पर अभी तक वारकरी संप्रदाय की विट्ठलोपासना का ही पूरा रंग चढ़ा जान पड़ता है। उनमें संतों के सहज भाव का कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता और न उनकी गहरी स्वानुभूति ही लक्षित होती है। संतों की साखियों तथा बानियों के पूर्वरूप हमें नाथपंथियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं। नाथपंथियों के भी कुछ पहले जैन और बौद्ध सिद्ध हुए थे जिन्होंने दोहों और पदों की रचना की थी। उन्होंने सम्भवतः नाथ-पंथियों को ऐसी रचनाओं के आदर्श प्रदान किए थे तथा एक विलक्षण वर्णन-शैली की पद्धति भी चलाई थी। बौद्ध सिद्ध सहजयान के अनुयायी थे और वे पूर्व-प्रचलित तंत्र-साधना से भी भलीभाँति परिचित थे। उनकी कथन-शैली में स्वच्छन्दता थी, स्पष्टवादिता थी और एक ऐसे व्यंग का भी पुट रहा करता था जो

श्रोताओं के ऊपर सीधी चोट पहुँचता था। संतों ने सांसारिक विडम्बनाओं के विषय में कथन करते समय उसे पूर्ण रूप से अपनाया। इन्होंने सिद्धों, मुनियों एवं नाथपंथियों की भाँति सर्वजनसुलभ प्रतीकों का सहारा लेने तथा जनभाषा में ही सब-कुछ कह डालने की प्रणाली को भी अंगीकार किया। सिद्ध लोग कभी-कभी अपनी महत्त्वपूर्ण बातें एक प्रकार की 'संध्या भाषा' की शैली में भी कहा करते थे जो बहुत गूढ़ हुआ करती थी। नाथपंथियों ने उसका प्रयोग 'उलटी चरचा' के नाम से किया और वही संतों के यहाँ 'उलटवाँसी' वा 'विपर्जय' नाम से प्रसिद्ध हुई।

सिद्धों के उक्त प्रकार के वर्णनों की शैली कम-से-कम उनके मान्य ग्रन्थ 'धम्मपदं' की रचना के ही समय से प्रचलित थी। सांप्रदायिक भेष-धारण की आलोचना करते समय उस ग्रंथ में एक स्थल पर ब्राह्मणों के प्रति कहा गया है—

> किं ते जटाहि दुम्मेध ! किंते अजिन साटिया।
> अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥[1]

अर्थात् हे दुर्बुद्ध ! जटाओं से तुझे क्या लाभ है और तेरे मृगचर्म धारण करने से भी क्या होता है ? भीतर तो तेरा (रागादि मलों द्वारा) परिपूर्ण बना हुआ है और बाहर तू अपने शरीर का प्रक्षालन किया करता है। सिद्धों तथा जैन मुनियों ने भी ऐसे अवसरों पर इसी प्रकार की वर्णन-शैली का प्रयोग किया है। इसी प्रकार इनकी संध्या भाषा वाली कथन-शैली का एक उदाहरण वहाँ इस प्रकार का है—

> मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये।
> रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥[2]

अर्थात् माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचर सहित राष्ट्र को मारकर ही ब्राह्मण निष्पाप हो सकता है जिसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तृष्णा, अहंकार, आत्मादि की नित्यता का सिद्धान्त एवं जड़वाद तथा रागयुक्त उपादान पदार्थों को नष्ट करके ही कोई ज्ञानी अपने जीवन को शुद्ध बना सकता है और इस प्रकार उक्त पद्य के रचयिता ने एक महत्त्वपूर्ण बात को भी विपरीत ढंग से कहा है।

संध्या भाषा के ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण हमें वैदिक साहित्य तक में भी मिलते हैं। ऋग्वेद (१.१६४-७) में सूर्य का अपने पैरों (किरणों) द्वारा पृथ्वी के जल का पान करना तथा अपने शिर (आकाश) द्वारा उसे मेघों

१. 'धम्मपदं' (सारनाथ), पृ० १७९   २. वही, पृ० १३१

के रूप में लाकर बरसना कहा गया है, जिसका वास्तविक अभिप्राय आत्मा का बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का रस लेना तथा उनके शिरोभाग रूप अन्तःकरण के माध्यम से ज्ञान-रस के आनन्द का अनुभव करना समझा जाता है। इसके सिवाय नाथपंथियों तथा संतों ने पीछे चलकर जिन शब्दों अथवा शैली में आत्मा का परिचय दिया उसके भी कुछ उदाहरण कई उपनिषदों में मिलते हैं; जैसे—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥—'ईशोपनिषद्'

अर्थात् वह आत्मा चलती है और नहीं भी चलती है, वह दूर भी है और समीप भी है और वह सबके भीतर तथा बाहर भी वर्तमान है। उस आत्मा को 'कठोपनिषद्' (२-२०) में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' अर्थात् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं महान्-से-महान् भी कहा गया है तथा 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' अर्थात् बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सब ओर पहुँच जाता है, बतलाया गया है। फिर 'केनोपनिषद्' (११) में भी उसी के विषय में कहते हैं—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदसः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमजानताम् ॥११॥

अर्थात् जिस किसी को वह अविदित है वही उसके रहस्य को समझता है और जो उसे जान लेता है वह उसे नहीं जान पाता। वह सम्यक् प्रकार से जानने वालों के लिए अविदित है और इस प्रकार न समझने वालों के लिए विदित रहता है। संतों की रचनाओं में बहुधा पाये जाने वाले रहस्यवाद की भी झलक इन उपनिषदों के अनेक स्थलों पर मिलती है, जिससे प्रतीत होता है कि उनके काव्य की परंपरा अत्यन्त प्राचीन भी कही जा सकती है। उसके लिए काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करना उतना आवश्यक न था और न, इसी कारण, कबीर साहब आदि ने उसकी कभी चिन्ता ही की।

संत-काव्य की परंपरा तत्त्वतः उस काव्य-रचना पद्धति की ओर संकेत करती है जो मानव-समाज की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित है। वह किसी समय आप-से आप चल पड़ी थी और वह उसी रूप में विकसित भी होती गई। वह उस काल से विद्यमान है जब कि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण-शास्त्र का नियन्त्रण न था और न उसके काव्य-रूप की व्यवस्था के लिए किन्हीं छन्दोनियमों की ही सृष्टि हो पाई थी। वह स्वभावतः स्वच्छन्द रूप में ही अग्रसर हुई थी जिस कारण उसकी कविता को, काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित करने के लिए, किसी रस वा अलंका-

रादि सम्बन्धी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं थी। व्याकरण, पिंगल एवं काव्य-कला-विषयक अन्य शास्त्रों की रचना क्रमशः पीछे होती गई और उनके नियमों उपनियमों का अनुसरण करने वाली शास्त्रीय पद्धति की कविता की एक पृथक् परंपरा भी चलने लगी और दोनों सामान्तर चलीं। किन्तु शिष्ट-समाज अथवा सभ्य लोगों द्वारा अधिक अपनाई जाने के कारण दूसरी को क्रमशः अधिक योग-दान मिलने लगा और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने के कारण पहली का आदर सदा साधारण जन-समाज तक ही सीमित रहता आया। पहली की भी शृंखला कभी नहीं टूटी और वह अधिकतर अपने मौखिक रूप में जीवित रही। लिखित रूप में उसका केवल वही अंश पहले संचित किया जा सका जिसमें या तो ज्ञान विज्ञान की गम्भीरता थी अथवा जिसे सर्वसाधारण के प्रति उपदेश का भी रूप दिया गया। संसार के प्राचीन धार्मिक साहित्य अथवा काव्य मूलतः उक्त पहली परंपरा के उदाहरणों में आते हैं और उन्हें लिखित रूप भी मिल गया है, किंतु इस प्रकार की रचनाओं का एक बहुत बड़ा अंश अभी तक मौखिक रूप में भी विद्यमान है और उसे बहुधा 'लोकगीत' के नाम से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त प्रथम परंपरा प्रकृत-काव्य की परंपरा है जहाँ द्वितीय कल्पना-त्मक रचनाओं की प्रणाली है। अतएव, प्रथम में जहाँ हमारी आदिम मनो-वृत्तियों का सरल और विशुद्ध रूप दीख पड़ता है वहाँ द्वितीय में बहुत कुछ कृत्रि-मता का समावेश रहता है। प्रकृत-काव्य एवं शिष्ट वा कलात्मक-काव्य के बीच इस प्रकार का अन्तर देखकर ही संत-काव्य को उक्त पहली कोटि में रखने की प्रवृत्ति होती है; फिर यह काव्य प्रकृत-काव्य के उस वर्ग में आता नहीं जान पड़ता जिसे 'लोकगीत' कहा करते हैं। कुछ आलोचकों की धारणा है कि "हिंदी में 'निर्गुणधारा' की संज्ञा से अभिहित सम्पूर्ण साहित्य 'लोकगीत' वर्ग का है।"[१] और वे कतिपय कारणों की ओर लक्ष्य करते हुए यहाँ तक कह डालते हैं कि "हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिंदी-साहित्य की 'निर्गुणधारा' 'लोकगीतों' का ही विकसित रूप है।"[२] किन्तु ऐसे लेखक लोकगीत की उन विशेषताओं की ओर कदाचित् पूरा ध्यान नहीं देते जो उसे संत-काव्य से भिन्न सिद्ध कर देती है। लोकगीत वस्तुतः किसी समाज-विशेष के हृदय और मस्तिष्क की अभिव्यक्ति करता है और उसमें 'काव्य-निर्माता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव' रहा करता है, जहाँ संत-काव्य स्वभावतः किसी संत की स्वानुभूति का निदर्शन करता है

---

१. 'निर्गुणधारा' (मानसरोवर प्रकाशन, गया), पृ० २ २. वही, पृ० १०

जिस कारण, प्रकृत-काव्य का रूप धारण करता हुआ भी, वह अपनी कर्तृप्रधानता एवं आत्माभिव्यंजना (Subjectivity and Selfexpression) की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का सर्वथा परित्याग नहीं कर पाता। इसके सिवाय लोकगीत का माध्यम बहुधा अनुश्रुति और मौखिक परंपरा द्वारा उपलब्ध होता है और उसमें अधिकतर प्रेम-परक वा रसात्मक स्थलों का ही समावेश रहा करता है, जहाँ संत-काव्य के लिए ये बातें आवश्यक नहीं हैं और इसमें बहुधा धार्मिकता का पुट भी मिल जाया करता है।

संत-काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जनसाधारण के अंग बने कवियों (वा क्रान्तदर्शी व्यक्तियों) की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। उसमें साधारण-जनसुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जन-जीवन को स्पर्श करता है। वह सभी प्रकार से जन-काव्य कहलाने योग्य है जिस कारण उसकी परंपरा की छोरें अमितकाल तक उपलभ्य समझी जा सकती हैं।

कबीर साहब और पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ

कबीर साहब के मृत्यु-संवत् को यदि हम १५०५ मानकर चलें तो कहा जा सकता है कि उनके जीवन-काल का अधिकांश विक्रम की १५वीं शताब्दी में व्यतीत हुआ होगा। यही समय था जब उन्होंने अपने भ्रमण, सत्संग तथा विचार विनिमय द्वारा ज्ञानोपार्जन किया होगा और अपने महत्त्वपूर्ण अनुभव एवं मनन के सहारे कतिपय सिद्धांत निश्चित कर उनके अनुकूल आध्यात्मिक जीवन का निर्माण तथा उसका प्रचार भी किया होगा। इसी प्रकार, उनके विविध उपदेशों अथवा 'बानियों' को अधिकतर उनके जीवन-काल के उत्तरार्द्ध की वस्तु अनुमान कर हम यह भी निर्धारित कर सकते हैं कि उनकी उपलब्ध रचनाओं का निर्माण काल सं० १४५० के पहले नहीं जा सकता। तदनुसार सं० १४५० के पूर्व प्रस्तुत की गई किसी कवि की कृति को ही हम उनके पूर्ववर्त्ती कवियों की रचनाओं के अंतर्गत ला सकते हैं। कबीर साहब के पूर्ववर्त्ती कवियों में से भी कई एक का समय अभी तक केवल अनुमान पर ही अवलम्बित समझा जाता है और बहुत-सी रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनके वास्तविक कवि का ठीक पता नहीं चलता, किंतु जिनकी भाषा आदि के संबंध में विचार करके ही उन्हें उक्त सं० १४५० के पहले की कृति माना गया है। कबीर साहब की कई बानियों का, ऐसी अनेक प्रकार की रचनाओं के साथ, भाव भाषा अथवा वर्णन-शैली विषयक साम्य दीख पड़ता है, किंतु हम यहाँ केवल उन्हीं के उदाहरण देना चाहते हैं जो अपभ्रंश, राजस्थानी वा प्राचीन हिंदी की हैं तथा जिन्हें हम, इसके लिए, अधिक उपयुक्त भी समझते हैं।

चौरासी सिद्धों का समय विक्रम की ८ वीं अथवा ९वीं शताब्दी से लेकर उसकी ११वीं अथवा १२वीं तक जाता समझा जाता है। इन सिद्धों में से बहुत से बौद्ध धर्म के वज्रयान, सहजयान एवं कालचक्रयान, जैसे संप्रदायों के अनुयायी थे और अपनी साधनाओं में निरत रहते थे। इन्होंने अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुसार बहुत से उपदेश दिये हैं जो उनकी रचनाओं में सुरक्षित हैं। इनमें से कई एक की कृतियों की रचना अपभ्रंश और प्राचीन देशी भाषाओं में हुई है और वे इनके दोहों तथा चर्यापदों के रूपों में पायी जाती हैं। कबीर साहब ने इन चौरासी सिद्धों की चर्चा कम से कम अपनी दो भिन्न-भिन्न रचनाओं में की

है और इन्हें वहाँ पर क्रमशः 'संशयग्रस्त' एवं 'माया में निरत' बतलाया है।[1] परंतु फिर भी, इनकी कुछ रचनाओं के साथ कबीर-बानियों की तुलना करने पर, उन दोनों में कहीं-कहीं विचित्र साम्य भी लक्षित होता है। कबीर साहब इन सिद्धों के सांप्रदायिक सिद्धांतों को मानते अवश्य नहीं जान पड़ते और इसी कारण उन्होंने इनकी आलोचना भी की है। किंतु जिन साधारण मंतव्यों के विषय में उनका इनके साथ कोई स्पष्ट मतभेद नहीं उनके वर्णन में वे कभी-कभी इनका अनुकरण तक करते से जान पड़ते हैं और वे इनके अनेक पारिभाषिक शब्दों को अपनाने तथा इनकी आलोचनात्मक शैली को प्रयोग में लाने को भी चेष्टा करते हैं। दोनों की रचनाओं में कहीं-कहीं एक ही बात विभिन्न शब्दों द्वारा कही गई जान पड़ती है, कहीं पर उसे व्यक्त करने के ढंग में भी विशेष अंतर नहीं लक्षित होता और कभी-कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि कबीर साहब ने किसी-किसी सिद्ध-रचना का केवल उल्था मात्र कर दिया है।

सिद्ध सरहपा (विक्रम की नवीं शताब्दी) का एक दोहा उनके 'दोहा कोष' में इस प्रकार आता है—

जहि मण पवण ण सञ्चरइ, रविससि णाह पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस ॥२५॥[2]

अर्थात् जहाँ तक मन एवं पवन की गति नहीं और जहां सूर्य एवं चंद्रमा का भी प्रवेश नहीं हो पाता, वहीं पर तू अपने चित्त को विश्राम दे। रे मूर्ख! सिद्ध सरहपा ने इस अपने उपदेश में उस स्थिति की ओर संकेत किया है जो अगम्य है, किंतु जो साधकों के लिए परम अभीष्ट भी है। कबीर साहब ने भी अपनी एक साखी द्वारा प्रायः वैसी ही स्थिति की ओर निर्देश किया है और यह भी कहा है कि मैं उसमें बराबर लीन रहा करता हूँ। वे कहते हैं—

जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१॥[3]

अर्थात् जिस बन (रहस्य मय परमतत्त्व की अनुभूति) तक सिंह (मन) की पहुँच नहीं और जो पक्षी (प्राण का पवन) की पहुँच के बाहर है तथा जहाँ पर रात

---

१. 'कबीर ग्रंथावली' (ना० प्र० सभा), सा० ११, पृ० ५४ तथा 'गुरु ग्रंथ साहिब' (भाई गु० दि० सिं० अमृतसर) राग भैरउ बाणी १३, पृ० ११६१

२. 'दोहाकोष' (कलकत्ता संस्कृत सीरिज़, २५), पृ० २०

३. 'क० ग्रं०' (ना० प्र० सभा) सा० १, पृ० १८

एवं दिन (चंद्रमा एवं सूर्य) का भी अस्तित्व नहीं वहाँ पर कबीर अपनी सहज समाधि में लीन है। यहाँ पर कबीर साहब के शब्दों तक में बहुत कुछ साम्य है। इसी प्रकार सिद्ध सरहपा के 'दोहा कोष' में एक स्थल पर पंडितों के कोरे बाह्य-ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा गया है—

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध बसन्त न जाणइ ॥[1]

अर्थात् पंडित लोग जहाँ सभी शास्त्रों की व्याख्या करने में लगे रहते हैं वहाँ स्वयं अपने ही शरीर में वर्त्तमान 'बुद्ध' को नहीं जान पाते। कबीर साहब ने भी अपने एक पद में इस बात को इस ढंग से कहा है—

पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषांणै, भीतरि हूती बसत न जांणै ॥[2]

अर्थात् पंडित लोगों की यह दशा है कि वे पढ़ लिखकर वेदों की चर्चा करते फिरते है, किंतु अपने भीतर वर्त्तमान वस्तु वा आत्मतत्त्व का ही परिचय नहीं प्राप्त कर पाते इन दोनों रचनाओं का मर्म एक ही है और इनकी वर्णन शैली तक में विचित्र साम्य है।

चौरासी सिद्धों में से ही सिद्ध शबरपा (विक्रम की नवीं शताब्दी) के एक चर्यापद में इस प्रकार आता है—

गुरुवाक् पुञ्छिआ बिन्ध निअमण बाणे।
एके सर सन्धाने बिन्धह् बिन्धह् परम णिवाणे ॥[3]

अर्थात् गुरूपदेश रूपी धनुष पर अपना मन, बाण के रूप में संयोजित कर केवल एक ही शर के द्वारा परमनिर्वाण को बेध देना आवश्यक है। यदि गुरूपदेश के प्रभाव से मन अनुप्राणित हुआ तो उसके निर्वाण प्राप्त करने में विलंब नहीं। कबीर साहब ने इन पंक्तियों के भाव को अपनी एक साखी द्वारा व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहा है—

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥७॥[4]

अर्थात् सद्गुरु अत्यंत निपुण शूरवीर हैं। उसने अपने उपदेशों का एक ऐसा

१. 'दोहाकोष' (कलकत्ता) दो० ६८, पृ० ३०
२. 'क० ग्रं०', पद ४२ पृ० १०२।
३. 'चर्यापद' (कमलाबुक डिपो, कलिकाता), चर्या २८, पृ० १३४
४. 'क० ग्रं०', सा० ७, पृ० १

विलक्षण तीर मारा कि उसके लगते ही सारा रहस्य खुल गया और मेरे हृदय में छेद हो गया अथवा मन पर स्थायी छाप पड़ गया। दोनों कवियों का अभिप्राय केवल गुरु के उपदेशों को महत्त्व देकर उसकी कृपा द्वारा पारमार्थिक सत्ता की सहजानुभूति का उल्लेख करना है, दोनों प्रायः एक ही बात कहते हैं, एक ही सा रूपक बाँधते हैं, किंतु दोनों के ढंग अपने-अपने हैं।

सिद्ध शबरपा की ही भाँति सिद्ध भुसुकुपा (विक्रम की नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के एक चर्यापद की कुछ पंक्तियों का भाव भी कबीर साहब में मिलता है। जैसे—

जिम जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाअ।
तिम मण रअणा समरसे गअण समाअ॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार जल में जल के मिल जाने पर किसी प्रकार का भेद लक्षित नहीं होता उसी प्रकार मन भी समरस की दशा में शून्यवत् हो जाता है। मन के शून्य रूप में आ जाने पर दोनों का अभेदतः एकीकरण हो जाता है और उसी दशा को 'समरस' की संज्ञा दी गई है। कबीर साहब ने भी परमतत्त्व 'राम' में मिल कर उसके साथ एक हो जाने की दशा का वर्णन लगभग इसी ढंग से किया है। वे कहते हैं—

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा॥[2]

अर्थात् पहले मैं चाहे किसी भी प्रकार का रहा होऊँ अब तो, अपने जीवन का फल प्राप्त कर लेने पर, मेरी दशा भिन्न हो गई है। अब मैं अपने राम में इस प्रकार हिलमिल कर उसके साथ एक हो गया हूँ जिस प्रकार पानी ढुल कर पानी में चला जाता और तदाकार हो जाता है। भुसुकुपा की पंक्तियों में जहाँ वज्रयानी पारिभाषिक शब्दों द्वारा निर्माण की दशा का वर्णन किया गया है वहाँ कबीर साहब ने प्रायः उसी दशा का परिचय अत्यंत सीधी-सादी एवं सुबोध भाषा के प्रयोग द्वारा करा दिया है।

सिद्ध कण्हपा (विक्रम की नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) भी सिद्ध भुसुकुपा के ही समान एक महान् पंडित थे। उन्होंने समरस की दशा का परिचय देते समय एक दूसरे प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है और कहा है—

---

१. 'चर्यापद (कलिकाता), पद ४३, पृ० २०७

२. 'क० ग्रं०' पद ४०२, पृ० २२१-२

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणि लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥[१]

अर्थात् जिस प्रकार नमक पानी में घुलमिल कर एक हो जाता है उसी प्रकार चित्त भी गृहिणी (मुद्रा) के साथ शीघ्र समरस प्राप्त कर लेता है। यदि उसके साथ वह नित्य (उसी प्रकार) अवस्थित रहा और उस पर किसी प्रकार की बाधा का प्रभाव भी न पड़ा। कबीर साहब ने इस प्रकार की दशा का वर्णन करते समय 'चित्त' एवं 'घरिणि' की जगह क्रमशः 'मन' एवं 'उन्मन' के प्रयोग किये हैं, किंतु इन्होंने भी दृष्टांत नमक एवं पानी का ही दिया है। जैसे,

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं बिलग।
लूंण बिलगा पांणिया, पांणीं लूंण बिलग ॥[२]

अर्थात् जब मेरा मन परमतत्त्व के साथ मिल गया तो परमतत्त्व भी मेरे मन से मिल गया, नमक पानी में मिल गया और नमक और पानी एक हो गए। समरसता की दशा तभी संभव है जब एक दूसरे में पूर्णतः विलीन हो जाय, दोनों का कोई पृथक् अस्तित्व न रह जाय।

सिद्ध कण्हपा के ही समकालीन तंतिपा वा ढेण्ढणपा नामक एक सिद्ध भी थे जिनकी कुछ पंक्तियों का प्रायः अक्षरशः अनुवाद कबीर साहब के एक पद में मिलता है और इन दोनों कवियों की वे पंक्तियाँ संध्याभाषा अथवा उल्ट-बाँसी के उदाहरणों में दी जाती हैं। ढेण्ढणपा कहते हैं—

वलद विआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥

× × ×
× × ×

निति निति षिआला षिहे षम जूझअ।
ढेण्ढणपाएर गीत बिरले बूझअ ॥[३]

अर्थात् बैल तो व्याता है और गाय बंध्या हो गई है, फिर भी वेदी पर तीनों सांझ (निरंतर) दूध दुहा जा रहा है। सियार सिंह के साथ बराबर युद्ध करता रहता है और ढेण्ढणपा के इस गीत का मर्म विरले ही पुरुष जान पाते हैं।

---

१. 'दोहाकोष' (कलकत्ता सं० सी० २५) दो० ३२, पृ० ४६
२. 'क० ग्रं०' सा० १६, पृ० १३
३. 'चर्यापद' (कलिकाता), चर्या ३३, पृ० १६०

यहाँ पर ढेण्ढणपा की उपर्युक्त पंक्तियों का भाव यह है कि हमारा मन जब तक सक्रिय रहता है वह अपनी सृष्टि करता रहता है जो वस्तुतः उसके प्रसव-कार्य के समान है, किंतु वही चित्त जिस समय नैरात्मा में लीन होकर विशुद्ध बन जाता है तो उसके लिए सभी प्रकार के प्रपंच तिरोहित से रहते हैं और बंध्या गाय की भाँति वह उक्त प्रसव-कार्य में अशक्त हो जाता है। फिर भी, यदि अविद्या की दृष्टि से देखा जाय तो, सृष्टि-कर्म को कभी व्याघात नहीं होता।......इसी प्रकार मरणादि से भयभीत होकर चित्त शृंगालवत् कायर बना रहता है, किंतु विशुद्ध होने पर वही सहजानंद के साथ होड़ में प्रवृत्त हो जाता है।

कबीर साहब के उक्त पद की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।

× × × ×

× × × ×

नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै, कबीर कोई बिरला बूझै ॥[1]

जिनमें 'पिटा' के स्थान पर केवल 'बछरा' का ही अंतर दीख पड़ता है। परंतु, कबीर साहब के दृष्टिकोण के अनुसार इनके आशय में भी बहुत कुछ विभिन्नता का आना संभव है। कबीर साहब के कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि बुद्धि का जड़त्व विभिन्न प्रपंचों का कारण बन जाता है। किंतु, अपने सात्त्विक रूप में, वह इनसे तटस्थ रहा करती है। ज्ञानविहीन चित्त का स्वभाव है कि वह निरंतर संकल्प-विकल्पों की सृष्टि करता रहे। ···इसी प्रकार ज्ञानहीन जीव जरा-मरण के भय से सियार की भाँति कायर बना रहता है, किंतु समय पाकर वही सदा सिंह जैसे भयंकर काल को भी पराजित करने में प्रवृत्त हो जाया करता है। ढेण्ढणपा ने कहा है कि मेरे इस गीत का रहस्य कोई बिरला ही समझ सकेगा जिसे कबीर साहब ने भी अपने शब्दों में दुहरा दिया है। कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत बहुत से सिद्धों के दोहों अथवा उनके चर्यापदों में आये हुए वाक्यांशों तथा मुहावरों के भी अनुवाद प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं।

सिद्धों के अतिरिक्त नाथ कवियों की रचनाओं का भी प्रभाव कबीर साहब की बानियों में दीख पड़ता है। गुरु गोरखनाथ (विक्रम की दसवीं शताब्दी) के प्रति कबीर साहब ने कई स्थलों पर अपनी श्रद्धा प्रकट की है और उन्हें ऐसे

---

१. 'क० ग्रं०' (ना० प्र० सभा), पद ८०, पृ० ११३

लोगों में गिना है जो वास्तविक रहस्य जानते हैं।[1] अतएव, गुरु गोरखनाथ की रचनाओं से उनका परिचित होना अथवा उनके द्वारा प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'गोरख बानी' में बहुत सी ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो मानो कबीर साहब की कतिपय वैसी ही पंक्तियों की व्याख्या सी प्रतीत होती है अथवा उनके मूल पाठ सी लगती हैं। उदाहरण के लिए गुरु गोरखनाथ ने एक स्थल पर कहा है—

डूंगरि मंछा जलि सुसा पांणीं मैं दौं लागा।[2]

अर्थात् मछली (मन) पहाड़ पर (ऊँची स्थिति में) पहुँच जाती है, शशा (माया) जल में (भवसागर में) रह जाता है और पानी, अंत में, जल जाता (नष्ट हो जाता) है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक को पहले विवेक द्वारा सत्-असत् का बोध हो जाता है और फिर ऐसी स्थिति आती है कि उसके लिए जगत् कुछ रह नहीं जाता। कबीर साहब इसी पंक्ति की व्याख्या करते हुए से जान पड़ते हैं जब वे कहते हैं—

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भईं।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई॥[3]

अर्थात् समुद्र में (अथवा सारी काया में) आग लग गई (ज्ञान विरह व्याप्त हो गया), नदियाँ जलकर नष्ट हो गईं (सारे सांसारिक संबंध आप से आप विच्छिन्न हो गए) और मछली (आत्मा) वृक्ष पर चढ़ गई (अपनी उच्च स्थिति में आ गई), अब स्वस्थ और सजग हो जा। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ की पंक्तियों में जो केवल किसी एक साधना की ओर निर्देश मात्र था वह इस साखी में स्पष्ट स्वानुभूति सा लगता है।

इसी प्रकार 'गोरख बानी' में एक स्थल पर, 'रमिता राम' के साथ चौगान खेलने का रूपक बाँधते समय निम्नलिखित पंक्तियाँ दी गई हैं—

सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगांम चित चबका।
चेतनि असवार ग्यांन गुरू करि, और तजौ सब ढबका॥[4]

---

१. 'क० ग्रं०' पद २३२ पृ० १६६, पद १६३ पृ० १४२, पद ३३ पृ० ६६, पद ३३० पृ० २००, आदि

२. 'गोरख बानी' (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पद २०, पृ० ११२

३. 'क० ग्रं०', साखी १० पृ० १२।

४. 'गोरखबानी' (हिं० सा० स०, प्रयाग) पद १४ पृ० १०३

अर्थात् पवन के घोड़े पर सहज की जीन कसकर उसमें लय की लगाम लगाओ और चेतन को उस पर सवार करके गुरु ज्ञान को उपलब्ध कर लो; अन्य उपायों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वे इसके उपयुक्त भी नहीं जान पड़ते। कबीर साहब इस प्रकार के रूपक का प्रयोग करते, कम से कम दो स्थलों पर, दीख पड़ते हैं और वे वहाँ इसके बहुत से शब्दों तक को काम में लाते हैं। उनका कहना है—

कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां सांईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति ॥[1]

अर्थात् कबीर ने अपने (विचार के) घोड़े को कसकर उस पर सवारी की और, उसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र अपने स्वामी से मिलने के लिए हाथ में (प्रेम का) चाबुक ले लिया; उसे भय था कि यदि दिन रहते हुए (जीते जी) उससे भेंट न हो सकी तो फिर अंत में कुछ न हाथ लग सकेगा। इस पद्य के भाव को और भी स्पष्ट करते हुए वे नीचे लिखे पद में भी कहते हैं—

अपने बिचारि असवारी कीजै, सहज कै पाइड़ै पाव जब दीजै ॥टेक॥
दे मुहरा लगांम पहिराऊं, सिकली जीन गगन दौराऊं ॥
चलि बैकुंठ तोहि लै तारौं, थकहित प्रेम ताजनैं मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूँ थैं न्यारा ॥२५॥[2]

अर्थात् जब सहज के रिकाब पर पैर रखा (सहज की साधना में प्रवृत्त हो गया) तो आवश्यक है कि अपने विचार पर सवारी करूं। उसको (विचार के घोड़े को) मुहरा देकर (राम नाम की) लगाम पहनाऊं और उस पर सिकली (समष्टि भाव) का जीन कसकर उसे 'शून्य' तक पहुँचा दूँ। मैं उसे बैकुंठ ('साधसंगति') में ले जाकर उसे मुक्त भी कर देना चाहता हूँ जिस कारण, उसके तनिक भी हिचकने पर, मैं उसे प्रेम की चाबुक लगाना चाहता हूँ। मैं ऐसा सवार हूँ जिसका वेद वा क़ुरान से कोई भी संबंध नहीं और जो केवल अपनी सहज साधना पर ही आश्रित रहता है। 'गोरख बानी' की उपर्युक्त पंक्तियों के साथ इन पद्यों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि पहली का रचयिता जहाँ, योग-साधना को अधिक महत्त्व देता हुआ, उक्त रूपक का प्रयोग करता है वहाँ दूसरों का कवि ऐसा करते समय प्रेमभक्ति की साधना को भी नहीं भुला देना चाहता।

'गोरख बानी' में आये हुए एक पद में माया की बेल के चतुर्दिक् फैलने

---

१. 'क० ग्रं०' सा० १३, पृ० २१   २. वही, पद २५, पृ० ९६

एवं फूलने-फलने का भी रूपक बाँधा गया है और कहा गया है कि उस बेल का हमारे मानव शरीर के भीतर भी विस्तार है जहाँ पर लगने वाले उसके (मुक्ति-रूपी) मुक्ताफल को चर जाने के लिए (मन रूपी) मृग सदा प्रयत्नशील रहता है, किंतु उसे (आत्मा रूपी) भील शिकारी मार गिराता है और वह फिर अवधूत का रूप धारण कर लेता है।[1] कबीर साहब ने इस रूपक को भी अपना कर लगभग उसी प्रकार की एक उल्टवाँसी की रचना की है जैसी गुरु गोरखनाथ के उक्त पद में आती है। दोनों में एक प्रधान अंतर यह दीख पड़ता है कि गुरु गोरखनाथ ने जहाँ मृगया के व्यापार मात्र का ही वर्णन किया है वहाँ कबीर साहब ने उसके लिए 'कंता' (जीवात्मा) के प्रति अपनी ओर से अनुरोध भी करके उसे अधिक सरस बना दिया है। कबीर साहब कहते हैं—

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै
मास बिहूंणां घरि मत आवै हो कंता ॥टेक॥
उर बिन षुर बिन चंच बिन, बपु बिहूंना सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मास न होई ॥
पैली मार के पारधी, ताकी धुनही पिनच नहीं रे।
ता पैली कौ ढूंक्यौ मृग लौ, ता मृगकै सीस नहीं रे ॥
मार‍्या मृग जीवता राख्या, यह गुर ग्यांन मही रे।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन कौं, बेली है परु पात नहीं रे
॥२१२॥[2]

अर्थात् हे कंत (जीवात्मा), यदि (मन परमतत्त्व की अनुभूति में) जीवित है तो (उसके विशुद्धीकरण की आवश्यकता नहीं) उसे न मारना और यदि (मायाग्रस्त होने के कारण) मरा सा है तो भी उसे न लाना (उपयुक्त न समझना), किंतु फिर भी उस (सावज) के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकेगा। इस (मन रूपी सावज) का नतो कोई शरीर है, न इसके चरण हैं और न मुख ही है; वह अशरीरी (और शून्यवत्) है, किंतु तुम्हें रक्तमांस-हीन (निकम्मा) सावज (मन) भी तो नहीं चाहिए? उस पार (संसार के प्रति आसक्ति से परे) वाले शिकारी (आत्मा) ने जिसके पास न तो कोई धनुष था और न प्रत्यंचा थी (माया की) बेली में प्रविष्ट मृग को जिसे कोई सिर भी नहीं था मार डाला और उसे मारकर

१ 'गोरखबानी' (हिं० सा० स०, प्रयाग), पद २६, पृ० ११८-२०
२ 'क० ग्रं०' पद २१२ पृ० १६०

भी गुरुज्ञान द्वारा जीवित (जीवन्मुक्ति की दशा में) रखा। कबीर साहब का कहना है कि जो अमर बेलि है वह पत्रहीन (प्राकृतिक प्रपंचों से निर्लिप्त) है और उसी के साथ स्वामी से मिलना संभव है।

गुरु गोरखनाथ का पद कबीर साहब के इस पद से लगभग ड्योढ़ा है और उसमें उपर्युक्त बातें अधिक विस्तार के साथ दी गई मिलती हैं। परंतु दोनों पदों में पारधी, मृग, आदि का वर्णन प्रायः एक सा दीख पड़ता है और दोनों उल्टवाँसी के रूप में आये हैं। इन दोनों से बहुत कुछ मिलती-जुलती एक चर्या सिद्ध भुसुकुपा की भी मिलती है उसमें भी मृगया का रूपक आया है किंतु जहाँ इनकी जैसी वर्णन शैली का प्रयोग नहीं है। इसमें न तो उतना विस्तार है और न उल्टवाँसी से ही काम लिया गया है। यह भुसुकुपा का पद भी कबीर साहब के पद का आदर्श प्रतीत होता है। सिद्ध भुसुकुपा कहते हैं—

जइ तुम्हे भुसुकु अहेरिं जाइबे मारिहसि पञ्चजना।
नलिणी बन पइसन्ते होहिसि एकुमना॥
जीवन्ते भेला बिहणि, मएल रअणि।
हणबिणु मांसे भुसुकु पद्मवण पइसहिणि।
माआजाल पसरि रे बधेलि माआ-हरिणी।
सद्‌गुरु बोहें बूझि रे कासु कदिनि॥[1]

अर्थात् हे भुसुकु, यदि तुम आखेट के लिए जाना तो पांचों स्कंधों वा पांचों ज्ञानेन्द्रियों का बधकर (उनपर पूरा अधिकार जमाकर) तब तुम नलिनी वन में प्रवेश करना। यह जान लो कि चित्त की जाग्रत् अवस्था ही प्रभात है और उसका नाश रात की दशा है इस कारण उन पांचों का मांस लिये बिना तुम नलिनी वन में (सहजावस्था में) प्रवेश करने की चेष्टा न करना। मैंने सर्वप्रथम माया जाल को दूरकर के ही माया हरिणी का बध किया था और किसका रहस्य क्या है यह मैंने गुरूपदेश से जान पाया था।

कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत कहीं-कहीं ऐसा भी जान पड़ता है कि वहाँ इन्होंने गुरु गोरखनाथ के वाक्यांशों अथवा पंक्तियों, को केवल थोड़े ही फेरफार के साथ प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है और उन्हें अपनी अभिव्यक्ति का साधन बना डाला है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

---

१. 'चर्यापद' (कलिकाता) चर्या २३, पृ० १२२

(१) गुरु गोरखनाथ—

नींझर झरणैं अंमीरस पीवणां षट दल बेध्या जाइ।
चंद बिहूंणां चांदिणां तहां देष्या श्री गोरष राइ ॥[१]

कबीर साहब—

मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूंणां चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ॥[२]

(२) गुरु गोरखनाथ—

हिंदू आषैं रांम कौं मुसलमान षुदाइ।
जोगी आषैं अलष कौं, तहाँ राम अछै न षुदाइ ॥[३]

कबीर साहब—

हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुहू मैं कदे न जाइ ॥[४]

(३) गुरु गोरख नाथ—

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणीं।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया, बिरधि करै बिन पांणी ॥ टेक ॥
काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बेलि रुपांणी।
पुरिष पांणती करै धणियांणौं, नीकैं बालि घरि आंणीं ॥
मूल एढ्ढा जेढ्ढा ससिहर अवधू, पांन एढ्ढा जेढ्ढा भांण।
फल एढ्ढा जेढ्ढा पूनिम चंदा, जोउ जोउ जांण सुजांण ॥
वेलड़ियां दौं लागी अवधू, गगन पहूँती झाला!
जिम जिम बेली दाझबा लागी, तब मेल्है कूंपल डाला ॥
काटत बेली कूंपल मेल्ही सींचतड़ां कुमलाये।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या, नित नवेलड़ी थाये ॥[५]

---

१. 'गोरख बानी', सबदी १७१, पृ० ५८।
२. 'क० ग्रं', ६ साखी १२ पृ० १३
३. 'गो० बा०', सबदी ६६, पृ० २५
४. 'क० ग्रं०', साखी ७, पृ० ५४
५. 'गो० बा०', पद १७, पृ० १०६-८

कबीरसाहब—

रांम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथि जांणीं ।
नाति सरूप न छाया जाकै बिरध करै बिन पांणीं ।। टेक ।।
बेलड़िया द्वै अणीं पहूंती, गगन पहूंती सैली ।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ।।
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुर बाही बेली ।
पंच सखी मिलि पंवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही ।।
काटत बेली कूपले मेल्ही, सींचताड़ीं कुमिलाणीं ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाणीं ।।[1]

(४) गुरु गोरख नाथ—

ग्यांन गुरू दोऊ तूंवा अम्हारै, मनसा चेतनि डांडी ।
उनमनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्नां षांडी ।।[2]

कबीर साहब—

चंद सूर दोइ तूंबा करिहूं, चित चेतनि की डांडी ।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि विधि त्रिष्णां षांडी ।।[3]

(५) गुरु गोरख नाथ—

अवधू यो मन जातहै, याही तै सब जांणि ।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं, उलटि अपूठौ आंणि ।।[4]

कबीर साहब—

मन कै मतै न चालियै, छाडि जीव की बांणि ।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि ।।[5]

उपर्युक्त पांचों उदाहरणों में से (१) एवं (४) वाले अवतरणों के अंतर्गत प्रायः एक ही दशा का वर्णन पृथक्-पृथक् किया गया है और वहाँ कबीर साहब का कथन अधिक पूर्ण एवं स्पष्ट जान पड़ता है, किंतु (२) वाले अवतरणों में प्रायः एक ही तत्त्व का वर्णन करते समय भी गुरुगोरखनाथ अधिक सफल हैं ।

---

१. 'क० ग्रं०', पद १६३, पृ० १४२
२. 'गो० बा०', पद १६, पृ० १०६
३, 'क० ग्रं०', पद १८६, पृ० १५४
४. 'गो० बा०', सबदी २३४, पृ० ७४
५. 'क० ग्रं०', सा० १, पृ० २८

इसी प्रकार (५) वाले अवतरणों द्वारा दिये गए उपदेशों में न केवल दृष्टांत विषयक अंतर है, अपितु कबीर साहब की शैली भी यहाँ सरलतर है। उदाहरण (३) वाले उद्धृत पदों के रचयिताओं ने क्रमशः 'तत्व' एवं 'रामगुन' की बेलों के वर्णन कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं। गुरु गोरखनाथ का कहना है कि तत्व की बेल शरीर कुंज के भीतर अवस्थित वाटिका में सद्‌गुरु द्वारा रोपी गई है जिसकी सिंचाई पुरुष (पवन) किसान किया करता है और वही उसके सुंदर फल भी अपने घर लाया करता है। उसका मूल ऊपर (सहस्रार में) है और उसके पत्रादि नीचे की ओर विस्तृत हैं। इस बेल में जिस समय भव की आग लगती है और उसकी ज्वाला ऊपर तक पहुँचती है उस समय जैसे-जैसे इसे आँच लगती है इसकी शाखाएँ कोंपलें देती जाती हैं (सारांश यह कि तृष्णादि की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की उलझनें भी बढ़ती चली जाती हैं)। यह बेल काटने पर भी कोंपलें देती है, किंतु सींचने पर कुम्हलाने लगती है जिस कारण यह सदा नवीन बनी रहती है। किसी व्यक्ति में नष्ट होकर भी जगत् में ज्यों की त्यों बनी रहती है। कबीर साहब के अनुसार 'रामगुन' की बेल से दो कनखे (चित्तत्व एवं पार्थिव तत्वों के रूप में) हैं और उसकी सैली (सीमा ?) आकाश तक पहुँचती है। जब यह सहज बेल फूलने को होती है तो इसकी डालें कूंपलें देने लगती हैं। जिस समय मन रूपी हाथी उक्त वाटिका में जाकर ठहरा उस समय सद्‌गुरु ने इसे उसके लिए रोप दिया, पाँचों सखियों के साथ पवन इसे सींचने लगा और वाटिका में भी जल जाने लगा। यह बेल काटने समय कूंपले देती है तथा सींचते समय कुम्हिलाने लग जाती है और इसे कोई बिरला ही समझ पाता है। कबीर साहब की रचना यहाँ कुछ अव्यवस्थित सी जान पड़ती है और इसके भावों की अभिव्यक्ति में भी सुसंगति का अभाव प्रतीत होता है।

कबीर साहब की रचनाओं के कई अंशों का साम्य, इसी प्रकार, जैन मुनियों की कृतियों के साथ भी प्रदर्शित किया जा सकता है। जैन मुनि रामसिंह (विक्रम की ११वीं शताब्दी) की रचना 'पाहुड़ दोहा' का एक पद्य इस प्रकार है—

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु।
णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु॥[१]

अर्थात् जिन कहते हैं वंदना करो! वंदना करो! किंतु, यदि अपने शरीर के

---

१. 'पाहुड़ दोहा' (कारंजा जैन सीरिज़), दोहा ४१ पृ० १४। दे० दोहा १४१ पृ० ४२ भी

भीतर निवास करने वाले को ही तत्वतः जान लिया तो, भला किसकी वंदना की जाय ? कबीर साहब ने इसी भाव को अपनी एक साखी द्वारा व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहा है—

मेरा मन सुमिरै रामकूं, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥[1]

अर्थात् मेरा मन राम का स्मरण करते-करते स्वयं रामस्वरूप हो गया है, अब भला, मैं किसके आगे अपना शिर झुकाऊँ ? इन दोनों पद्यों के भावों में प्रधान अंतर यह है कि पहले का कवि जहाँ ज्ञान योग द्वारा अनुप्राणित है वहाँ दूसरे वाले को प्रेमाभक्ति की साधना प्रेरित कर रही है। यह अंतर इन कवियों के एक-एक अन्य पद्यों की तुलना करने पर और भी स्पष्ट हो जाता है। जैसे, मुनिराम सिंह कहते हैं—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउण अंगहि अंगु ॥[2]

अर्थात् मैं सगुण हूँ, किंतु मेरा प्रियतम निर्लक्षण और निःसंग है जिससे एक ही अंग अथवा कोष्टक में रहते हुए भी मैं उनसे अपना अंग न मिला सकी। कबीर साहब ने, इस भाव को भी अपने ढंग से व्यक्त करते हुए, अपनी एक साखी में कहा है—

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ ॥[3]

अर्थात् जिसके लिए मैं भूलती भटकती फिरी वही जब मेरे समक्ष उपस्थित हो गया तो मैं उसके चरण तक न छू सकी क्योंकि वह जहाँ निर्मल था वहाँ मैं मैली-कुचैली थी और मुझे इस बात का साहस न हो सका कि उसका स्पर्श तक कर सकूँ। कबीर साहब की शैली यहाँ अत्यंत सरस और सजीव हो गई है। मुनिराम सिंह का एक और भी दोहा दिया जा सकता है जिसके सदृश भाव वाली कबीर साहब की साखी में उनकी तर्कपटुता लक्षित होती है। जैसे,

मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥[4]

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', साखी ८, पृ० ५

२. 'पा० दो०', दो० १००, पृ० ३० ३. 'क० ग्रं०', सा० ३६, पृ० १६

४. 'पा० दो०', दो० १३५, पृ० ४०

अर्थात् अरे शिर मुंडाने वालों का सर्दार ! तूने शिर तो मुंड़ा लिया किंतु अपने चित्त को नहीं मूँड़ा; जिस किसी ने चित्त को मूँड़ा उसने संसार का भी खंडन किया। इस पद्य में जो बात कही गई है उसी को कबीर साहब ने एक दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है और कहा है—

केसों कहा बिगाड़िया, जे मूंडे सौ वार।
मन कौं कहा न मूंडिए, जामैं बिषै विकार॥[1]

अर्थात् तुम्हारे शिर के बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो उन्हें सैकड़ों बार मुंवड़ाते रहते हो, अपने मन को क्यों नहीं मूँड़ते (वश में करते) जो सांसारिक विषयों के अनेक विकारों से भरा हुआ है और जिसका मलिन होना ही सारे अनर्थों की जड़ है।

इसी प्रकार एक अन्य जैनमुनि योगीन्दु (विक्रम की ११वीं शताब्दी) के भी एक पद्य का भाव कबीर साहब की एक साखी के भाव के समान जान पड़ता है, योगीन्दु ने अपने 'योगसार' नामक ग्रंथ में एक स्थल पर योग साधना का मर्म बतलाते हुए कहा है—

जेहइ मण विसयह रमइ, तिमि जइ अप्प मुणेइ।
जोइ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ॥[2]

अर्थात् योगीन्दु कहता है कि हे योगियो ! जिस प्रकार मन सांसारिक विषयों में रमा करता है वैसे यदि आत्मतत्त्व में रम जाय तो निर्वाण बहुत शीघ्र मिल जाय। कबीर साहब ने इसी बात को एक भक्त के रूप में कहा है और अपनी एक साखी द्वारा बतलाया है—

जैसें माया मन रमैं, यूं जे राम रमाइ।
तारामंडल छाड़ि करि, जहाँ केसो तहाँ जाइ॥[3]

अर्थात् जिस प्रकार हमारा मन माया में रमा करता है वैसे यदि 'राम' में लीन हो जाय तो वह भवचक्र से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर ले। निर्वाण का उपलब्ध करना और भवचक्र से मुक्त हो जाना वस्तुतः एक ही बात है, किंतु "केशव के निकट' जाने का उल्लेख कर कबीर साहब ने उसे मार्जित कर दिया है कबीर साहब की कुछ पंक्तियों की तुलना एक दूसरे प्रकार के जैन कवि सोमप्रभ-

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', साखी १२, पृ० ४६
२. 'हिंदी काव्यधारा', (किताबमहल, इलाहाबाद) पृष्ठ २४१ पर उद्धृत
३. 'क० ग्रं०', साखी २४, पृ० ६

सूरि (विक्रम की १३वीं शताब्दी) द्वारा संगृहीत एक दोहे से भी की जा सकती है इस कवि ने अपनी रचना 'कुमारपाल प्रतिबोध' में अपने समय तक प्रचलित कई पद्यों के अवतरण दिये हैं जिनमें से एक इस प्रकार है—

पिय, हउं थक्किय सयलु दिणु, तुह बिरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय, तल्लोविल्लि करंत॥[1]

अर्थात् हे प्रियतम! मैं तेरी विरहाग्नि में सारा दिन बेचैन रही, मेरी दशा उस मछली के समान थी जो थोड़े से जल में तड़फड़ाती रह जाती है। कबीर साहब ने भी अपने विरह का वर्णन करते समय लगभग इन्हीं शब्दों में अपने भावों को व्यक्त किया है और कहा है—

बोछै जलि जैसैं मछिका, उदर न भरई नीर।
त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन तालाबेली कबीर॥[2]

अर्थात् हे केशव! मैं तेरे विरह में इस प्रकार तड़प रहा हूँ जैसे छिछले जल में पड़ी हुई किसी मछली को, पानी से उदर न भर सकने के कारण, तालाबेली लग जाया करती है।

इन पंक्तियों की तुलना करते समय हमें ढोला एवं मारू की प्रेम गाथा का भी स्मरण हो आता है जिसका वर्णन 'ढोला मारूरा दूहा' में किया गया है। इस रचना का कवि कोई कल्लोल नाम का व्यक्ति समझा जाता है और इसका निर्माण-काल सं० १४५० तक बतलाया जाता है। रचना राजस्थानी भाषा में की गई है, किन्तु इसके साथ 'कबीर ग्रंथावली' की तुलना करने पर जान पड़ता है कि दोनों के अनेक स्थलों पर विचित्र प्रकार का साम्य है 'ढोलामारूरा दूहा' के सम्पादकों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण 'प्रस्तावना' में इन दोनों रचनाओं के अनेक शब्दों, वाक्यांशों तथा वाक्यों तक का ज्यों का त्यों एक-सा होना बतलाया है और इनके भाव साम्य तथा भाषा साम्य की अधिकता के आधार पर कहा है कि एक का दूसरे पर प्रभाव अवश्य हो सकता है उन्होंने समानता वाले पद्यों तथा शब्दों को वहाँ प्रचुर मात्रा में उद्धृत भी किया है और यह बात कि "कबीर की भाषा राजस्थानी है" उन्होंने स्पष्ट कही है।[3] परंतु हम यहाँ पर इन दोनों रचनाओं

---

१. 'ढोला मारूरा दूहा' (ना० प्र० सभा), पृ० १४२ (प्रस्तावना) पर उद्धृत

२. 'क० ग्रं०', पद ११६, पृ० १२६

३. 'ढोला मारूरा दूहा' (प्रस्तावना) पृ० १६८-७७

में से केवल कुछ ही उदाहरण देंगे और केवल उन्हीं के आधार पर अपना परिणाम निकालने की चेष्टा करेंगे।

'ढोला मारूरा दूहा' में एक स्थल पर प्रेमिका मारवणी द्वारा इस प्रकार कहलाया गया है—

राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥[1]

अर्थात् रात के समय जो सारस पक्षी करुण स्वर में बोले तो उनके शब्दों द्वारा सारा सरोवर गूंज उठा; भला, जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई है उनकी क्या दशा होगी? कबीर साहब ने इस दोहे को केवल थोड़े से ही फेर-फार के साथ अपनी साखियों में स्थान दे दिया है। इनका कहना है—

अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पैं गोविंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥[2]

अर्थात् आकाश में उड़ते हुए कुंज पक्षी इस प्रकार करुण स्वर में बोल उठे कि सारा ताल उनकी चीत्कार-पूर्ण पुकार से भर गया। भला, जिनका वियोग अपने इष्ट गोविन्द से है उनकी क्या दशा होगी और वे किस आर्त्त स्वर के साथ उन्हें पुकारते होंगे? इन पंक्तियों में प्रेमी भक्त कबीर का हृदय विचलित हो उठा है और वह अपने प्रत्येक शब्द के माध्यम द्वारा अपना परिचय देता जान पड़ता है। इसी प्रकार 'ढोला मारूरा दूहा' के मारवणी-सन्देश का भी एक पद्य ऐसा है कि जिसे कबीर साहब ने प्रायः ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया है। मारवणी अपने सन्देश में इस प्रकार कहती है—

यहु तन जारी मसि करूँ, धूँआ जाइ सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, वरसि बुझावइ अग्गि ॥[3]

अर्थात् इस शरीर को मैं चाहती हूँ कि जलाकर भस्म कर दूँ और उसका धुआँ आकाश तक पहुँच जाय; मेरा प्रियतम बादल बन कर बरसे और मेरी आग बुझा दे। कबीर साहब ने इस दोहे के तृतीय-चरण को बदल कर उसकी जगह अपनी एक भक्तोचित पंक्ति मात्र लगा दी है और वे साखी में इस प्रकार कहते हैं—

---

१. 'ढोलामारूरा दूहा', (मूल पाठ) दूहा ५३, पृ० १७
२. 'कबीर ग्रंथावली,' साखी २, पृ० ७
३. 'ढोलामारूरा दूहा', दूहा १८१ पृ० ४४

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥[१]

जिससे जान पड़ता है कि वे अपने इष्ट देव को स्पष्ट शब्दों में बादल का रूप देना नहीं चाहते।

'ढोला मारूरा दूहा' के अन्तर्गत मारवणी के प्रेम का चित्रण करते हुए कहा गया है—

सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ लागी गलि रोइ।
डरपत पलक न खोलही, मतिहि बिछोहउ होइ॥

तथा, सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लागी धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ हुइ जाइ॥[२]

अर्थात् स्वप्न में मुझसे प्रियतम मिले और मैं रोती हुई उनके गले लग गई और डरती हुई मैंने पलकें नहीं खोलीं कि कहीं उनसे विछोह न हो जाय। स्वप्न में मुझसे प्रियतम मिले और मैं दौड़कर उनके गले लग गई और मैंने अपनी पलकें नहीं खोलीं कि वह मिलन कहीं स्वप्न ही न हो जाय। कबीर साहब ने अपनी एक साखी में संभवतः दूसरे दूहे का ही भाव रखा है और उसमें प्रियतम के स्थान पर अपने 'हरि' को ला दिया है। जैसे,

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंषि न मींचौं डरपता, मति सुपिनां ह्वै जाइ॥[३]

इस साखी में 'सूतां लिया जगाइ' से अभिप्राय यह जान पड़ता है कि हरि ने मिलते ही, उनके अज्ञान जन्य भ्रम को दूर कर, उन्हें सचेत कर दिया। मारवणी ने इस प्रकार का एक अन्य कथन अपने सन्देश में भी किया है और वहाँ उसने कहा है—

प्रीतम तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि।
हियड़ा भीतर प्रिय बसइ, दाझणती डरपाहि॥[४]

जिसे कबीर साहब ने, केवल थोड़े ही शब्दों के फेर-फार के साथ, इस प्रकार दे दिया है—

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', साखी ११, पृष्ठ ८
२. 'ढो० मा०', दू० दूहा ५०२ व ५०३ पृ०, १६६
३. 'क० ग्रं०', सा० ६, पृ० ७६
४. 'ढो० मा०', दू०, दूहा १६०, पृ० ४६

कबीर हरि का डर्पतां, ऊन्हां धान न खांउं।
हिरदा भीतरि हरि बसै, ताथै खरा उराउं ।।[१]

'ढोला मारूरा दूहा' के अंतर्गत प्रेम का वर्णन कहीं-कहीं पर दृष्टांतों द्वारा भी किया गया है और कबीर साहब की रचनाओं में ऐसे स्थलों का भी प्रभाव दीखता है। कभी-कभी वे ऐसे दोहों की सारी बातें अपना लेते जान पड़ते हैं, किंतु कुछ दोहों के दृष्टांतों तक में परिवर्तन कर लेते हैं। जैसे,

कमोदनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भावना, सो ताही कै पास ।।[२]

तथा अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ।।टेक।।[३]

को उन्होंने 'ढोला मारूरा दूहा' के क्रमशः निम्नलिखित दूहों के अनुसार निर्मित किया है—

जल मँहि बसइ कमोदणी, चंदउ बसइ अगासि।
ज्यउ ज्याँही कइ मनि बसइ, सउ त्यांही कइ पासि।।[४]

तथा अकथ कहाणी प्रेम की, किणसूँ कही न जाइ।
गूँगा का सुपना भया, सुमर सुमर पिछताइ ।।[५]

इनमें से दूसरे दूहे वाले 'गूँगे के अपने सुखद स्वप्न को स्मरण कर बार-बार पछताने' को उन्होंने उसके 'शक्कर खाकर उसके स्वाद में मग्न होकर बैठे-बैठे अपनी मुस्कराहट प्रदर्शित करने' में बदल दिया है जो कदाचित् पहले जैसा मार्मिक नहीं समझा जा सकता। परंतु कबीर साहब ने 'ढोला मारूरा दूहा' के एक दृष्टांत को नीचे लिखे ढंग से परिवर्त्तित कर अवश्य अधिक हृदयग्राही बना दिया है। जैसे,

तालि चरंती कुंझड़ी, सर संधियउ गँमार।
कोइक आखर मनि बस्यउ, ऊड़ी पंख समार ।।[६]

---

१. 'क० ग्रं०', सा० ७, पृ० ७६
२. वही, साखी १, पृ० ६७
३. वही, पद १५६ पृ० १३६
४. 'ढोला मारूरा दूहा', दूहा २०१, पृ० ६२
५. वही, दूहा १५६ पृ० ४६
६. वही, दूहा ६७ पृ० २१

अर्थात् सरोवर में विचरती हुई कुंझों को मारने के लिए किसी गँवार ने तीर संधाना तब तक उनके मन में कोई आंतरिक प्रेरणा जाग्रत हुई और वे अपने पंख सँवार कर वहाँ से उड़ गईं (यद्यपि उन्हें अपनी ओर आने वाले तीर का कुछ ध्यान भी न था)। कबीर साहब ने इसी बात को कहते समय अपनी एक साखी में कटी-कुटी तथा राँधने के लिए तैयार मछली का दृष्टांत दिया है और कहा है—

काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि।
कोइ एक अषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥[1]

अर्थात् मछली को काटकूट कर और सँभाल कर छींके पर रख दिया था किंतु उसके मन में न जाने क्या प्रेरणा हुई और वह फिर तालाब में जा पड़ी। कबीर साहब ने इस बात को ऐसे प्रसंग में कहा है जब मन की अविश्वनीयता का वर्णन कर रहे थे और जब वे यह कह चुके थे कि मन, पूर्णतः वश में लाया गया समझा जाने पर भी, कभी न कभी धोखा देकर हमें विषयों की ओर एक बार फिर ले जा सकता है। मन के माया की ओर इस प्रकार स्वभावतः उन्मुख होते रहने की बात कबीर साहब की एक 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत, रचना में भी इस प्रकार कही गई है जो एक दूहे के समान है—

कबीर चुगै चितारै भी चुगै चुगि चुगि चित्तारे।
जैसे वचं रहि कुंज मन माइआ ममतारे ॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार कुंझ दाने चुगती है, फिर अपने बच्चे को याद करती है और चुग-चुग कर उसी प्रकार याद करती रहती है वैसे ही मन भी, सदा, ममता के कारण, मायिक संबंधों की ओर बार-बार उन्मुख होता रहता है। इस 'सलोक' के समान 'ढोला मारूरा दूहा' का दूहा इस प्रकार है—

चुगइ, चितारइ, भी चुगइ, चुगि चुगि चित्तारेह।
कुरझी बच्चा मेल्हि कइ, दूरि थकाँ पालेह ॥[3]

इस दूहे की प्रथम पंक्ति कबीर साहब के उक्त 'सलोक' में ज्यों की त्यों आती है; इसकी केवल दूसरी पंक्ति भिन्न है जिसका आशय यह है कि 'कुंझ अपने बच्चों

---

१. 'क० ग्रं०', सा० २४ पृ० ३०

२. 'गुरु ग्रंथ साहिब', (गु० दि० सिं०, अमृतसर) सलोकु १२३ पृ० १३७१

३. 'ढोलामारूरादूहा', दूहा २०२, पृ० ६२

को छोड़कर (चुगने के लिए उनसे दूर जाने पर भी) उन्हें नहीं भूलती और उन्हें पालती सी रहती है।'

कबीर साहब ने अपनी कुछ रचनाओं में संत जयदेव तथा नामदेव के नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिये हैं[१] और ये दोनों उनके पूर्ववर्त्ती संतों में भी गिने जाते हैं जिस कारण इनकी कतिपय रचनाओं के भी साथ उनकी पंक्तियों का मेल खाना असंभव नहीं कहा जा सकता। परंतु संत जयदेव की पर्याप्त रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं और संत नामदेव की अनेक प्रकाशित रचनाओं को भी अंतिम प्रामाणिकता अभी तक नहीं दी जाती फिर भी हम यहाँ पर इन दोनों कवियों की कुछ उपलब्ध पंक्तियाँ देकर उनके सदृश कबीर साहब की भी रचनाएँ देने का प्रयत्न करेंगे। संत जयदेव कहते हैं

अरधिकउ अरधिआ, सरधिकउ सरधिआ,
सललिकउ सललि संमानि आइआ।[२]

अर्थात् मैंने आराध्य परमात्मा की आराधना की तथा श्रद्धेय परमात्मा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की और अपने मन जल को परमात्म जल में प्रवेश करा दिया। कबीर साहब ने संत जयदेव के इस कथन में से केवल मन के परमात्मा में मिल जाने के ही विषय में इस प्रकार कहा है—

ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांनां ॥[३]

अर्थात् जिस प्रकार जल में जल मिलकर नहीं निकलना चाहता वैसा ही मन ने भी किया इसी प्रकार संत नामदेव के पद में निम्नलिखित पंक्तियाँ आती हैं जिनकी तुलना कबीर साहब की वैसी पंक्तियों से की जा सकती है। संत नामदेव कहते हैं—

जह झिलि मिलि कारु दिसंता। तह अनहद बाज बजंता ॥
× × × ×
रतन कमल कोठरी। चमकार बीजुल तही ॥
नेरै नाही दूरि। निज आतमै रहिआ भरपूरि ॥[४]

---

१. 'क० ग्रं०', पद ३८७, पृ० २१६
२. 'गुरु ग्रंथ साहिब', पद १ पृ० ११०४
३. 'क० ग्रं०', पद २१२, पृ० १८७
४. 'गुरुग्रंथ साहिब', (गु० द्वि० सिं०, अमृतसर), रागुसोरठि १, पृ० ६५६

अर्थात् जहाँ पर ज्योतियों की झिलमिलाहट है और अनाहत नाद बज रहा है वहाँ 'रतनकमल' की कोठरी में बिजली चमका करती है। वह दूर नहीं है बहुत निकट है और वहाँ सर्वत्र आत्मतत्त्व द्वारा भरपूर रहा करता है। कबीर साहब ने लगभग इसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन वरषिहै, तहां भीजत हैं सब संत रे ॥[1]

अर्थात् हमें अपना अभीष्ट वहाँ उपलब्ध करना है जहाँ शून्य गगन में हमें अनाहत का नाद सुन पड़ता है, जहाँ अनंत तारों की झिलमिलाहट रहती है और जहाँ पर बिजली की चमक के साथ-साथ निरंतर वर्षा होती रहती है और उसमें सभी संत सराबोर होते रहते हैं। संत नामदेव जहाँ उस स्थिति का केवल एक साधारण परिचय देते जान पड़ते हैं वहाँ कबीर साहब ने उसका एक अत्यंत आकर्षक और हृदयग्राही चित्र भी खींच दिया है।

कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत हमें अनेक औपनिषदिक सिद्धांतों तथा योग-साधनाओं के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं और बहुत सी ऐसी बातें भी मिलती हैं जिनका बौद्धों एवं नाथों के विविध सिद्धांतों तथा सूफ़ियों की प्रेम-साधना के भी साथ संबंध जान पड़ता है। किंतु इस प्रकार की बातें, उनके अपने किसी गुरु अथवा किन्हीं गुरुओं द्वारा दीक्षित किये जाने पर भी, उन्हें विदित हो सकती थीं। अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की विभिन्न रचनाओं का ठीक-ठीक आशय ग्रहण करना तथा उनके आदर्श पर स्वयं अपनी भी रचनाएं निर्मित करना विरले ही अशिक्षितों के लिए संभव कहा जा सकता है। कबीर साहब को हम इस विचार से एक असाधारण प्रतिभा वाला व्यक्ति कह सकते हैं। कबीर साहब को देशाटन एवं सत्संग में बड़ी रुचि थी और वे एक विलक्षण सारग्राही पुरुष भी थे, इस कारण उनके लिए सुंदर एवं महत्त्वपूर्ण पंक्तियों को मौखिक रूप में भी ग्रहण कर लेना कठिन नहीं था। ऊपर दिये गए कतिपय उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी उपलब्ध सामग्री का सदुपयोग अच्छे ढंग से किया है। कई स्थलों पर उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की उक्तियों में सुधार भी किया है, किंतु फिर भी वे इनके लिए उनके आभारी ही कहे जा सकते हैं।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ४, पृ० ८८।

कबीर साहब और विभिन्न धार्मिक मत

कबीर साहब का आविर्भाव विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय भारत में अनेक मत-मतांतर प्रचलित थे और विभिन्न संप्रदायों के जटिल विधानों तथा उनके अनुयायियों के परस्पर-विरोधी आचरणों की अंधाधुंध में वास्तिविक धर्म का रहस्य जानना कठिन हो रहा था। फलतः, केवल बाहरी बातों में ही सदा व्यस्त रहने के कारण, एक दूसरे को मनुष्य होने के नाते भी भाई स्वीकार करना भूल जाता था। सभी अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाना चाहते थे और अपने सांप्रदायिक नियमों के सामने दूसरों की ओर दृष्टिपात तक नहीं करते थे। दंभ, पाषंड और अहंकार का प्रायः सर्वत्र बोलबाला था और धर्म वस्तुतः व्यक्तिगत आध्यात्मिक कल्याण का एक प्रमुख साधन होने के स्थान पर पथभ्रष्टता तथा सामाजिक विशृंखलता का एक बहुत बड़ा कारण बन गया था। कबीर साहब ने इस प्रकार की धार्मिक परिस्थिति को उस काल के व्यक्तिगत पतन एवं सामाजिक अधोगति का मूल सूचक माना और उसकी खरी आलोचना कर उसे उन्होंने सुधारने की भी चेष्टा की। उनकी रचनाओं के अंतर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उन्होंने इस दुर्दशा की ओर संकेत किया है तथा जहाँ विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों के विचित्र आचरणों का वर्णन कर उन्हें उन्होंने अनुचित एवं निरर्थक भी ठहराने का प्रयत्न किया है। वे वहाँ उनके शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हैं, उन पर अपनी टीका-टिप्पणी देते हैं तथा कभी-कभी वैसे व्यक्तियों के लिये कोई न कोई सुंदर आदर्श भी उपस्थित करने लग जाते हैं।

कबीर साहब के समय में प्रचलित मतों की संख्या केवल उत्तरी भारत में भी बहुत बड़ी रही होगी, क्योंकि उस समय तक प्रायः प्रत्येक धर्म के अंतर्गत अनेक छोटे-बड़े संप्रदाय बन गए थे, जो अपने को एक दूसरे से भिन्न समझा करते थे। कबीर साहब ने अपने एक पद में बतलाया है कि जहाँ-कहीं भी जाँच-पड़ताल करके देखिये, ऐसा कोई भी नहीं दिखाई पड़ता जो 'हरि' के वास्तविक रहस्य से परिचित हो; 'छह दरसन' और 'छयानवे पाषंड' इसके लिए सदा व्यग्र जान पड़ते हैं, किंतु वे भी अज्ञान के गर्त में हैं। जैसे,

आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यानवै पाषंड, आकुल किनहूँ न जाना ॥[1]

यहाँ 'छह दरसन' से कबीर साहब का अभिप्राय उन षड्दर्शनों से नहीं जान पड़ता जो न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा अथवा वेदांत के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनका प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन बतलाया जाता है। 'दरसन' शब्द का अर्थ यहाँ कदाचित् कोई 'भेष' वा संप्रदाय है जिसे प्रधानतः छः कहने की परंपरा कबीर साहब के पीछे तक चली आई है। उदाहरण के लिये संत दादूदयाल (सं० १६०१-१६६०) ने 'भेष कौ अंग' की अपनी एक साखी में इसका प्रयोग संभवतः इसी अर्थ में किया है और छः दरसनों के नाम भी दिए हैं। वे कहते हैं—

जोगी जंगम सेवड़े, बोध संन्यासी सेष।
षट् दर्सन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष ॥३२॥[2]

जिसे प्रसिद्ध कबीरपंथी रामरहसदास (सं० १७८२-१८६६) ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी बतलाया है—

योगी, जंगम, शेवडा, संन्यासी दरवेश।
छठवां कहिये ब्राह्मणहि, छौ घर छौ उपदेश ॥[3]

इसके सिवा स्वयं कबीर साहब भी 'षट् दरसन' का तात्पर्य अन्यत्र यही समझते जान पड़ते हैं[4] और उक्त 'छह दरसन' की ही भाँति 'छ्यानबे पाषंड' का भी विवरण इस प्रकार दे दिया जाता है—

दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेख बखान।
अठारह ब्राह्मण अठारह जंगम,, चुविश शेवड़ा जान ॥[5]

जिसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि उक्त छहों दर्शनों अथवा संप्रदायों के अंतर्गत अनेक उपसंप्रदाय भी प्रचलित रहे होंगे।

परन्तु उपर्युक्त 'जोगी', 'जंगम' आदि शब्द किन्हीं स्वतन्त्र प्रमुख धर्मों

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पद ३४, पृ० ९९

२. 'श्री दादूयाल जी की वाणी' (जयपुर), पृ० २८७

३. 'बीजक', (शिशुबोधिनी टीका, बांकीपुर, द्वितीय प्रकरण), पृ० १९ पर उद्धृत।

४. 'कबीर-ग्रंथावली', साखी ११ पृ० ५४ और रमैणी पृ० २४०

५. 'बीजक', पृ० १९ पर उद्धृत।

के सूचक न होकर उनकी ओर केवल निर्देशमात्र करनेवाले भी समझे जा सकते हैं। जैसे, 'जोगी' से नाथपंथ, 'जंगम' से शैव संप्रदाय, 'शेवड़ा' से जैन धर्म, 'संन्यासी' से बौद्ध धर्म, 'दरवेश' से इस्लाम एवं 'ब्राह्मण' से हिंदू धर्म की ओर इंगित किया गया भी माना जा सकता है और यह बात स्वयं कबीर साहब की रचनाओं द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। संत दादूदयाल वाली उपर्युक्त साखी के 'बोध' शब्द का पाठांतर अन्यत्र 'बुध' भी मिलता है[१] जो, 'पंडित' का वाचक होने के कारण, ब्राह्मण-धर्म को सूचित कर सकता है। इस प्रकार कबीर साहब के 'छयानवै पाषंड' का भी तात्पर्य इन धर्मों के छोटे-छोटे संप्रदायों वा उपसंप्रदायों से ही रहा होगा।[२] यों तो उनके ऐसे संख्यावाचक शब्दों के प्रयोगों द्वारा हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि ऐसा उन्होंने प्रचलित संप्रदायों की केवल 'अनेकता' अथवा 'विविधता' सूचित करने के लिए भी किया होगा और उनका अभिप्राय उनकी किसी निश्चित संख्या का प्रदर्शन मात्र न होगा। फिर भी इतिहास से पता चलता है कि कबीर साहब के समय में उत्तरी भारत में हिंदू धर्म के वैष्णव संप्रदाय, शैव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय, स्मार्त्त धर्म, नाथपंथ आदि प्रधान रूप में प्रचलित थे और इसी प्रकार जैन-धर्म एवं इस्लाम का भी प्रचार था और इनमें से प्रायः प्रत्येक में अनेक वर्ग वा फिरके बन गए थे। इन सभी के अनुयायियों के आचरण, वेशभूषा, साधना अथवा पूजा-पद्धतियों में अंतर प्रतीत होता था और ये अपने को भिन्न-भिन्न भी समझते थे।

कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत एकाध स्थलों पर हिंदू धर्म एवं इस्लाम की कुछ बातों में अंतर दिखलाया है और कहा है कि वे न तो मौलिक हैं और न किन्हीं व्यापक सिद्धान्तों पर ही आश्रित हैं, किन्तु उन्हीं बाह्य भेदों के कारण दोनों अनुयायियों में वैमनस्य दिखाई पड़ता है। यदि हिंदू धर्म के अनुयायी देवों तथा द्विजों की पूजा करते हैं, पूर्व दिशा को महत्त्व देते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और एकादशी का व्रत रखते हैं तो इस्लाम धर्म वाले इसके विपरीत काजी, मुल्ला, पीर और पैगम्बर को मानते हैं, रोजा रखते हैं और

१. 'श्री स्वामी दादूदयाल की वाणी, (अजमेर संस्करण), साखी ४७, पृ० २३६

२ In this country of Mid-India there are ninety-six heretical sects, all of whom allow the reality Of worldly phenomena". SI-YU-KI : Buddhist Records of The Western World, Vol. I. P. XLVIII Trans. by Samuel Beal. London 1884.

पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ा करते हैं। इसी प्रकार यदि हिंदुओं की उपासना के लिये कोई मन्दिर पवित्र स्थान माना जाता है तो मुस्लिम अपनी मस्जिदों में जाकर उपासना करते हैं।[1] इन दोनों में से कदाचित् किसी को भी पता नहीं कि यदि अल्लाह मस्जिद में ही निवास करता है और भगवान् का स्थान मंदिर मात्र है तो अन्य स्थल किसके हैं ? इसी प्रकार ब्राह्मण चौबीस एकादशी का व्रत रखते हैं और काजी रमजान के[2] पूरे एक मास तक रोजा रहते हैं, किंतु ये दोनों शेष ग्यारह महीनों को क्या बचा देते हैं ? इसके सिवा दोनों क्रमशः वेद एवं कोरान को पृथक्-पृथक् अपना धर्मग्रंथ मानकर उनपर आस्था रखते हैं और यज्ञोपवीत एवं सुन्नत के कृत्रिम संस्कार भी करते हैं।[3] इन दोनों प्रकार के धर्मावलम्बियों में व्यर्थ का भेद है और दोनों का, केवल ऐसी ही बातों के आधार पर, एक दूसरे के प्रति, घृणा प्रदर्शित करना निरी मूर्खता है। अतएव कबीर साहब ने इन दोनों धर्मों की प्रचलित मान्यताओं तथा पूजा-पद्धतियों की आलोचना पृथक्-पृथक् भी की है और उन्हें चेतावनी दी है।

कबीर साहब के समय में हिंदू धर्म के अन्तर्गत अनेक प्रकार की साधनाएँ दिखाई पड़ती थीं जिन्हें प्रयोग में लाने वाले अपनी-अपनी धुन में ही मस्त जान पड़ते थे और जिनमें से किसी एक के लिए दूसरे की ओर सद्भाव प्रदर्शित करना कदाचित् आवश्यक भी नहीं समझा जाता था। कबीर साहब ने इनमें से कई-एक का परिचय दिया है और उनके विचित्र आचरणों तथा उपासनाओं का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—

इक जंगम इक जटाधार, इक अंग विभूति करै अपार ॥
इक मुनियर इक मन हूं लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन ॥
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव ॥
इक कुल देव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिबिध ताप ॥
अंनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, इत्यादि।[4]

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली,' पद ५८, पृ० १०६

२. 'गुरु ग्रंथ साहिब जी', (भाई गुरदिआल सिंघ, अमृतसर), रागु प्रभाती पद २, पृ० १३४८

३. 'कबीर ग्रंथावली', अष्टपदी रमैंणी पृ० २३८-९

४. वही, पद ३८०, पृ० २१४

इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ॥
इक जोग जुगति तन हूंहिं खीन, ऐसौं राम नाम संगि रहैं न लीन ॥
इक हूंहिं दीन इक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पान ॥
इक तंत मंत ओषद बान, इक सकल सिध राखैं अपान ॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसैं रामनाम सं करैं न प्रीति ॥
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यांम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम ॥[१]
पंडित जन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि धियान ॥
संन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव ॥
सब मद माते कोऊ न जाग, संग ही चोर घर मुसन लाग ॥[२]

सारांश यह कि कबीर साहब के जीवन-काल में प्रत्येक हिंदू साधक, चाहे उसका संबंध शैव संप्रदाय से रहा हो अथवा शाक्त संप्रदाय से, चाहे वह आचारी रहा हो अथवा उदासी, जैन हो या नाथपंथी अथवा तांत्रिक, वह सदा मतवाले की भाँति अपने-आप में मग्न रहा करता था और उसे यह भी पता न था कि मेरे घर में चोर लगा हुआ है। कबीर साहब ने ऐसे लोगों को निद्रितावस्था में पड़ा-सा माना है और उन्हें जगाने तथा सचेत करने का प्रयत्न किया है।

कबीर साहब ने हिंदू धर्म संबंधी पौराणिक सिद्धांतों के आधारभूत ग्रंथ वेदचतुष्टय तथा स्मृति आदि की भी चर्चा की है और उन्हें भ्रमात्मक ठहराया है। वे कहते हैं कि चारों वेदों के मतों का निर्णय करते-करते संसार धोखे में पड़ जाता है और श्रुति-स्मृति पर की गई आस्था उन्हें बंधन में डाल देती है।[३] स्मृति तो वेद की पुत्री ही है और वह सभी को बाँधने के लिये साँकल एवं रस्सी लिए पहुँच जाती है।[४] ये धर्मग्रंथ सच्चे मार्गप्रदर्शक नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार धर्म-शास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत की गई वर्ण-व्यवस्था भी उनके अनुसार स्वाभाविक नहीं। उनका कहना है कि यदि सृष्टिकर्ता को वर्ण-व्यवस्था स्वीकृत थी तो उसने ब्राह्मणों की पहिचान के लिए उनके ललाट पर कोई तिलक का चिह्न क्यों न बना दिया ? उनके जन्म का भी कोई दूसरा उपाय क्यों न किया,

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ३८१, पृ० २१६
२. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु वसंतु पद २, पृ० ११९३
३. 'कबीर-ग्रंथावली,' पद ४७, पृ० १०३
४. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु गउड़ी पद २०, पृ० ३२९

जिससे वे शूद्रादि से स्वभावतः भिन्न समझ लिए जाते।[1] कबीर साहब ने इस संबंध में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की तत्कालीन दुरवस्था की ओर भी विशेष ध्यान दिलाया है और कहा है कि ब्राह्मण लोग जहाँ वेदादि के केवल अध्ययन मात्र में भूले रहते अथवा संध्या, तर्पण, षट्कर्म आदि के झमेले में पड़े रहते हैं और उनके वास्तविक रहस्यों को नहीं जान पाते, वहाँ क्षत्रिय भी क्षत्रियोचित कर्मों की उपेक्षा करते हुए जीवों की निरर्थक हत्या किया करते हैं और जीव-रक्षा का नाम भी लिया करते हैं।[2] इसके सिवा कबीर साहब उन शास्त्रविहित नियमों की भी आलोचना करते हैं जिनके अनुसार अस्पृश्यता तथा अपवित्रता के भाव जाग्रत् होते हैं। उनका कहना है कि यदि जल में छूत है, स्थल में छूत है, जन्म में छूत है, मरण में छूत है तो फिर पवित्रता कहाँ रह जाती है? कुछ लोग अस्पृश्य समझ लिए जाते हैं और उनकी दृष्टि में, वाणी में और कामों तक में छूत की कल्पना कर ली जाती है; उनके साथ उठना-बैठना छूत माना जाता है और उनके कारण भोजन तक में छूत पहुँच जाती है, जिस कारण कर्म-बंधन में पड़ने के अनेक ढंग तैयार हो जाते हैं।[3] इस प्रकार विचार करने पर तो हम प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक व्यापार पर ही अपवित्रता का व्यर्थ आरोप कर सकते हैं।[4]

कबीर साहब ने हिंदुओं के अवतारवाद संबंधी मत को भी निराधार बतलाया है और उनकी मूर्ति-पूजा की व्यर्थता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कृष्णावतार के संबंध में वे कहते हैं कि यदि कृष्ण को नंद-नंदन कहा जाता है तो फिर नंद को भी तो किसी का नंदन (पुत्र) होना चाहिए? ये नंद सृष्टि के आदि में कहाँ थे? और यदि ये उस समय वर्तमान नहीं थे तो ये सृष्टिकर्ता परमात्मा के पिता कैसे कहे जा सकते हैं? ये नंद चौरासी योनियों में भ्रमण करने वाले जीव हैं।[5] वास्तव में परमात्मा ने न तो दशरथ के घर जन्म लिया और न उसने लंका के राजा की दुर्गति की। इसी प्रकार उसके अन्य अवतारों की कथाएँ भी अविश्वसनीय हैं।[6] वस्तुतः वह तो निरंजन है जिसकी मूर्ति का होना भी

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली,' पद ४१, पृ० १०१-२
२. 'वही,' अष्टपदी रमैणी, पृ० २३६
३. 'गुरु ग्रंथ साहिब,' रागु गउड़ी पद ४१, पृ० ३२१
४. 'क० ग्रं०,' पद २५१, पृ० २७३ ५. वही, पद ४८, पृ० १०३
६. 'वही', बारहपद रमैणी, पृ० २४२

तर्कसंगत नहीं। फिर भी हिंदू लोग मंदिरों में जाकर उसके सामने अपना सिर पटकते हैं, उसे भोग लगाते हैं तथा द्वार पर खड़े होकर उसे पुकारते हैं।[1] मूर्ति-पूजा के उद्देश्य से पत्रादि तोड़े जाते हैं और यह विचार नहीं किया जाता कि जहाँ उन पत्तियों में जीवन है वहाँ उन निर्जीव पत्थर की मूर्ति को गढ़ते समय कभी उसके ऊपर पैर रखे गए होंगे तथा वह पूजन की किसी भी सामग्री को अपने उपभोग में नहीं ला सकती।[2]

कबीर साहब ने इसी प्रकार हिंदुओं के, उपवास करने के उद्देश्य से अन्न छोड़ने को 'पाखंड' की संज्ञा दी है[3] और उनके माला फेरने अथवा अंगुलियों के भी सहारे जप करने को निरर्थक बतलाकर अपने मन की ओर अधिक ध्यान देने का परामर्श दिया है।[4] ये उनके पवित्र माने जानेवाले प्रसिद्ध तीर्थों को भी महत्त्व देते और यहाँ तक कहते हैं कि वास्तविक तीर्थस्थल तो हमारे घट के ही भीतर हैं। भगवान् हमारे हृदय में सदा निवास करता है, और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारा अपना मन ही मथुरा है तथा हमारी काया भी काशी से कम नहीं है।[5] उनका कहना है कि यदि उक्त प्रकार से तीर्थस्थानों में स्नान करना वस्तुतः महत्त्व रखता है तो वहाँ के जल में सदा निवास करनेवाले मेंढक आदि भी मुक्त हो सकते हैं।[6] सच तो यह है कि किसी कड़ुई लौकी को यदि 'अठसठि तीर्थों' के जल में डाला जाय तो भी उसका कड़ुवापन नहीं जायगा।[7] कबीर साहब हिंदू लोगों के मृतकों की दाह-क्रिया तथा उनके निमित्त किए जानेवाले श्राद्ध-कर्म को भी निरर्थक एवं केवल ढोंग मात्र बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'दाहकर्म' द्वारा मृतक के शरीर को जला देते हैं और जिस पिता के प्रति उसके जीते-जी कभी श्रद्धा प्रदर्शित न की होगी उसकी श्राद्धक्रिया करते हैं। श्राद्ध द्वारा भी मृतक बेचारे को निर्जीव हो जाने के कारण कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता और इधर उसके लिए दिए गए पिंडदान को कौए और कुत्ते खा जाते हैं। जिस पिता को जीते-जी डंडे से मारते रहे और जिसे खाने को अन्न नहीं देते थे, प्रत्युत

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद १३५, पृ० १३१ २. वही, पद १६८, पृ० १५५।
३. 'गुरु ग्रंथ साहिब,' रागु गौंड, पद ११
४. 'कबीर ग्रंथावली,' सा० १-१०, पृ० ४५-६
५- वही, सा० १०-११, पृ० ४४
६. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु आसा, पद ३७, पृ० ४८४
७, वही, रागु सोरठि, पद ८, पृ० ६५५

गाली तक सुना देते थे, उसे मर जाने पर गंगालाभ कराने अथवा पिंड देने से क्या लाभ ?'[1]

कबीर साहब हिंदुओं के वैष्णव संप्रदाय को कदाचित् कुछ विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे[2] और उसकी प्रशंसा भी खुले शब्दो में किया करते थे। परंतु फिर भी उनमें प्रचलित बुराइयों अथवा उनकी त्रुटियों की आलोचना करने से वे नहीं चूकते थे। वे उनके 'भेष-धारण' की व्यर्थता बतलाते हुए कहते थे कि सच्चा वैष्णव केवल छापा एवं तिलक से नहीं बन सकता। उसे अपने आचरण से वैष्णव होना चाहिए। वैष्णव को विवेक से काम लेना चाहिए, प्रपंच में नहीं पड़ना चाहिए और अहंकार का परित्याग करके भगवद्भक्ति करनी चाहिए।[3] वैष्णवजन साधारणतः केवल भक्तिपरक पदों के भजन गाते फिरते हैं और अंधों की भाँति सिर ऊपर किए हुए कीर्तन करते हैं, जो सब दिखावा मात्र है।[4] इन वैष्णवों की बैकुंठ-विषयक कल्पना भी निराधार है।[5] इसी प्रकार वे हिंदुओं के शैव एवं शाक्त संप्रदायों की भी आलोचना करते हैं और उनके बाह्याडंबरों बिडंबनाओं को हेय ठहराते हैं। शैवों के भस्म धारण करने तथा जटा बढ़ाने आदि की चर्चा उन्होंने की है।[6] किंतु शाक्तों के प्रति तो उन्होंने विशेष रूप से घृणा प्रदर्शित की है और लोगों को परामर्श दिया है कि वे उनसे किसी प्रकार का संपर्क न रखें। उनकी दृष्टि में,

साषित सुनहां दोऊ भाई। वो नींदै वौ भौंकत जाई ॥[7]
साषत ते सूकर भला, सूचा राखे गाँव ॥[8]

और इन्हीं कारणों से वे वैष्णवों और शाक्तों में महान् अंतर का अनुभव करते हैं। वे कहते हैं—

वैश्नों की छपरी भली, न साषत का बड़ गांउ।[9]
साषत बांभण मति मिले, बैसनों मिले चँडाल ॥[10]

१. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु गौड़ी, पद ४५, पृ० ३३२ तथा क० ग्रं०, पद ३५६ पृ० २०७
२. वही, साखी १, ७, ६, पृ० ५२-३
३. वही, सा० १६ पृ० ४६
४. वही, सा० ४०५, पृ० ३६८
५ वही, पद २४, पृ० ६६
६. वही, पन २७६ पृ० १८३, पद ३००, पृ० १६०, रमैंणी रागु सूहौ, पृ० २२३
७. 'कबीर ग्रंथावली' पद २२१, पृ० १६३
८. वही, सा० १५ (टि०), पृ० ३६
९. वही, सा० १, पृ० ५२
१०. वही, सा० ६, पृ० ५३

इन शाक्तों के प्रति इतनी दुर्भावना प्रदर्शित करने का कारण उन्हें उनका हिंसात्मक आचरण जान पड़ता है, क्योंकि वे अन्यत्र इस प्रकार भी कहते हैं—

पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ ।[1]
सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि ।[2]

कबीर साहब ने इसीलिए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

कबीर साषत की सभा, तूं मत बैठे जाइ ।
एकै बाडै क्यूं बडै, रोझ गदहड़ा गाई ॥[3]
साषत संगु न कीजियै, दूरहि जइये भागि ।
बासन कारो परसियै, तऊ कछु लागै दागु ॥[4]

वे हिंदुओं के कतिपय अन्य वर्गों के प्रति भी इसी प्रकार कुछ न कुछ कहते हैं । उदाहरणतः अतीतों को 'भेष' की आड़ में अपराध करनेवाले और वैरागियों को भी अपने कर्तव्य-पालन से चूकनेवाले ठहराते हैं ।[5]

कबीर साहब ने जितने विस्तार के साथ हिंदुओं के संप्रदाओं और उप-संप्रदायों की चर्चा की है उतने विस्तार से इस्लाम धर्म की नहीं । इस धर्म के अनुयायियों को उन्होंने अधिकतर 'तुर्क' नाम से अभिहित किया है और काजी, मुल्ला, शेख, दरवेश, आदि नामों द्वारा सूचित किया है । शेख को वे संतोष न रहते हुए भी हज की यात्रा करनेवाला बतलाते हैं और काजी को झूठी बंदगी और पाँच बार नमाज पढ़ कर सत्य को छिपानेवाला तथा मस्जिद पर चढ़कर एकेश्वरवाद का समर्थन करनेवाला, किन्तु साथ ही अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए छुरी लेकर गोहत्या करनेवाला भी ठहराते हैं । इसी प्रकार वे मुल्ला अथवा मौलवी को भी व्यर्थ का रोजा रखनेवाला और मीनार पर चढ़कर 'अजां' देनेवाला कहते हैं और बतलाते हैं कि ये दोनों ही भ्रम में पड़कर संसार के साथ चला करते हैं और अपने हाथों में छुरी लेते ही 'दीन' वा धर्म के वास्तविक उद्देश्य को विस्मृत कर देते हैं । इन लोगों की समझ में नहीं आता कि जिस माता का दूध हम दौड़कर पिया करते हैं उसको बध क्यों करना चाहिये । ये दूध भी पीते हैं और उसका मांस भी खाते हैं, किंतु फिर भी इन्हें अपने 'दीन' के

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० १२; पृ० ४३ २. वही, सा० १४ पृ० ४३
३. वही, सा० ६५ (टि०), पृ० २६
४. 'गुरु ग्रंथ साहिब', सलोकु १३१, पृ० १३७१
५. 'कबीर-ग्रंथावली', सा० १ पृ० ४१; सा० ६ पृ० ४७

अच्छे अनुयायी होने का सदा गर्व रहा करता है। ये 'अक़ल' नहीं रखते और भूलते-भटकते रहते हैं।[1]

बौद्ध धर्म के अनुयायियों का कबीर साहब ने, कदाचित्, केवल एक बार नाम लिया है और उन्हें भी शाक्तों, जैनों और चार्वाकों के साथ ही पाखंडी कहा है।[2] परंतु प्रसिद्ध चौरासी बौद्ध सिद्धों को वे संशय में पड़ा हुआ बतलाते हैं[3] और उन्हें अन्यत्र माया में रत रहनेवाला भी कहते हैं।[4] कबीर साहब की गुरु गोरखनाथ के प्रति बहुत बड़ी श्रद्धा जान पड़ती है, किंतु उनके अनुयायी योगियों को वे व्यर्थ के भ्रम में पड़कर 'डंडा, मुंद्रा, खिंथा' और 'आधारी' के भेष में रहनेवाला तथा आसन मारने और प्राणायाम करनेवाला कहते हैं।[5] उनका कहना है कि ये लोग मुंड मुड़ाकर और अपने कानों में 'मंजूसा' पहनकर तथा शरीर में विभूति लपेट कर 'फूले हुए' बैठे रहते हैं और भीतर ही भीतर इनकी हानि होती रहती है। ये लोग रात-दिन कायाशोधन में ही लगे रहते हैं और ध्यान में मग्न रहकर अपनी मस्ती प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के साधक चाहे अपने शरीर को योगी भले ही बना लें, पर मन को योगी नहीं बना सकते, जो वास्तव में बिरले लोगों द्वारा ही संभव है।[6] जैन धर्म के अनुयायियों का भी उल्लेख, कबीर साहब ने कई स्थलों पर किया है और श्रावकों, लुंचितों आदि के कार्यों की आलोचना की है। श्रावकों के विषय में कहते हैं कि वे अपने तीर्थंकरों की पूजा के लिये पत्र-पुष्प एकत्र करते हैं जिनमें अनेक जीवों को कष्ट पहुँचता है। इस हिंसात्मक कर्म के अतिरिक्त जैन धर्म के साधक वज्रोली मुद्रादि भी किया करते हैं जो पाखंड के सिवा कुछ नहीं है, और दिगंबरों का भेष भी इसी प्रकार का है।[7]

कबीर साहब का व्यक्तिगत अनुभव कदाचित् उनके लड़कपन से ही ऐसे ढंग का हो गया था जिसके कारण उनका झुकाव निरंतर विचार-स्वातंत्र्य

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० ११ पृ० ४३; सा० ५-७ पृ० ४२; अष्टपदी रमैणी, पृ० २३६

२. वही, अष्टपदी रमैणी, पृ० २४० ३. वही, सा० ११ पृ० ४४

४. 'गुरु ग्रंथ साहिब', राग भैरउ १३, पृ० ११६१

५. वही, रागु बिलावलु ८, पृ० ८५६

६. 'क० ग्रं०', पद १३४ पृ० १२१; पद १६२ पृ० १४३; पद ३८७ पृ० २१६; सा० १७ पृ० ४६

७. वही, अष्टपदी रमैणी, पृ० २४०; पद १३२ पृ० १२१

की ही ओर होता गया था और वे स्वभावतः किसी भी प्रकार के बंधन का विरोध करने लगे थे। वे 'लोकबेद कुल की मरजादा' को 'गले में पासी'[1] अथवा फाँसी समझते और तदनुसार प्रत्येक धर्म के बाह्याडंबरों का खुले शब्दों में घोर विरोध करते थे। परंतु धर्म की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में दीख पड़नेवाले विविध संप्रदायों एवं उपसंप्रदायों के अनुयायियों के बाह्याचरणों पर आक्षेप करते हुए तथा उनकी विहित पद्धतियों को अनावश्यक ठहराते हुए भी, वे उसके मूल की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। उन्होंने धर्मतत्त्व के मूल की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करना चाहा तथा उसके आदर्शानुसार आचरण करने का भी सबको उपदेश दिया। वे धार्मिक आदर्शों का अनुसरण करने के पहले विवेक से काम लेने का भी अनुरोध करते थे और इस दृष्टि से वे 'बेद कतेब' को भी झूठा नहीं मानते थे, प्रत्युत यहाँ तक कह डालते थे कि जो व्यक्ति इन धर्मग्रंथों को बिना उनपर विचार किए हुए ही 'झूठा' कह देता है वह स्वयं 'झूठा' है।[2] इसके सिवा कबीर साहब सदा कटु शब्दों का ही व्यवहार करना नहीं जानते थे, और न वे केवल व्यंगमयी भाषा का ही प्रयोग करते थे। ब्राह्मणों, काजियों, जैनों तथा योगियों को उन्होंने कहीं-कहीं बड़े सरल एवं सुंदर शब्दों में चेतावनी दी है और उनसे वास्तविक मार्ग पर चलने का अनुरोध किया है।[3]

कबीर साहब की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह भी पता चल सकता है कि वे विभिन्न धर्मों अथवा मतों से पूर्णतः प्रभावित भी थे। उनकी आस्था कर्मवाद एवं जन्मांतर में स्पष्ट दीख पड़ती है[4] और वे कभी-कभी भाग्यवादी जैसी भी बातें कर जाते हैं।[5] वे सृष्टि-रचना में विश्वास करते प्रतीत होते हैं और ऐसा कथन करते हैं जिससे सूचित होता है कि अपने को वे उस सृष्टिकर्ता की ही इच्छा पर नितांत निर्भर रखना भी चाहते हैं।[6] वे किसी ऐसे विराट् पुरुष की

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद १२६, पृ० १२६

२. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु प्रभाती, पद ४ पृ० १३४६

३. वही, रागु रामकली पद ५, पृ० ६७०; रागुआसा, पद २६ पृ० ४८३; क० ग्रं० राग सूहौ (रमैंणी) पृ० २२३ तथा पद ३१७ पृ० १६५

४. क० ग्रं०, सा० २२ पृ० ३४, सा० २२ पृ० ४१, सा० १-४ पृ० ४२ तथा पद १०८, २१०, १०३ ५. वही, पद १२१ पृ० १२६

६. वही, बड़ी अष्टपदी पृ० २२८-६, अष्टपदी पृ० २४० तथा पद ३४

भी कल्पना करते हैं जिसकी सेवा में सदा चंद्र, सूर्य, वायु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, वासुकि आदि निरत हैं[1] और अन्यत्र वे उसे ही एक विष्णु के रूप में मानकर उसकी नाभि से उत्पन्न कमल की नाल के सहारे उसके ब्रह्मा द्वारा खोजे जाने की कथा का भी उल्लेख करते हैं।[2] वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' की कई कथाओं से भी परिचित जान पड़ते हैं और विदुर एवं प्रह्लाद जैसे भक्तों के प्रति भगवान् की कृपा की चर्चा करते हैं।[3] इसके सिवा उन्होंने सनक-सनंदन, ध्रुव, हनुमान, विभीषण, शेषनाग, नारद एवं शुकदेव जैसे पौराणिक भक्तों के भी नाम लिए हैं।[4] वैष्णवों को तो वे स्वयं अपने 'राम' की ही भाँति अपना 'संगी' बतलाते हैं[5] और उन हरिजनों की पनिहारिन तक को छत्रपतियों की रानियों से बढ़कर समझते हैं।[6] वे अपने को 'नारदी भक्ति' में 'मगन' रहनेवाला भी बतलाते हैं[7] तथा 'नरहरि' 'कृसन कृपाल' के प्रति अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं।[8] वास्तव में हमें कबीर साहब के सहज धर्म वा साधारण धर्म के अंतर्गत उपर्युक्त जन्मांतर और कर्मवाद तथा भक्तिवाद के अतिरिक्त, नाथ पंथियों के योगवाद, जैनियों के अहिंसावाद, सहजयानियों के सहजवाद वा मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा सूफ़ियों के रहस्यवाद आदि अनेक मतों के प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें कभी-कभी एक निरा समन्वयवादी कहने की प्रवृत्ति होती है। फिर उनके लिये केवल इतना ही कह देना उचित और न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। कबीर साहब की रचनाओं से प्रकट होता है कि इस विषय में उन्होंने सत्य के वास्तविक रूप को समझने और समझाने की चेष्टा की थी और उन्हें विश्वास था कि इसके द्वारा वे सारे धार्मिक मतभेदों को सरलता से दूर कर सकेंगे।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ३४० २. वही, पद ३४० और पद ३५

३. 'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु मारू पद १, पृ० ११०३

४. वही, बसंतु, पद ४ पृ० ११९४ ५. वही, सा० ५ पृ० ५३

६. 'क० ग्रं०', सा० ४ पृ० ४६ ७. वही, पद २७८ पृ० १८२-३

८. वही, सा० १ पृ० ५७

कबीर-साहित्य का अध्ययन

'कबीर-साहित्य' शब्द एक बड़े व्यापक अर्थ की ओर संकेत करता है। इसके अंतर्गत केवल कबीर साहब की प्रामाणिक रचनाएँ ही नहीं आतीं प्रत्युत इसमें उनके विषय में लिखे गए विभिन्न ग्रंथ और विविध महत्त्वपूर्ण प्रसंग तक सम्मिलित कर लिये जाते हैं। कबीर साहब एक प्रतिभा-संपन्न और प्रभावशाली पुरुष थे और उनके आविर्भाव काल से लेकर अब तक उनके युग, उनके वातावरण, उनके व्यक्तित्व, उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं, उनकी रचनाओं, उनकी विचारधारा, उनके काव्य-कौशल, उनकी भाषा एवं शैली तथा उनके मत एवं प्रचार-कार्यादि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है और, उनके नाम पर प्रचलित, कबीर-पंथ और उसके साहित्य एवं इतिहास का भी परिचय अनेक बार दिया जा चुका है। ये सभी विषय कबीर साहब से प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं जिस कारण इनमें से प्रत्येक पर की गई चर्चा को कबीर-साहित्य में समाविष्ट कर लेने की परंपरा है। ऐसी सामग्री पर सुविधानुसार पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जा सकता है तथा, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, दार्शनिक वा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के अनुसार, उन पर अपने विचार भी प्रकट किये जा सकते हैं। विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक के प्रायः पाँच सौ वर्षों में, इस प्रकार क्रमशः एक ऐसे विशाल साहित्य की रचना हो चुकी है जिसके निर्माण एवं विकास का निरा ऐतिहासिक विवरण भी हमारे अध्ययन के लिए कुछ कम मनोरंजक विषय नहीं बन सकता।

कबीर साहब के व्यक्तित्व और उनके गुणों की प्रशंसा में, सर्वप्रथम, उनके समसामयिक व्यक्तियों ने ही अपने उद्‌गार प्रकट किये थे। तब से निरंतर अनेक संत और भक्त उनका गुणगान करते आये और तद्‌नुसार, उनके विषय में विभिन्न मौखिक परंपराएं भी प्रतिष्ठित होने लगीं। ऐसी ही जनश्रुतियों के आधार पर फिर विविध प्रसंगों की सृष्टि हुई जिनकी चर्चा ऐतिहासिक रचनाओं में भी की गई। परंतु इस समय तक उनके नाम पर, कदाचित्, कबीर-पंथ की भी स्थापना हो चुकी थी और तत्संबंधी सांप्रदायिक ग्रंथों में अलौकिक बातों का समावेश होने लगा था जिस कारण वे एक दिव्य पुरुष अथवा स्वयं परमेश्वर तक के रूप में भी चित्रित किये जाने लगे थे। ऐसी दशा में कबीर साहब के

वास्तविक सिद्धांतों के अनुसंधान का प्रश्न भी स्वभावतः छिड़ गया और उनकी उपलब्ध रचनाओं पर विविध टीकाएँ रची जाने लगीं। फलतः उनके मत के सांप्रदायिक अध्ययन की एक पृथक् परंपरा ही चल निकली जिसे कबीर-पंथी साहित्य का पूरा सहयोग मिल गया। जान पड़ता है कि ईसाई मिशनरियों तथा योरपीय विद्वानों को, सर्वप्रथम, कबीर साहब के इसी रूप एवं मत का परिचय मिल पाया था। जिस कारण उन्होंने इस विषय की प्रायः सभी बातों को अपनी आलोचना का लक्ष्य बना डाला। कबीर साहब की प्रामाणिक जीवनी तथा उनकी रचनाओं के शुद्ध पाठ के अभाव में ऐसा ही होना स्वाभाविक भी था और इसके प्रभाव से कतिपय भारतीय लेखक भी अपने को बचा न सके।

इस प्रकार कबीर-साहित्य की समग्र उपलब्ध ग्रंथराशि के अंतर्गत केवल तथ्य वा मूलवस्तु का ही समावेश नहीं, इसमें विभिन्न लेखकों की तद्विषयक व्यक्तिगत धारणाएँ तथा उनके पूर्वाग्रह भी सम्मिलित हो गए हैं। इसमें इतिहासकारों ने जहाँ अधिकतर जनश्रुतियों से काम लिया है वहाँ कबीर-पंथ के अनुयायियों ने अपनी कल्पनाप्रसूत बातें भर दी हैं और इन दोनों के आलोचकों ने अपने अनुमान के सहारे बहुत-सी ऐसी बातें लिख डाली हैं जिनमें समुचित सामंजस्य का बिठा पाना सरल नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय, कबीर साहब की कृतियों के विविध संग्रहों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि उनमें न केवल प्रक्षिप्त पद्यों एवं पंक्तियों का ही सम्मिश्रण हो गया है, प्रत्युत पाठ भेदों के कारण, वे बहुत कुछ विकृत और संदिग्ध भी बन गई हैं जिससे उनका वास्तविक रूप सहसा पहचान में नहीं आता। कबीर साहब के जीवन-संबंधी तथ्यों को निर्धारित करते समय इसके कई ग्रंथों के पौराणिक विवरण भ्रम उत्पन्न करने लगते हैं और इसमें संगृहीत तथा उनकी समझी जाने वाली सभी कृतियों को प्रामाणिक मानकर चलने से स्वयं उनको ही समझ पाना कठिन हो जाता है। अतएव, कबीर-साहित्य का अध्ययन करते समय उक्त ग्रंथसमूह के सभी अंगों पर एक साथ विचार करने से काम नहीं चल सकता। इसके पहले यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उनकी प्रामाणिक रचनाएँ कौन-कौन सी हैं तथा वे कौन-कौन सी बातें हैं जो उनकी प्रामाणिक जीवनी के लिए तर्क-संगत समझी जा सकती हैं अथवा जिनका समर्थन अन्य सर्वसम्मत बातों के आधार पर भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त ढंग से निर्णय कर चुकने पर हमारे सामने कबीर-साहित्य के दो रूप आ जाते हैं जिनमें से एक को 'मूल कबीर-साहित्य' एवं दूसरे को 'बृहत् कबीर-साहित्य' के नाम दे सकते हैं और इनमें से वस्तुतः पहले को ही अपने

अध्ययन का प्रमुख आधार बनाया जा सकता है। मूल कबीर-साहित्य बृहत् कबीर-साहित्य के अंतर्गत, जल में दूध की भाँति, मिलकर अपना पृथक् अस्तित्व खो चुका है और उसे बिलगा पाना सरल नहीं है। उसे बृहत् कबीर-साहित्य से पृथक् लाने के लिए हमें 'नीरक्षीर विवेक' की आवश्यकता पड़ेगी। फिर इस मूल कबीर-साहित्य के भी दो अंग होंगे। एक वह होगा जिसमें कबीर साहब की सारी प्रामाणिक रचनाएँ संगृहीत हों और जिसका आश्रय लेकर हम उनकी विचारधारा और उनकी साधनादि का परिचय पा सकें तथा उनकी प्रतिभा, उनके रचना-कौशल एवं भाषा, शैली आदि के विषय में कोई निर्णय भी कर सकें। इसी प्रकार, इसका दूसरा अंग वह है जिसकी फुटकल बातें इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं और जिसके सामूहिक अध्ययन द्वारा हम, उनके जीवन-संबंधी तथ्यों को शृंखलाबद्ध करके, उनके एक प्रामाणिक जीवन-चरित की सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं। कबीर-साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने अभी तक अधिकतर उक्त बृहत् कबीर-साहित्य का ही अध्ययन करने की चेष्टा की है और, यदि कभी केवल इसके मूलभाग की ओर भी ध्यान दिया है तो भी, इसके उक्त दोनों अंगों को पृथक् करके, इनमें से किसी एक पर स्वतंत्र रूप से, गंभीर अध्ययन बहुत कम किया है।

कबीर साहब की रचनाओं का सर्वप्रथम अध्ययन अभीतक, टीका-टिप्पणी के ही रूप में, मिला है। कुछ दिन हुए 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोज में कबीर साहब के १२१ पदों का एक संग्रह, सं० १८५५-६ में प्रस्तुत किए गए किसी गुटके के अंतर्गत, टीका के साथ मिला था। टीका की रचना-शैली पुराने ढङ्ग की थी और उसमें पदों का प्रधानतः भक्ति-परक अर्थ किया गया था, केवल कहीं-कहीं योगपरक अर्थ भी सम्मिलित था। उसके अधिकांश पद वही थे जो 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी आये हैं और इनमें से कुछ 'कबीर-बीजक' एवं 'आदिग्रंथ' के भी पदों के समान थे। उसकी केवल थोड़ी सी ही ऐसी रचनाएँ थीं जो इन संग्रहों में से किसी में भी नहीं आतीं। टीका के देखने से उसके रचयिता का पता नहीं चलता और न उससे यही प्रकट होता है कि उसने इसे कब और कहाँ पर लिखा होगा। केवल इतना स्पष्ट है कि वह सं० १८५५-५६ के पीछे की नहीं है। इसी समय के आसपास कदाचित्, गया के रामरहस दास (सं० १७८२-१८६६) ने भी अपने ग्रंथ 'पंचग्रंथी' की रचना, 'कबीर-बीजक' के आधार पर, की थी और उसके द्वारा कबीर साहब के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। रामरहसदास का अध्ययन प्रत्यक्षतः सांप्रदायिक ढंग का था और उसमें प्रायः सभी बातें कबीर पंथीय स्वीकृतियों के अनुसार निर्दिष्ट की गई थी।

इस प्रकार कबीर साहब की रचनाओं के अबतक उपलब्ध सर्वप्रथम अध्ययन अधिकतर व्याख्यात्मक ही प्रतीत होते हैं और उनकी रचना-शैली भी स्वभावतः पुरानी है।

रामरहसदास का उपर्युक्त अध्ययन विद्वतापूर्ण है और वह लेखक के गंभीर चिंतन एवं अनुशीलन का परिचय देता है। फलतः उनके पीछे 'कबीर बीजक' के अध्ययन के टीकात्मक रूप की भी एक परंपरा चल निकली और उसकी रचनाओं का पंथानुमोदित अर्थ किया जाने लगा। रींवा के राजा श्री विश्वनाथसिंह (सं० १८४६-१९११) ने अपनी 'पाखंड खंडिनी' टीका के आरंभ में कहा है "कबीर जी के बीजक को पाखंड अर्थ लगाइकै जीव बिगरे जाँय हैं··· "सो इहाँ कबीर जी को सिद्धांत मत कहौंगो।" उन्होंने उक्त प्रकार के अर्थ को 'कबीरहा' का अर्थ बतलाया और उसे अस्वीकार करते हुए 'सगुण ईश्वर' एवं "निर्गुण ब्रह्म' से परे 'नित्य साकेत रास विहारी रामचन्द्र' परक व्याख्या लिखने की चेष्टा की। प्रसिद्ध है कि राजा साहब के ही समकालीन नागझरी (बुरहानपुर) निवासी पूरन साहब ने भी अपनी 'त्रिज्या' नाम की टीका सं० १८९४ में लिखी थी। 'त्रिज्या' टीका केवल गद्यात्मक ही नहीं है; इसमें कतिपय पद्यों का भी प्रयोग किया गया है और यह पंथ की परंपरा का भी अनुसरण करती है, अतः हो सकता है कि जिन 'पाखंड अर्थों' की ओर विश्वनाथसिंह ने संकेत किया है उनमें यह टीका भी अभिप्रेत हो। 'पाखंड खंडिनी' का रचना-काल विदित न होने के कारण इस विषय में कोई अंतिम बात नहीं कही जा सकती। इतना स्पष्ट है कि उस कालतक 'कबीर-बीजक' की टीकाएँ भाष्यों जैसी हुआ करती थी और उनमें रचनाओं की व्याख्या किसी न किसी निश्चित उद्देश्य से की गई रहती थी।

कबीर साहब की रचनाओं का केवल शुद्ध अनुवाद मात्र देने की पद्धति 'त्रिज्या' टीका के लगभग ७० वर्ष पीछे आरम्भ हुई। पता चलता है कि शांति-निकेतन के श्री क्षितिमोहन सेन ने भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण करके और साधुओं के मुख से सुनकर कबीर साहब की कुछ रचनाएँ संगृहीत कीं और उन्हें नागरी मूल और बङ्गला अनुवाद के साथ, 'कबीर' नाम से, चार भागों के अंतर्गत सं० १९६७ में प्रकाशित किया, 'कबीर' में संगृहीत रचनाओं का पाठ 'कबीर-ग्रंथावली' 'बीजक' अथवा 'आदि ग्रंथ' में आयी हुई रचनाओं के पाठ से मेल नहीं खाता। फिर भी उसका एक अपना पृथक् महत्त्व हो सकता है और उस संग्रह से चुने गये १०० पदों का रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अंगरेजी में अनुवादित होकर उनके प्रसिद्ध 'वन हंड्रेड पोयम्स

ऑव् कबीर' के रूप में प्रकाशित हो जाने के कारण, वह अंतरराष्ट्रीय ख्याति भी पा चुका है। स्वयं श्री सेन का बंगला अनुवाद भी बहुत स्पष्ट एवं सरल है और वह उन रचनाओं का अर्थ प्रकट करने की चेष्टा करता है। उक्त 'कबीर' के ही संपादन-काल के आस पास, सं० १९६७-८ में, रेवरेंड प्रेमचंद नामक एक ईसाई मिशनरी ने भी 'कबीर बीजक' का एक अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया और उसके ६-७ वर्ष पीछे रे० अहमद शाह ने एक वैसा ही अनुवाद निकाला तथा उसके साथ इस ग्रंथ पर अपनी एक आलोचना भी दे दी। इस आलोचना में उन्होंने 'कबीर बीजक' के शुद्ध पाठ का प्रश्न छेड़ा, इसकी भाषा की चर्चा की और इसमें निहित विचारधारादि का भी परिचय दिया।

परन्तु कबीर-पंथ के अनुयायियों ने भी, इसके अनंतर, अपनी टीकाओं की शैली में सुधार आरंभ किया। राधा स्वामी संप्रदाय के महर्षि शिवव्रत लाल ने, रे० अहमद शाह के पाठ को उस समय तक प्रकाशित सभी पाठों से 'उत्तम' समझ कर, संभवतः उसी के आधार पर, 'कबीर बीजक' की एक उर्दू टीका, सं० १९७१ में लिख कर प्रकाशित की और उसमें कबीर साहब के मुख्य अभिप्राय को 'खोलकर' सबके सामने रखने की चेष्टा की। उन्होंने श्री विश्वनाथ सिंह की 'पाखंड खंडिनी' टीका की कड़ी आलोचना भी की और कबीरमत को वैष्णव धर्म तथा वेदांत मत से नितांत भिन्न ठहरा कर, 'पंथाइयों में नियमानुसार कुछ गुप्त हो गई धार्मिक शिक्षा प्रणाली' को 'फिर से प्रगट' करने के उद्देश्य से, अपनी टीका लिखी। फिर भी हनुमानदास कबीर पंथी ने, 'कबीर बीजक' पर हिंदी में अपनी 'शिशु बोधिनी' नामक विस्तृत टीका लिखकर, सं० १९८३ में प्रकाशित की जिसमें उन्होंने, विविध हिंदू शास्त्रों के वाक्यों को उद्धृत करते हुए, उनके साथ कबीर साहब के मत की सुसंगति ही प्रदर्शित की। इन्हीं हनुमानदास की एक 'बीजक सुरहस्यम्' नामक संस्कृत टीका भी पीछे, हिंदी में लिखी 'स्वानुभूति व्याख्या' के साथ, सं० १९९९ में, निकली। इन्होंने अपनी टीकाओं में जितना 'कबीर बीजक' में सुरक्षित सिद्धांतों के स्पष्टीकरण की ओर ध्यान दिया उतना इसके किसी अन्य पहलू पर विचार नहीं किया। साधु विचार दास ने जो 'कबीर बीजक' की 'बिरल टीका और टिप्पणी' लिखकर सं० १९८५ में प्रकाशित की उसमें इस ओर भी प्रयत्न हुआ। इन्होंने सर्वप्रथम, इसके पाठ का "शोधन अतिप्राचीन पांच प्रतियों के आधार से किया जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित है" और फिर टिप्पणी' एवं 'भावार्थ' के सहारे इसके पद्यों का अर्थ, शुद्ध खड़ी बोली में लिखकर स्पष्ट करने की चेष्टा की।

इन्होंने अपनी इस पुस्तक के आरंभ में एक विस्तृत भूमिका भी दी है जिसमें इन्होंने कबीर साहब के मूल सिद्धांतों को वेदांतादि के अनुकूल ठहराया है। अपनी इस टीका में इन्होंने यत्र तत्र, भाषा, छंद, अलंकारादि के अनुसार भी, बहुत सी टिप्पणियाँ जोड़ दी हैं।

'कबीर बीजक' पर कई अन्य टीकाएँ भी कबीर-पंथ की सांप्रदायिक पद्धति के अनुसार लिखी गई हैं जिनमें से मेंही दास की टीका (कबीर चौरा, सं० १९७२) महाराज राघवदास की 'सर्वांग पद प्रकाशिका' टीका (लहरतारा, सं० १९९३) तथा प्रागदास, सदाफलदास आदि की टीकाएँ उल्लेखनीय हैं और इस प्रकार की टीकाएँ गुजराती भाषा में भी प्रकाशित हो चुकी है जिनमें 'कबीर साहेब नु बीजक' ('त्रिज्या' का अनुवाद) एवं 'रमैनी विचार' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें अधिकतर, पंथीय पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग तथा शास्त्रीय वाक्यों के उद्धरण द्वारा पांडित्य प्रदर्शन के अतिरिक्त, अन्य कोई विशेषता नहीं जान पड़ती। ऐसे टीकाकारों ने, कबीर साहब की पंक्तियों का गूढ़ार्थ प्रकाशित करते समय, प्रायः उन्हीं रहस्यों का उद्घाटन किया है जिनमें, 'पंथ' की परंपरा के अनुसार, विश्वास किया जाता रहा है, किंतु जिनके विषय में स्वतंत्र रूप से विचार करने वालों का बहुत कुछ मतभेद भी हो सकता है। वास्तव में, 'कबीर-बीजक' ग्रंथ के अभी तक उपलब्ध पाठों के आधार पर व्याख्या करते समय कबीर साहब के विचारों का वैसा ही रूप अधिक स्वाभाविक भी लगता है। कबीर साहब की रचनाओं के अन्य प्रसिद्ध संग्रहों में से, आज तक, दूसरे किसी पर इतनी टीकाएँ नहीं हुई हैं। सिखों के प्रसिद्ध 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत जो इनकी रचनाएँ मिलती हैं उनका, डा० ट्रम्प द्वारा किया गया, अंग्रेजी अनुवाद सं० १९३४ में प्रकाशित हुआ था और फिर डा० मेकालिफ ने भी उनका एक दूसरा अंग्रेजी अनुवाद सं० १९६६ में प्रकाशित कराया था और इसके साथ उन्होंने अपनी-अपनी भूमिकाएँ भी दी थीं। इधर डा० रामकुमार वर्मा ने, उन रचनाओं को पृथक् संगृहीत और संपादित करके, उनका हिंदी अनुवाद, 'संतकबीर' के नाम से, एक प्रस्तावना के साथ सं० २००० में प्रकाशित किया है और उसके अंत में 'कोष समुच्चय' नामक एक उपयोगी परिशिष्ट भी लगा दिया है। परंतु डा० वर्मा का अनुवाद सुन्दर प्रयास होने पर भी किंचित् विशेष सतर्कता की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार कबीर साहब की साखियों का एक अनुवाद प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव ने 'कबीर साखी सुधा' के नाम से सं० २०१० में प्रकाशित किया है जो अधिक प्राकृत जँचता है।

इस प्रकार कबीर-साहित्य का जो अध्ययन, उसमें संगृहीत पद्यों पर की गई टीका-टिप्पणियों अथवा उनके अनुवादों के रूप में हुआ उसमें, सर्वप्रथम, केवल गूढ़ार्थों की ओर संकेत किया जाता रहा, फिर उसके साथ रचनाओं में निहित विचारधारा की विस्तृत व्याख्या भी की जाने लगी और, अंत में, उनके शाब्दिक अर्थ एवं संगति के अनुसार, उनका गद्यमय रूपांतर करके, तथा कभी-कभी इसके साथ शब्द कोषादि भी जोड़कर, उनके वर्ण्य विषय के विश्लेषण और विवेचन का पृथक् रूप में दिया जाना आरंभ हुआ। कबीर साहब के मत एवं कथन-शैली का एक सांकेतिक परिचय नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' (लगभग सं० १६४२) के अंतर्गत दिया था और इसके अनंतर बहुत समय तक यह कार्य उपर्युक्त टीकाओं द्वारा होता आया था। किंतु, उनकी रचनाओं के अनुवाद को स्वतंत्र रूप देने पर, विषय-विवेचन के लिए पृथक् भूमिकाएँ अथवा प्रस्तावनाएँ भी लिखी जाने लगीं। प्रायः प्रत्येक अनुवादक ऐसा करने की ओर प्रवृत्त हुआ और कबीर साहब के सिद्धांत एवं साधना की चर्चा के साथ-साथ उनके जीवन और व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला जाने लगा। इस ओर सबसे प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओर से हुआ जिनके 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव् कबीर' नामक अनुवाद-ग्रंथ के आरंभ में ए० अंडरहिल की भूमिका सं० १६१२ में प्रकाशित हुई और उसमें, अन्य बातों के अतिरिक्त, कबीर साहब, एक सफल मर्मी कवि एवं साधक के रूप में भी, चित्रित किए गए। इस पुस्तक द्वारा कबीर साहब का प्रामाणिक परिचय विदेशी विद्वानों को भी मिला और इसका बहुत बड़ा प्रभाव भारतीय लेखकों पर भी पड़ा।

कबीर-साहित्य के इस भूमिकात्मक अध्ययन का एक हिंदी रूप स्व० हरिऔध जी के 'कबीर वचनावली' नामक संग्रह-ग्रंथ के 'मुखबंध' (सं०१६७३) में दीख पड़ा जिसमें उन्होंने कबीर साहब को प्रधानतः एक पथ-प्रवर्तक के रूप में दर्शाना चाहा और उसमें उन्होंने यह भी बतलाने की की चेष्टा की कि, वास्तव में, उनकी रचनाओं का आदर उनकी प्रतिभा के आधार पर नहीं है, अपितु उनमें लक्षित होने वाले विचार-स्वातंत्र्य एवं निर्भीक आलोचना के कारण है। कबीर-पंथ के संबंध में की गई उनकी आलोचना का उत्तर महर्षि शिव व्रत लाल वर्मन् ने अपनी उर्दू पुस्तक 'कबीर और कबीर-पंथ' में दिया। स्व० हरिऔध जी के अनंतर कबीर-साहित्य पर लिखने वाले प्रसिद्ध 'मिश्रबंधु' थे जिन्होंने अपने ग्रंथ 'हिंदी-नवरत्न' के दूसरे संस्करण (सं०१६८१) में कबीर साहब को सातवाँ स्थान दिया और उनकी रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ लिखने का भी प्रयत्न किया।

मिश्रबंधुओं ने उसमें कबीर साहब के काव्य को, उनकी आध्यात्मिक अनुभूति के कारण, उच्चकोटि का ठहराया, किंतु इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि उनकी अधिकांश रचनाएँ, काव्यत्व की दृष्टि से, केवल नीरस और तुकबंदी सी जान पड़ती हैं।

कबीर-साहित्य के अंतर्गत इस समय तक विशेषतः 'कबीर बीजक' का ही नाम लिया जाता रहा और कभी-कभी इसमें उन रचनाओं की भी चर्चा कर दी जाती थी जो 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं अथवा जिनका संग्रह 'कबीर-शब्दावली' तथा 'साखी-संग्रह' जैसे ग्रंथों में किया गया है। किंतु जबसे 'कबीर-ग्रंथावली' का प्रकाशन हुआ, अर्थात् सं० १९८५ के अनंतर, इनके सामने उन सभी का महत्त्व न्यूनाधिक कम जान पड़ने लगा। इस संग्रह-ग्रंथ में न केवल नये सिरे से उपलब्ध रचनाओं को ही स्थान दिया गया था, अपितु उनके साथ 'आदिग्रंथ' में आये हुए पदों एवं 'सलोकों' को भी नागरी में प्रकाशित कर दिया गया था और इसकी 'भूमिका' के अंतर्गत पाठभेदों पर भी कुछ विचार हुआ था। इसके सिवाय इसके संपादक ने, एक 'प्रस्तावना' देकर, उसमें कबीर साहब की जीवनी, उनके सिद्धांत एवं कवित्व पर नवीन ढंग से लिखने की चेष्टा की थी तथा, हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के साथ उनकी तुलना करते हुए, उन्हें भूषण एवं जायसी की श्रेणी का ठहराया था। 'ग्रंथावली' का प्रकाशन हो जाने पर 'कबीर-साहित्य' का अभिप्राय अधिकतर तीन ग्रंथों से माना जाना लगा जिनमें इसके अतिरिक्त 'बीजक' और 'आदिग्रंथ' थे। तदनुसार डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने भी, अपनी थीसिस 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' की रचना करते समय, इन्हीं तीनों को 'अधिक विश्वसनीय' कहा और प्रधानतः इन्हीं के आधार पर उन्होंने कबीर साहब के सिद्धांतों का निरूपण कर निर्गुणपंथ का स्वरूप निर्धारित किया। इस थी. स का मूल अँग्रेजो रूप 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोएट्री' के नाम से सं० १९९३ में छपा और इसके द्वारा न केवल कबीर-साहित्य के ही अध्ययन में प्रेरणा मिली, अपितु इसने अनेक विद्वानों का ध्यान पूरे संत-साहित्य के महत्त्व की ओर भी आकृष्ट किया।

कबीर-साहित्य के इस अध्ययन को, गंभीर चिंतन पूर्वक और वैज्ञानिक आलोचना के साथ, अग्रसर करने का काम इधर कई लेखकों ने किया है। श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने 'महात्मा कबीर' (सं० १९९३) में 'पूर्ण सहानुभूति का भाव' लेकर 'विश्लेषणात्मक दिग्दर्शन' प्रस्तुत किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' (सं० १९९९) में कबीर साहब की

जाति, उनके मत, उनकी साधना तथा उनकी रचनाओं में आये हुए कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर अच्छा प्रकाश डाला है, और, अपने कथन के समर्थन में जो उन्होंने इसके अंत में 'कबीर वाणी' नामक रचना संग्रह दिया है उसमें उन्होंने, आचार्य सेन के 'कबीर' के अतिरिक्त, 'बीजक', 'कबीर-ग्रंथावली' 'कबीर वचनावली' तथा 'सत्यकबीर की साखी' से भी चुनकर '२५५ रचनाएँ' संगृहीत की हैं (वास्तव में प्रत्येक पद्य को पृथक्-पृथक् लेने पर, यह संख्या बढ़ाई भी जा सकती है)। द्विवेदी जी के सुझाओं में तथ्य है तथा उनकी कथन-शैली विदग्धता पूर्ण है और वे अपने निकाले हुए परिणामों की ओर, हमें स्वभावतः आकृष्ट कर लेते हैं। इस अध्ययन की एक दूसरी पुस्तक डा० रामरतन भटनागर की 'कबीर साहित्य की भूमिका' (सं० २००७) है जिसमें लेखक के अनुसार "कबीर के व्यक्तित्व और उनकी साधना को एक संतुलित रूप देने की चेष्टा की गई है" और उसने अपने अध्ययन का आधार 'बीजक', 'कबीर ग्रंथावली' और 'संत कबीर' को ही बनाया है। डा० भटनागर ने कबीर साहब से संबंध रखने वाले प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय पर तर्क-संगत विचार किया है और इसके लिए उन्होंने प्रमाण भी उद्धृत किये हैं। कुछ भूलों के होते हुए भी लेखक का दृष्टिकोण बहुत कुछ व्यावहारिक है और उसके विचार भी सुलझे से जान पड़ते हैं। डा० भटनागर के ही समान वस्तुस्थिति की ओर विशेष ध्यान देने वाले एक अन्य लेखक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव हैं जिनकी पुस्तक 'कबीर-साहित्य का अध्ययन' (सं २००८) है। इसमें उक्त साहित्य के गंभीर अध्ययन की विभिन्न दिशाओं पर प्रकाश डाला गया है और यह पुस्तक अधिक एकनिष्ठ और सुव्यवस्थित समझ पड़ती है। इसी प्रकार श्री यज्ञदत्तशर्मा की पुस्तक 'कबीर-साहित्य और सिद्धांत' (सं० २०१०) में भी इस अध्ययन की ओर प्रयास किया गया है।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत की पुस्तक 'कबीर की विचार धारा' (सं० २००९) के अंतर्गत किये गए प्रयत्नों में इस प्रकार के अध्ययन का एक पग और भी आगे बढ़ जाना कहा जा सकता है क्योंकि इसके लेखक ने कबीर साहब-संबंधी विषय को और भी सीमित करके देखा है। इसमें उनके 'विचारक स्वरूप' पर ही विशेष रूप से मनन करके 'रहस्योद्घाटन' का प्रयत्न किया गया है। लेखक के अनुसार आजतक प्रस्तुत की गई "रचनाएँ वास्तव में कबीर अध्ययन का आधार-स्तम्भ है" और "उन पर प्रासाद खड़े करने का कार्य अवशिष्ट है" तथा यह "प्रयास इसी दिशा में हुआ है।" इस प्रकार "इस लेखक का लक्ष्य कबीर की इसी विचारात्मकता और आध्यात्मिकता के विविध पक्षों का निरूपण करना है"

और "इस प्रबध में कबीर की सम्पूर्ण विचार धारा का व्यवस्थित एवं खोजपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है।" डा० त्रिगुणायत के पहले सं० १६८८ में ही श्री रामकुमार वर्मा ने, अपने ग्रंथ 'कबीर का रहस्यवाद' के प्रकाशन द्वारा, इस प्रवृत्ति का पथप्रदर्शन कर दिया था, किंतु उसमें उन्होंने जितना ध्यान सूफ़ीमत एवं हठयोग की बातों के स्पष्टीकरण की ओर दिया था उतना कबीर साहब की विशेषताओं की व्याख्या नहीं की थी और न उनकी साधनाओं के सुव्यवस्थित रूप का ही कोई परिचय दिया था। फिर भी वह पुस्तक अपने ढंग की एक ही रह गई है। श्री पारसनाथ तिवारी (प्रयाग विश्वविद्यालय) ने भी इसी प्रकार, कबीर-साहित्य के एक दूसरे पहलू अर्थात् 'कबीर की रचनाओं की पाठ-समस्या' पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और, यद्यपि इस संबंध में अभी तक कोई अंतिम निर्णय देना संभव नहीं जान पड़ता फिर भी, इस ओर किये गये सभी प्रयास स्तुत्य कहे जा सकते हैं और उन सभी द्वारा निकाले गए परिणामों से कुछ न कुछ सहायता मिल सकती है। कबीर-साहित्य की भाषा, उनकी साहित्यिकता, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, कबीर-दर्शन, कबीर साहब की साधना, कबीर का सुधारक रूप, कबीर साहित्य में लोक तत्त्व अथवा संगीत पक्ष आदि अनेक अन्य विषय भी हो सकते हैं।

'मूल कबीर-साहित्य' के दूसरे अंश का अध्ययन अर्थात् कबीर साहब की प्रामाणिक जीवनी की रूप रेखा प्रस्तुत करने का काम अभी तक बहुत कम हुआ है। कबीर साहब की रचनाओं में कतिपय उनके स्वकथित प्रसंग मिलते हैं जो सर्वत्र स्पष्ट नहीं हैं और जिनमें कभी-कभी गूढ़ार्थ भी ढूँढ़े जाने लगते हैं। इसी प्रकार उनके विषय में किये गए उनके सम-सामयिक और परवर्त्ती लोगों के बहुत से उल्लेख भी उपलब्ध हैं जो अधिकतर प्रशंसात्मक मात्र हैं। जन-श्रुतियाँ भी उनके संबंध में प्रायः ऐसी ही बातों की चर्चा करती हैं जिसमें रोचकता का प्राचुर्य रहता है और जिनके विषय में इसी कारण, यह कहने की भी संभावना बनी रहती है कि वे नितांत निराधार एवं कपोल-कल्पित हैं अथवा वे अन्यत्र से उधार ली गई होंगी। उनसे संबंध रखने वाले पौराणिक इतिवृत्तों में भी बहुधा मनगढंत एवं चमत्कार पूर्ण घटनाओं का ही समावेश रहा करता है और सिवाय श्रद्धालुओं के, अन्य लोगों का उन्हें तथ्य रूप में स्वीकार करना अत्यन्त कठिन है। अतएव इस प्रकार की सामग्रियों की परीक्षा करते समय हमारा ध्यान ऐसे साधनों की ओर भी चला जाता है जो अन्य रूपों में भी पायी जा सकती है। कबीर-पंथ के मठों में और कुछ प्राचीन स्थानों पर भी प्रायः ऐसी

वस्तुएँ दिखलाई जाती हैं जो कबीर साहब की कहलाती हैं, किंतु जो प्रत्यक्षतः उनके समय की नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार मगहर, पुरी अथवा रतनपुर जैसे स्थानों में जो उनकी समाधियाँ बनी हैं तथा कबीर वट आदि जो उनके स्मारक समझे जाते हैं, उन्हें देखकर भी यह सहसा निर्धारित कर लेना कि उनमें से कौन प्रामाणिक है कोई सरल काम नहीं है। कबीर साहब के समझे जाने वाले अनेक चित्र भी पाये जाते हैं जिनमें से एक दूसरे से मिलता नहीं जान पड़ता और वैसी दशा में उनके शरीर वा वेशभूषादि के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। इसके सिवाय अभी तक उनके जीवन-काल की भी दोनों सीमाएँ अन्तिम रूप में, निर्धारित नहीं की जा सकती हैं और न उनके जन्म-स्थान, कार्य-क्षेत्र, पर्यटन-स्थल अथवा मृत्यु स्थान के ही संबंध में आज तक कोई संतोषजनक खोज हो पाई है। उनकी कुल परंपरा एवं वंशधरों का परिचय भी अभी तक बहुत कुछ अनुमानों पर ही आश्रित है और उनके नाम पर प्रचलित कबीर-पंथ को भी अभी स्वयं उनके द्वारा स्थापित किया हुआ स्वीकार नहीं करते। वास्तव में कबीर-साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने आज तक जितना ध्यान उनकी रचनाओं तथा मतादि की ओर दिया है उतना इन बातों के विषय में भी वैज्ञानिक अनुसंधान कर लेना आवश्यक नहीं समझा है और यही कारण है कि अभी तक उनकी किसी प्रामाणिक जीवनी का अभाव बना हुआ है।

कबीर-साहित्य एवं कबीर साहब में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है प्रत्युत एक दूसरे के प्रतिबिंब का केवल आश्रय-मात्र भी कहा जा सकता है। संतों के जीवन का निर्माण उनकी शुद्ध अनुभूतियों के उपादान से हुआ करता है और ये उसके केवल ताने-बाने का ही काम नहीं करती, उसमें ओत-प्रोत भरी भी रहा करती हैं। संतों की 'बानियाँ' वस्तुतः उनके भरपूर पात्र से छलके हुए 'अमीरस' की केवल कतिपय छींटों के समान हैं और इसी अनुपात से इनका महत्त्व भी आँका जा सकता है। कबीर साहब की रचनाओं का समुचित अध्ययन करने पर हमें पता चल सकता है कि उनके रचयिता का व्यक्तित्व कितना महान् होगा। फिर भी, उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आना असंभव हो जाने के कारण, आज हम, केवल उनकी प्रामाणिक जीवनी से ही, उनका परिचय पा सकते हैं। कबीर-पंथ के अनुयायियों ने जो इस ओर प्रयत्न किये हैं उनके द्वारा इसके अभाव की पूर्ति नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए 'कबीर मंसूर' नामक ग्रंथ में जो, सर्वप्रथम, सं० १६३७ में, उर्दू में लिखा गया था और जिसका हिंदी रूपान्तर सं० १६६० में प्रकाशित हुआ, कबीर साहब के जीवन की विविध घटनाओं,

को विस्तार के साथ दिया गया है और उसमें उनके शिष्य धर्मदास के भी 'बयालिस बंस' का विवरण है। किंतु उसमें अलौकिकता की बातें आ गई हैं। 'अमर सुख निधान' (सं० १७८६) में जो कबीर साहब एवं धर्मदास के प्रथम परिचय की कथा आती है उसमें भी उनका 'जिंद' रूप ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भवतारण' में उन्हीं के मुख से उनका प्रत्येक युग में अवतार धारण करना बतलाया गया है और 'कबीर-कसौटी' (सं० १९४२) में भी ऐसे ही 'मुनीन्द्र' कबीर के काशी में प्रकट होकर अनेक प्रकार के प्रचार एवं उद्धार कार्य करने की चर्चा की गई है। 'कबीर चरित्र बोध' (सं० १९६३) में जो उनकी जन्म तिथि (ज्येष्ठ सुदी १५ सोमवार सं० १४५५) का उल्लेख किया गया है उस दिन 'सत्य पुरुष के तेज का काशी के लहर तालाब में उतरना' कहा गया है ऐसे अनेक ग्रंथों में उनके मृत्यु समय का भी विवरण दिया गया है जो निरी पौराणिकता से ओत-प्रोत है।

अतएव, इस प्रकार की रचनाओं द्वारा कबीर साहब के जीवन वृत्त का तथ्यपूर्ण परिचय नहीं मिल पाता। इनमें सर्वत्र उनके व्यक्तित्व पर एक विचित्र ढंग का रहस्यपूर्ण पर्दा डाला हुआ दीख पड़ता है जिसके कारण हम उन्हें निकट से देखने में असमर्थ रह जाते हैं। नाभादास (सं० १६४२), अनंतदास (सं० १६४५), ध्रुवदास (सं० १६९८), मुकुन्द (गुजराती) (सं० १७०८), प्रियादास (सं० १७६९), राघोदास (सं० १८६१), रघुराज सिंह (सं० १८८०-१९३६) आदि ने भी जो बातें उनके संबंध में लिखी है उनमें भी अधिकतर चमत्कारों तथा अतिशयोक्तियों की ही भरमार दीखती है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर हम आश्चर्यचकित हो सकते हैं, किन्तु हमें उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं हो सकता, वे हमसे दूर ही रह जाते हैं। इसके सिवाय अबुल फज़ल (सं० १६५५), अबुलहक़, सुजानराय, जैसे कतिपय इतिहासकारों ने भी अपने उल्लेखों को केवल जनश्रुतियों अथवा प्रचलित परंपराओं पर ही आश्रित रखा है और उन्होंने वास्तविक बातों की कोई खोज नहीं की है तथा उन्होंने ऐसे प्रसङ्गों को केवल चलता करके ही छोड़ दिया है। धार्मिक इतिहास के आधुनिक लेखकों से भी इससे अधिक नहीं बन पड़ा है। विल्सन (सं १९०३), अक्षय कुमार दत्त (सं० १९४०), डा० भांडारकर (सं० १९७०), डा० फर्कुहर (सं० १९७७), श्री क्षितिमोहन सेन (सं० १९८६) तथा वेस्टकाट (सं० १९६६) और डा० की (सं० १९८८) आदि ने इस बात में बहुधा उन्हीं का अनुसरण किया है और कभी-कभी अपनी पुस्तकों में ऐसी आलोचनाएँ भी कर दी हैं जो

भ्रमात्मक जान पड़ती हैं। इन्होंने प्रायः कबीर साहब को एक साधक अथवा धर्मप्रचारक के ही रूप में देखा है और उनके जीवन की जितनी वैसी घटनाएँ इस ओर संकेत कर सकती हैं उनके प्रचलित रूपों का संग्रह करके उसके आधार पर उनके व्यक्तित्व का एक आनुमानिक चित्रण कर दिया है।

साहित्यकारों द्वारा लिखी गई संग्रह-ग्रंथों की भूमिकाओं तथा ऐसी कतिपय अन्य पुस्तकों में हम कुछ अधिक निश्चयात्मक परिणामों पर पहुँचते प्रतीत होते हैं और उनमें हमें कभी-कभी कुछ ऐसी बातें मिल जाती हैं जो, तथ्य न होने पर भी, उससे बहुत निकट की हो सकती हैं। वास्तव में इन्हीं लेखकों ने आज तक इस ओर गंभीर प्रयत्न भी किया है और कबीर साहब की एक प्रामाणिक जीवनी के निर्माण का प्रश्न छेड़ा है। हरि औधजी (सं० १९७२) से लेकर डा० श्यामसुंदर दास (सं० १९८५), डा० मोहन सिंह (सं० १९९१), डा० बडथ्वाल (सं० १९९३), डा० द्विवेदी (सं० १९९९), डा० वर्मा (सं० २०००), डा० भटनागर (सं० २००७) तथा श्रीवास्तव (स० २००८) आदि तक ने इस विषय के किसी न किसी अंग पर उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। यदि सभी प्रकार की उपलब्ध सामग्रियों की छानबीन करके, उसके आधार पर इनके कथन की समीक्षा की जाय तो, हमें अपनी अभीष्ट वस्तु की एक संक्षिप्त रूप रेखा अवश्य मिल सकेगी और उसमें किंचित् सावधानी के साथ रंग भरकर हम एक विश्वसनीय चित्र भी प्रस्तुत कर सकेंगे।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के 'मूल कबीर साहित्य' का अध्ययन करने में हमें कबीर साहब के परवर्ती संतों की रचनाओं से भी सहायता मिलेगी। हमें उनकी साधना, विचार धारा तथा कुछ अंशों में उनकी जीवनी के विषय में भी इनसे बहुत से स्पष्ट तथा असंदिग्ध संकेत मिल सकते हैं। इसी प्रकार 'बृहत् कबीर-साहित्य' के उस अंश से भी जो सांप्रदायिक बातों से ही पूर्ण समझा जाता है, हमें कई सुंदर सुझाव प्राप्त होते हैं और, यदि कबीर-पंथ के पूरे इतिहास एवं साहित्य का भी वैज्ञानिक अनुशीलन किया जा सके तो, संभव है हमें अपनी प्रगति में अच्छी सहायता मिल सके। कबीर-पंथी साहित्य का अध्ययन अभी तक ईसाई लेखकों ने ही अपने किसी विशेष उद्देश्य से किया था। दूसरे उसे उतना महत्त्व नहीं देते थे। किंतु अब डा० बड़थ्वाल, डा० द्विवेदी जैसे कतिपय लेखकों का भी ध्यान उधर जाने लगा है। इसके सिवाय कबीर साहब के युग तथा कबीर-साहित्य के मूल स्रोतों के सम्यक् अन्वेषण का काम अभी तक शेष है जिसकी ओर भी प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

कबीर साहब की रचनाएँ

कबीर साहब के नाम से प्रचलित विभिन्न कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कबीर-पंथ के कतिपय अनुयायियों का विश्वास है कि "सद्गुरु की वाणियों का कहीं अंत नहीं है" जिससे उनकी कोई संख्या निर्धारित करने में वे स्वभावतः असमर्थ हैं। किंतु जो लोग ऐसा नहीं समझते उन्होंने इनकी कई सूचियाँ प्रस्तुत की हैं और कुछ ने उनकी वास्तविक संख्या पर भी विचार किया है। कबीर साहब के हाथ की लिखी किसी पुस्तक का पता नहीं चलता और उन्हें अशिक्षित एवं निरक्षर तक सिद्ध करने की परिपाटी बहुत दिनों से चली आ रही है। अभी तक इन रचनाओं की कोई ऐसी हस्तलिखित प्रति भी नहीं मिल पाई जिसे हम, असंदिग्ध रूप से, उनके समय की अथवा उनसे सौ पचास वर्ष इधर की कह सकें, इसके सिवाय उनकी समझी जाने वाली सभी रचनाओं के विषय, उनकी भाषा एवं वर्णन-शैली में कोई एक-रूपता नहीं पायी जाती और कहीं-कहीं इनमें ऐसी बातें भी दीख पड़ती हैं जिनके आधार पर इन्हें कबीर साहब की कृति मानते समय उनके प्रति अन्याय करना सा लगता है। जिन पुस्तकों का वर्ण्य विषय उनके विशिष्ट मत की अपेक्षा कबीर-पंथीय विचार धारा के अधिक निकट जान पड़ता है और जिनमें उनके परवर्त्ती व्यक्तियों का उल्लेख है तथा जिनके अंतर्गत प्राचीन महापुरुषों अथवा पौराणिक देवतादि के साथ उनकी गोष्ठी के संवाद की चर्चा आती है उन्हें 'कबीर कृत' मानना कभी तर्क सम्मत नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत स्पष्ट है कि वे केवल जाली अथवा मनगढंत ही हो सकती है। फिर भी यह प्रथा बहुत दिनों तक प्रचलित रही है कि कबीर साहब के नाम से उपलब्ध सभी रचनाओं को उनके द्वारा निर्मित कृतियों की सूची में सम्मिलित कर लिया जाय। कबीर साहब की वास्तविक रचनाओं की संख्या और उनके स्वरूपादि का वैज्ञानिक ढंग से निर्णय करने की चेष्टा अभी लगभग ३० वर्षों से ही आरंभ हुई है।

एच्० एच्० विल्सन (सं० १६०३) ने कबीर साहब की केवल आठ रचनाओं के ही नाम दिये थे जिनमें से कुछ का इधर निर्मित होना स्पष्ट जान पड़ता है। फिर भी रे० वेस्टकॉट (सं० १६६६) ने इस संख्या को बढ़ाकर बयासी तक ला दिया और इसमें उन्होंने, 'अलिफ़ नामा' एवं 'बीजक' के तीन-तीन

संस्करणों तक के नाम देकर, कबीर साहब की कुछ जीवनियों तथा कबीर-पंथ की उपासना-पद्धति वाली पुस्तकों को भी सम्मिलित कर लिया। मिश्रबंधुओं ने इस प्रथा को यहाँ तक निभाया कि उन्होंने, अपनी सूची की अनेक पुस्तकों को संदिग्ध बतलाते हुए तथा यह भी कहते हुए कि कबीर साहब की रचनाएँ मुख्यतः 'बीजक' एवं 'आदिग्रंथ' में संग्रहीत हैं, इनकी संख्या पचहत्तर तक ठहरा दी और इसका अनुसरण पीछे अन्य लेखकों ने भी किया। डा० रामकुमार वर्मा (सं० २०००) ने अपनी संपादित पुस्तक 'संत कबीर' की 'प्रस्तावना' में, 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की सं० १९५८ से लेकर सं० १९७९ तक की खोज-रिपोर्टों के आधार पर, ऐसे पचासी ग्रंथों की एक तालिका तैयार की और, इसके साथ उन्होंने यह भी बतलाया कि "यदि स्वतंत्र ग्रंथों की गिनती की जाय तो वे अधिक से अधिक ५६ होंगे" तथा इनमें से भी कई ग्रंथ 'कबीर साहब का महत्त्व बढ़ाने के लिए उनकी प्रशंसा में" लिख दिये गए होंगे। उन्होंने ऐसे कतिपय ग्रंथों के लिपिकाल एवं रचनाकाल की भी चर्चा की। जोधपुर से प्राप्त की गई कुछ ग्रंथों की प्रतिलिपियों तथा उक्त सभी पुस्तकों की भी आलोचना करते हुए, उन्होंने, अंत में उनके पाठों पर भी अपने विचार प्रकट किये और कहा "मेरे सामने अधिक से अधिक विश्वसनीय पाठ श्री आदि गुरु ग्रंथ साहब का ज्ञात होता है" तथा इसके लिए उन्होंने कुछ कारणों का भी उल्लेख किया। कहना न होगा कि, यदि 'सभा' की सं० २००० तक की खोज-रिपोर्टों को ऐसी सूची का आधार मान लिया जाय तो, इन रचनाओं की संख्या एक सौ तीस तक पहुँच जाती है और उसका इधर और भी अधिक हो जाना संभव है।

अतएव, स्पष्ट है कि कबीर साहब की रचनाओं की वास्तविक संख्या निर्धारित करने के लिए सभी उपलब्ध ग्रंथों की गंभीर समीक्षा की जानी चाहिए। इस कार्य को कुछ व्यवस्थित ढंग से डा० एफ़० ए० की (सं० १९८८) ने आरंभ किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'कबीर ऐंड हिज़ फॉलोवर्स' के चौथे अध्याय में, केवल उन्हीं ग्रंथों का विवरण दिया जिन्हें उन्होंने, कबीर साहब की रचना होने के लिए, अपने विचारों के अनुसार, प्रमाणित पाया—शेष ऐसे ग्रंथों का परिचय देने के लिए, उन्होंने एक स्वतंत्र सातवाँ अध्याय लिखा जिसमें उन्होंने इन्हें 'कबीर-पंथीय साहित्य' का नाम भी दे दिया। डा० की द्वारा उल्लिखित पुस्तकों में उन सभी के नाम नहीं आते जिनकी चर्चा उपर्युक्त सूचियों में की गई है और न उनकी समीक्षा सर्वांग पूर्ण ही कही जा सकती है। फिर भी जिन-जिन पुस्तकों का उन्होंने विस्तृत विवरण दिया है और जिनकी विशेषताओं की ओर

उन्होंने संकेत किया है उनके वर्ण्य विषय का सांप्रदायिक होना तथा उनका किन्हीं कबीर-पंथियों द्वारा लिखा भी जाना असंदिग्धरूप से प्रकट हो जाता है। डा० की ने इस प्रकार के ग्रंथों का कबीर साहब की 'जीवनी', उनकी रचनाओं पर की गई 'टीका' तथा पंथ की 'उपासना पद्धति' जैसे शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकरण करने की भी चेष्टा की है। डा० की के अनंतर डा० पी० द० बड़थ्वाल (सं० १९९३) ने भी अपनी पुस्तक 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोएट्री' के 'परिशिष्ट (२)' में इस प्रकार का प्रयत्न किया है। डा० बड़थ्वाल ने विशेषकर उन्हीं पुस्तकों पर विचार किया है जो 'श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस' से प्रकाशित हैं और जो युगलानंद के द्वारा संपादित 'कबीर सागर' अथवा 'बोध सागर' नामक ग्रंथ के ग्यारह भागों में संगृहीत है तथा जिनमें से कुछ की चर्चा डा० की की पुस्तक में भी आ गई है। इन पुस्तकों की संख्या चालिस हैं, किंतु डा० बड़थ्वाल ने, उन्हें अपने सुभीते के अनुसार छः-सात वर्गों में विभाजित करके, उनकी संक्षिप्त आलोचना की है। इसके अनंतर उन्होंने 'सुख निधान' तथा 'अनुराग सागर' जैसे कुछ अन्य ग्रंथों पर भी उसी प्रकार लिखा है और उन सभी को आधुनिक सिद्ध किया है। इस 'परिशिष्ट' के आरंभ में ही उन्होंने कुछ ऐसे ग्रंथों का भी परिचय दे दिया है, जिन्हें वे पंथीय प्रभावों से न्यूनाधिक युक्त समझते हैं; किंतु वहाँ पर भी वे इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि उनमें से कितने पद्यों को वस्तुतः कबीर साहब की रचनाओं के रूप में स्वीकृत करना चाहिए।

इस दूसरे प्रकार के ग्रंथों में डा० बड़थ्वाल ने आचार्य क्षिति मोहन सेन द्वारा शांतिनिकेतन से प्रकाशित कबीर साहब के पदों का उल्लेख किया है, 'वेलबेडियर प्रेस' वाले चार ऐसे ही अन्य संग्रहों की चर्चा की है, 'श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस से छपी साखियों का नाम लिया है और 'आदि ग्रंथ', 'बीजक' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' नामक संग्रहों के विषय में कुछ विस्तार के साथ भी कहा है। परंतु वे इन सभी के संबंध में केवल कुछ आलोचनात्मक वर्णन करके ही मौन धारण कर लेते जान पड़ते हैं, कोई अंतिम निश्चय नहीं कर पाते। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (सं० १९९९) ने भी अपने ग्रंथ 'कबीर' की 'प्रस्तावना' में इन सभी पुस्तकों के विषय में प्रश्न छेड़ा है और इसके साथ बतलाया है कि "मैंने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के निर्णय के प्रसंग में यथासंभव मूलग्रंथों के उपयोग करने की ही चेष्टा की है।" किंतु वे भी इन 'मूलग्रथों' का स्पष्ट परिचय देते नहीं दीख पड़ते। डा० रामरतन भटनागर (सं० २००७) का भी अनुमान है कि "कुछ साहित्य ऐसा है जो निश्चित रूप से कबीर का है, या बहुत कुछ कबीर

का है" और वे भी इसके उदाहरण में क्रमशः 'बीजक', 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' के नाम लेकर उनका वर्णन करते हैं। वास्तव में इन तीन ग्रंथों की ही रचनाओं में कबीर साहब की कृतियों को संगृहीत समझने की प्रवृत्ति इधर के अन्य लेखकों में भी पायी जाती है। कबीर साहब के नाम से उपलब्ध विशाल ग्रंथ-राशि को अभी तक, केवल दो भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित कर, उनमें से एक को तत्वतः 'कबीर-पंथीय' तथा दूसरे को 'कबीर कृत' बतलाने का ही कार्य हो पाया है और दूसरे वर्ग की रचनाओं की संख्या सीमित करने की ओर भी दृष्टि है। अभी तक किसी ऐसे प्रयत्न का परिणाम देखने में नहीं आया जिसमें दूसरे वर्ग की रचनाओं पर वैज्ञानिक ढंग से पूरा विचार किया गया हो, उसमें आने वाले पंथों की छानबीन पूरी सावधानी के साथ की गई हो तथा उनके पाठों का तुलनात्मक अध्ययन कर कोई मत भी स्थिर किया गया हो।

कबीर साहब की मूल कृतियों का कोई प्रामाणिक संग्रह अभी तक ऐसा नहीं मिला जिसके संबंध में कुछ न कुछ संदेह प्रकट न किया गया हो। जिन तीन प्रमुख ग्रंथों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनकी प्रामाणिकता अधिकतर, किसी न किसी परंपरा अथवा उनके पुराने समझे जाने पर आश्रित है। 'आदि ग्रंथ' सिख धर्म के अनुयायियों का सर्वमान्य ग्रंथ है और वह 'गुरुग्रंथ साहब' कहलाकर उनके गुरुओं का प्रतिनिधित्व भी करता है। उसमें आये हुए पदों का संग्रह संवत् १६६१ के भाद्रपद मास की प्रतिपदा को हुआ था और उनके पाठों में, कदाचित् वैसा परिवर्तन भी नहीं हुआ है। 'कबीर-बीजक' भी इसी प्रकार, कबीर-पंथियों का पूज्य और विश्वसनीय ग्रंथ है। किंतु इसके संग्रह की कोई निश्चित तिथि ज्ञात नहीं। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसमें आयी हुई रचनाएँ विक्रम की सतरहवीं शातब्दी में ही किसी समय एकत्र की गई होंगी। 'कबीर-ग्रंथावली' के आधारभूत हस्तलेखों में से एक का लिपिकाल सं० १५६१ बतलाया जाता है जिसे बहुत लोगों ने संदिग्ध माना है। इस कारण, यदि उसकी रचनाओं के साथ पाठ साम्य रखने वाले अन्य ऐसे हस्तलेखों पर विचार किया जाय तो, उनका भी समय विक्रम की उन्नीसवीं शतब्दी के पूर्वार्द्ध तक चला जाता है तथा, प्रायः उन्हीं रचनाओं के कतिपय सांप्रदायिक 'पंच बानियों' में भी आ जाने से, उनकी विश्वसनीयता बढ़ जाती है। ये तीनों ही संग्रह-ग्रंथ हैं और इन तीनों की बहुत सी रचनाएँ एक समान जान पड़ती हैं, केवल भाषा एवं न्यूनाधिक पाठभेदों का अन्तर दीखता है। जो रचनाएँ तीनों में एक समान नहीं हैं और केवल किन्हीं दो में ही एक सी जान पड़ती हैं

उन्हें भी प्रामाणिक मान लेने की ही प्रवृत्ति देखी जाती है। फिर भी ऐसी अनेक रचनाएँ शेष रह जाती हैं जो इनमें किसी न किसी एक में ही पायी जाती हैं और जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने का कोई ऐसा आधार नहीं है। तो क्या, इन तीनों ग्रंथों के केवल बहुत कुछ पुराने अथवा परंपरा से मान्य समझे जाने के ही कारण, इनकी सारी रचनाएँ प्रामाणिक मान ली जा सकेंगी ?

कबीर साहब के लिए कहा गया है कि उन्होंने अपने निरक्षर होने के संबंध में स्वयं कथन कर दिया है। इस कथन का प्रमाण 'कबीर बीजक' की एक 'साखी' द्वारा दिया जाता है जिसमें इस प्रकार कहा गया है—

मसिकागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात ॥१८७॥[1]

अर्थात् न तो मैंने लेखनी हाथ में ली और न कभी कागज और स्याही का ही स्पर्श किया, चारों युगों की बातें मैंने केवल अपने मुख द्वारा जता दी हैं। किंतु क्या इससे उनकी निरक्षरता की स्पष्ट घोषणा सिद्ध हो जाती है ? इससे तो उनका कथन केवल इतना ही जान पड़ता है कि उपदेश देने के लिए मैंने लिखा पढ़ी की आवश्यकता नहीं समझी प्रत्युत चारों युगों की महत्त्वपूर्ण बातें मैंने सबके सामने, मौखिक रूप में ही, प्रस्तुत कर, उनका परिचय करा दिया। जिस 'फ़हम' अथवा ज्ञान की चर्चा इसके आगे आने वाली साखी में की गई है[2] उसका उपदेश देने के लिए ग्रंथ रचना की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वह प्रत्यक्ष अनुभव से संबंध रखता है। इस बात को 'कबीर-बीजक' के ही १६ वें 'सब्द' के अंतर्गत इस प्रकार भी कह दिया गया है—

'मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज, बिनु अच्छर सुधि होई'[3]

'मसिकागद' वाली उपर्युक्त साखी में आये हुए 'चारिउ जुग' शब्दों द्वारा कबीर-पंथ के अनुयायी इस बात का भी समर्थन होना देखते हैं कि कबीर साहब ने वस्तुतः चारों युगों में अवतार धारण किया था और उन सभी के निजी अनुभवों को उन्होंने अपने उपदेशों में प्रकट किया है। किंतु ऐसी दशा में इस

---

१. 'कबीर साहेब का बीजक,' (कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति) पृ० १६०
२. फ़हम आगे फ़हम पीछे, फ़हम बांये डेरी।
फ़हम पर फ़हम निरवारै, सो फ़हम है मेरी ॥ पृ० १०६
३. वही, पृ० १९

रचना को 'कबीर-कृत' स्वीकार करने में ही हिचक हो सकती है। कबीर साहब के मुख से इस भाव की उक्ति की बहुत कम संभावना है।

उपर्युक्त साखी यदि प्रामाणिक सिद्ध की जा सके तो उसके आधार पर यह भी भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि उनके उपदेश की शैली क्या थी और किस बात की ओर वे, अपने प्रवचनों में, विशेष ध्यान दिलाया करते थे। पुस्तक-ज्ञान को वे अधिक महत्त्व कभी नहीं देते थे। 'कबीर-ग्रंथावली में संगृहीत उनकी एक साखी,

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।'[1] इत्यादि,

से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है और पता चल जाता है कि इसे उन्होंने कदाचित्, कभी प्रोत्साहन नहीं दिया होगा। यदि वे लिख सकते होंगे तो भी उन्होंने ग्रंथ-रचना की अपेक्षा मौखिक प्रवचनों को ही अधिक महत्त्व दिया होगा और इन्हीं को उन्होंने अपने प्रचार-कार्य का प्रमुख साधन भी माना होगा—वे अपनी रचनाएँ सत्संगों अथवा प्रवचनों के अवसरों पर आवश्यकतानुसार करते जाते होंगे और उन्हें श्रोताओं में से कई लोग लिख भी लेते होंगे—ऐसी रचनाओं का कभी अस्पष्ट सुन पड़ने के कारण, कभी लेखक के अल्प ज्ञान के कारण अथवा अन्य भी कारणों से विकृत हो जाना भी असंभव नहीं है। इसके सिवाय इस बात की भी संभावना है कि यदि उक्त श्रोताओं में से कुछ ऐसे लोग भी हों जो कबीर साहब की रचनाओं की भाषा से पूर्णतः परिचित न हों तो, वे अपनी समझ के अनुसार उनमें यत्किंचित् मनमाने परिवर्तन भी कर लेते हों। अधिक संभव है कि ऐसे अवसरों पर उनके श्रोताओं ने जितना ध्यान उनकी रचनाओं के विषय अथवा भाव की ओर दिया होगा उतना उनकी भाषा का विचार भी नहीं किया होगा। इस प्रकार कबीर साहब की रचनाओं का, उनके सर्वप्रथम लिपिबद्ध होते समय भी, विभिन्न रूप धारण कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी—जब तक इस बात के लिए कोई पुष्ट प्रमाण न मिले कि उन्होंने इनकी कोई प्रति स्वयं लिखीं थी, इन्हें अपने सामने किन्हीं के द्वारा लिपिबद्ध करा दिया था अथवा अपने उक्त श्रोताओं की लिखी प्रतियों को प्रमाणित ही कर दिया था, तब तक वे विशुद्ध कैसे कही जायँगी? फिर इस समय

१. 'कबीर ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा पृ० ३१)

ऐसी कोई प्रति उपलब्ध भी नहीं जो उनके समय की हो अथवा जो वैसी किसी प्रति की प्रतिलिपि भी समझी जा सके।

कबीर साहब की जो रचनाएँ हमें आज उपलब्ध हैं वे विभिन्न संग्रहों के रूप में हैं। अधिकतर पद, साखियाँ, रमैनिया तथा कुछ अन्य प्रकार की भी हैं। इनमें से कुछ तो 'पंचबानी', 'सर्वङ्गी', 'आदिग्रंथ', जैसे बड़े-बड़े संग्रह-ग्रंथों में, अन्य लोगों की भी रचनाओं के साथ, संगृहीत पायी जाती हैं अथवा कतिपय गुटकों में भी मिलती हैं. नहीं तो उनके 'कबीर बीजक', 'कबीर की बानी', 'सत्य कबीर की साखी' जैसे स्वतंत्र संग्रह भी वर्तमान है। प्रथम प्रकार के सभी संग्रह-ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हैं और न उनमें संगृहीत ऐसे पदों का आज तक किसी ने समुचित अध्ययन कर उससे कोई निश्चित परिणाम ही निकाला है। दूसरे प्रकार वालों में कई एक प्रकाशित हैं, किंतु उनका भी अभी तक यथेष्ट तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाया है। इसके सिवाय, यदि इन दोनों प्रकार के संग्रहों में आयी हुई कबीर साहब की रचनाओं की भाषा तथा उनके बाह्य रूप पर विशेष विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है कि उन्हें कम से कम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं जिनमें से एक पर पूर्वी हिंदी का प्रभाव है, दूसरे में राजस्थानी अधिक है और तीसरे में पंजाबी का पुट है। कभी-कभी कुछ संग्रहों में हमें ऐसी रचनाएँ भी मिल जाती हैं जिन पर मराठी एवं गुजराती जैसी भाषाओं तक का रंग चढ़ गया जान पड़ता है। इस चौथे प्रकार के पद्य पूने से प्रकाशित 'संतगाथा' तथा गुजरात से उपलब्ध एकाध संग्रहों में मिलते हैं और 'गाथा' वालों की संख्या ३०० से भी अधिक है उपर्युक्त सभी संग्रह-ग्रंथों में से किस-किस के पद्य कब-कब संगृहीत हुए इसका ठीक पता नहीं और न यही कहा जा सकता है कि उनके निश्चित आधार क्या रहे होंगे। कबीर-पंथीय ग्रंथ 'कबीर-कसौटी' के अंतिम पृष्ठ पर बतलाया गया है कि "श्री कबीर जी के ग्रंथों की जिल्द १५२१ साल में बन्द हो चुकी है और श्री नानक जी की वाणी की जिल्द १६६१ में बन्द रही है, १४० बरस के पीछे" किंतु 'श्री कबीर जी के ग्रंथों' से लेखक का क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। यदि 'ग्रंथों' शब्द से उसका अभिप्राय 'कबीर बीजक' में संगृहीत रमैनियों, सब्दों, साखियों आदि को पृथक्-पृथक् मानकर बतलाने का हो फिर भी इस बात के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि उस संग्रह-ग्रंथ का भी निर्माण सं० १५२१ में ही हुआ था। 'कबीर-बीजक' के टीकाकार रीवाँ नरेश श्री विश्वनाथ सिंह ने किसी 'पन्द्रह सै यकइस' के साल की चर्चा

अवश्य की है, किंतु यह वहाँ पर 'बयालिस वंश विस्तार ग्रंथ' के धर्मदास के हाथ से, लिखे जाने का समय सूचित करता जान पड़ता है।[१]

प्रसिद्ध है कि 'सर्वङ्गी' एवं 'गुणगञ्जनामा' नामक संग्रह ग्रंथों का निर्माण संत दादू दयाल (सं० १६०१-१६६०) के जीवन-काल में ही हुआ था और इन दोनों के संग्रह-कर्त्ता उन्हीं के दो शिष्य क्रमशः रज्जबजी तथा जगन्नाथ जी थे जिन्होंने ही, कदाचित् सर्वप्रथम, ऐसी पुस्तक-रचना की परंपरा भी चलाई थी। इनमें से 'सर्वङ्गी' में कबीर साहब की ३३६ रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें उनके पद एवं साखियाँ सम्मिलित हैं। दादू-पंथ एवं निरंजनी संप्रदाय के अनुयायियों ने इसके अनंतर 'पंचबानियों' का भी संग्रह किया है जिनमें संत दादू दयाल, संत हरिदास, नामदेव, कबीर तथा रैदास जी की विविध रचनाएँ पायी जाती हैं और कुछ में सेवादास (निरंजनी) के भी कुछ पद्य मिलते हैं। इसी प्रकार इन संग्रहों से मिलते-जुलते बहुत से गुटके भी उपलब्ध हैं, जिनमें अन्य प्रकार की रचनाएँ भी सम्मिलित कर ली गई हैं और इनमें से एक सं० १७६८ का लिखा जयपुर में सुरक्षित है। किंतु अभी तक सबसे प्राचीन 'पंचबानी' के संग्रह काल का ठीक पता नहीं चल पाया है। इस प्रकार के संग्रहों में पायी जानेवाली कबीर साहब की रचनाओं तथा 'काशी नागरी प्रचारणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' के ऐसे पद्यों के पाठों में बहुत कम अंतर दीख पड़ता है। दोनों में आयी हुई साखियाँ अंगों में विभाजित हैं और दोनों के पदों का भी विभाजन रागों के अनुसार किया गया है। इन साखियों एवं पदों की केवल संख्याओं में अन्तर पाया जाता है और दोनों का क्रम भी एक समान नहीं हैं तथा उनके अंगों एवं रागों के विषय में भी कहीं-कहीं असमानता है। किंतु जहाँ तक उनके पाठभेद का संबंध है यह बहुत ही कम है और भाषादि का रूप भी प्रायः ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इन बातों के आधार पर ऐसा अनुमान कर लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि ये सभी संग्रह किसी एक निश्चित परंपरा की ओर संकेत करते हैं जो काफी पुरानी है।

'कबीर-ग्रंथावली' के संपादक स्व० बाबू श्याम सुंदरदास ने उसकी 'भूमिका' में बतलाया है कि जिन दो प्रतियों को उन्होंने उसका आधार माना है उनमें से एक का लिपि-काल सं० १५६१ और दूसरी का सं० १८८१ है जिनमें ३२० वर्षों

---

१. 'तहां बयालिश वंश विस्तार ग्रंथ देख्यो ताको प्रमाण तिलक में लिखि दियो है पोथी पन्द्रह सौ यकइस के साल की, धर्मदास के हाथ की लिखी है और ये ही पोथी में कबीर जी राजा राम ते आगम कहि दियो है" इ० (पृ० २७, न० कि० प्रे० संस्करण)

का अन्तर पड़ता है। इनमें से पहली की अपेक्षा दूसरी में १३१ साखियाँ तथा ५ पद अधिक हैं, किन्तु दोनों में पाठभेद बहुत ही कम है और इस बात को उन्होंने पुस्तक की पाद-टिप्पणियों में उदाहृत भी कर दिया है। किंतु सं० १५६१ वाली प्रति के उसी समय लिखित होने में लोगों ने संदेह प्रकट किया है। 'ग्रंथावली' की 'प्रस्तावना' के पहले दिये गये उस प्रति के अन्तिम पृष्ठ की प्रतिलिपि (फोटो) से पता चलता है कि उसकी पुष्पिका के अंत में जो डेढ़ पंक्तियाँ आयी हैं वे किसी दूसरे हाथ की लिखी हो सकती हैं। ऊपर वाली पंक्तियों की स्याही से उनकी स्याही गाढ़ी है, उनकी लेखनी भिन्न है तथा उनके लिखने का ढंग भी अन्य प्रकार का है। ऊपर वाली पंक्तियों में 'य' एवं 'व' अक्षरों के नीचे विन्दी है, किंतु यह बात उन पंक्तियों में नहीं दीख पड़ती और उनका 'दोशों' शब्द भी ऊपर के 'दोष' से नितांत भिन्न प्रकार का है। इसके सिवाय इस पुष्पिका का 'सपूर्ण' शब्द भी ऊपर की पंक्ति के 'संपूरण' के समान नहीं है। फिर भी इसका 'संवत् १५६१' बहुत स्पष्ट है। इसके अक्षर भी ऐसे नहीं जिन्हें ऊपर की पंक्तियों वाले अक्षरों की अपेक्षा बहुत पीछे का कहा जा सके। फलतः यदि किसी ने संवत् १५६१ का लिपि-काल जोड़कर इस प्रति को प्राचीन सिद्ध करने का कोई जाल भी रचा हो तो उसका यह प्रयत्न, सभी बातों पर विचार करते हुए, संभवतः आधुनिक नहीं हो सकता। प्रो० जुल्स ब्लाख का तो यह भी अनुमान है कि "संभवतः दोनों के लिपिक समकालीन थे"[१] और इस प्रकार सारी प्रति अपने बाह्यरूप के आधार पर भी नई नहीं।

इसके सिवाय जहाँ तक उस प्रति के पाठ का संबंध है वह भी बहुत-सी अन्य पुरानी प्रतियों के समान है। सं० १८८१ वाली प्रति के अतिरिक्त वह जोधपुर लायब्रेरी की सं० १८३० वाली प्रति से भी भिन्न नहीं जान पड़ती और डा० बडथ्वाल उसके पाठ को सं० १८१६ की भी एक प्रति से अभिन्न ही ठहराते हैं। फिर भी इससे यह भी परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि उसमें संग्रहीत सभी रचनाएँ कबीर-कृत अवश्य होंगी। जिन पद्यों में कबीर साहब के चमत्कारों का स्पष्ट वर्णन आता है अथवा जिन्हें हम अन्य कवियों द्वारा रचित भी कह सकते हैं उन्हें, असंदिग्ध रूप से, प्रामाणिक मान लेना उचित न होगा केवल इतना

१. 'Some Problems of Indian Philology' (Bulletin of the School Oriental Studies London Institution Vol. V and VI p. 749.)

निश्चित है कि कबीर-कृतियों के पाठ की न केवल यह परंपरा ही पुरानी है, अपितु इसकी रचनाओं का रूप भी विश्वसनीय माना जा सकता है। ऐसी प्रतियों के पाठ की शुद्धता स्वीकार करके, बहुत दिनों से टीकाएँ भी लिखी जाती आई हैं जैसा कि 'सभा' की 'ब्याना प्रति' (सं० १८५५) से सिद्ध है। इस प्रति की रचनाओं की भाषा कबीर साहब के समय की पश्चिमी हिंदी के अति निकट है और उनके विषय की वर्णन शैली में भी स्वाभाविकता है। उनमें लक्षित होने वाले कबीर साहब के व्यक्तित्व पर वैसा पौराणिक आवरण भी पड़ा नहीं दीखता जैसा अन्यत्र अनेक स्थलों पर जान पड़ता है। इस परंपरा की प्रतियों की एक यह भी विशेषता है कि ये कबीर-पंथ के मठों में कदाचित् कहीं भी नहीं मिलती। ये या तो उन लोगों के यहाँ उपलब्ध हैं जो संत-परंपरा की मौलिक विचार-धारा के प्रति श्रद्धा रखते हैं अथवा उनके पास हैं जो साहित्यिक सामग्रियों के संग्रही हैं।

'कबीर-ग्रंथावली' में जिस प्रति के आधार पर कबीर साहब की रचनाएँ प्रकाशित की गई हैं उसका नाम 'श्री कबीर जी की वाणी' जान पड़ता है। उसके संपादक ने इस 'वाणी' की रचनाओं के अनंतर 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत कबीर साहब की रचनाओं को भी 'परिशिष्ट' में स्थान दे दिया है। उनका कहना है कि "दोनों हस्तलिखित प्रतियों और गुरु ग्रंथ साहब में ४८ दोहे और ५ पद ऐसे हैं जो दोनों में समान है। इनको छोड़कर ग्रंथ साहब में जो दोहे या पद अधिक मिले हैं, वे परिशिष्ट में दे दिये गए हैं। इनमें १६२ दोहे और २२२ पद हैं।"[1] परंतु डा० बडथ्वाल ने लिखा है कि "आदि ग्रंथ में सुरक्षित कबीर की २४० साखियों तथा २२७ पदों में से १०६ साखियाँ तथा ६५ पद कबीर ग्रंथावली में भी पाये जाते हैं।"[2] इसी प्रकार 'संत कबीर' के संपादक डा० रामकुमार वर्मा बतलाते हैं कि "श्री गुरु ग्रंथ साहब में कबीर की साखियों (सलोकों) की संख्या २४३ है। कबीर ग्रंथावली में केवल १६२ है। श्री गुरु ग्रंथ साहब में कबीर की पद संख्या २२८ है, कबीर ग्रंथावली में केवल २२२ हैं।"[3] इन

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', (भूमिका) पृ० ५

२. The Nirgun School of Hindi Poetry (Appendix 2) p. 275 (F. M).

३. 'संत कबीर', (प्रस्तावना) पृ० २१

कथनों में, विभिन्न रचनाओं की संख्या के संबंध में, कुछ मतभेद जान पड़ता है जो, 'आदि ग्रंथ' के विभिन्न संस्करणों अथवा इन लेखकों की गिनती की असावधानी के कारण भी संभव है। परंतु इनसे एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि 'कबीर ग्रंथावली' तथा 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत रचनाओं में पर्याप्त समानता है। प्रसिद्ध है कि 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत रचनाओं को गुरु अर्जुनदेव ने भाई गुरदास द्वारा लिखवाया था और इसका एक अन्य संस्करण पीछे भाई बन्नो ने भी प्रस्तुत किया था। फिर इसे तीसरी बार सिखों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने भी भाई मनीसिंह द्वारा लिखवाया था जिस कारण इन तीनों में कुछ न कुछ भिन्नता आ गई है किंतु इसका कहाँ तक प्रभाव उसमें आयी हुई कबीर साहब की रचनाओं पर पड़ा है यह कहा नहीं जा सकता। कहते हैं कि स्वयं मूल ग्रंथ की भी दो प्रतिलिपियाँ करायी गई थीं और उन पर गुरु अर्जुन देव का हस्ताक्षर भी ले लिया गया था। इनमें से एक मांगट (जिला गुजरात) में थी और दूसरी 'दमदमा साहब' में और यह दूसरी अहमद शाह अबदाली के आक्रमण के ही समय से, उपलब्ध नहीं है। पहली प्रतिलिपि भी, मांगट के पाकिस्तान में चले जाने के कारण, सबकी पहुँच के बाहर हो गई है। केवल मूल प्रति करतारपुर (जिला जालंधर) में रखी है। यदि इनमें से किसी एक के भी पाठ से तुलना की जा सके तो हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकेंगे।

किंतु 'आदि ग्रंथ' के उपलब्ध संस्करणों का भी पाठ उतना अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके 'संशोधन' का साहस करना संभव नहीं रहा है। इनमें स्थूलतः कबीर साहब की रचनाओं का वह रूप अवश्य सुरक्षित मान लिया जा सकता है जिसे गुरु अर्जुन देव के सामने उनके जानकारों ने प्रस्तुत किया होगा और जिसे भाई गुरदास ने गुरुमुखी लिपि में अपने ढंग से लिपि बद्ध कर लिया होगा। पता नहीं ये रचनाएँ उस समय किसी संग्रह के आधार पर बतलायी गई होंगी अथवा उनका पाठ मौखिक रूप में ही रखा गया होगा। अतएव, पाठभेद का आ जाना बहुत कुछ उस सामग्री पर भी आश्रित है जिसका उस समय उपयोग किया गया होगा और उसकी रचनाएँ सं० १६६१ के पहले से उस रूप में अवश्य वर्तमान रही होंगी जिसके विषय में हम आज केवल उपलब्ध प्रतियों के ही आधार पर, अनुमान कर सकते हैं। 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत कबीर साहब की रचनाओं का 'कबीर-ग्रंथावली' में प्रकाशित पद्यों के साथ अभी तक कोई गंभीर तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है। किंतु इस विषय

में साधारण ढंग से विचार करने पर भी, स्पष्ट हो जाता है कि उन दोनो में ही कबीर साहब की कृतियाँ अच्छी संख्या में सुरक्षित हैं। 'आदि ग्रंथ' में 'कबीर ग्रंथावली' की रमैनियों को स्थान नहीं मिला है और उसमें संगृहीत साखियों (सलोकों) का अंगानुसार विभाजन भी नहीं है। विभिन्न अंगों वा शीर्षकों के अंतर्गत साखियों का वर्गीकरण करने की प्रथा पहले नहीं थी। प्रसिद्ध है कि इसे संत दादूदयाल के शिष्य रज्जब जी ने, अपने गुरु की वाणियों का संग्रह करते समय, चलाया था और उसे 'अंगबंधू' नाम भी दिया था। रज्जब जी ने कबीर साहब की भी जिन साखियों का संग्रह अपनी 'सर्वङ्गी' में किया है उन्हें भी विविध अंगों में ही संगृहीत किया है। पता नहीं, 'आदि ग्रंथ' का निर्माण करते समय उसके संग्रह-कर्ताओं को इस बात का पता था वा नहीं, क्योंकि उन्होंने संत दादूदयाल की रचनाओं को भी स्थान नहीं दिया है। 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' के पदों का रागों के अंतर्गत विभाजन हुआ है, किंतु सर्वत्र ऐसा एक ही ढंग से नहीं किया गया है। इसके सिवाय 'आदिग्रंथ' के कतिपय पदों का भाव कबीर-ग्रंथावली' के कुछ पदों में अव्यवस्थित ढंग से प्रकट किया गया भी प्रतीत होता है।

'आदि ग्रंथ' के अंतर्गत कबीर साहब की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रभाव डालती हैं। ऐसी रचनाओं द्वारा वे हमारे निकट एक शुद्ध हृदय मानव के रूप में उपस्थित होते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस संग्रह की रचनाओं में पंजाबीपन का प्रभाव अवश्य लक्षित होता है, किंतु इनकी वर्णनशैली में उतनी ही सादगी और प्रसाद गुण भी है। इनका रचयिता प्रधानतः एक भक्त कवि है जिसके हृदय में गहरी भावुकता है, जिसकी वाणी में दैन्य और कातरता है और जो परम श्रद्धालु भी है। 'कबीर-ग्रंथावली' की अनेक रचनाओं में हमें कृत्रिमता की भी झलक मिल सकती है और उनमें उस प्रवाह की भी कमी है जो यहाँ प्रायः सर्वत्र लक्षित होता है और जिसके कारण इस संग्रह को उससे अधिक प्रामाण्य मान लेने को जी चाहता है। परंतु आश्चर्य की बात है कि हमें यहाँ पर भी कुछ ऐसे पद अवश्य मिल जाते हैं जिनमें कबीर साहब पर किये गए पाशविक अत्याचारों का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन है तथा जिनसे उनका अपने को, किसी अलौकिक दैवी शक्ति द्वारा, बचा लेना भी प्रकट होता है। इस प्रकार के चमत्कारों तथा असंभाव्य घटनाओं के व्याज से आत्मप्रशंसा करना अथवा अपने को भगवान् का विशिष्ट स्नेह भाजन ही सिद्ध करना कबीर साहब के स्वभाव के अनुकूल नहीं। इस संग्रह के अंतर्गत वैसी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी मिल जाती हैं जिनका प्रयोग उनके आलोचकों

को प्रायः बल प्रदान करता है। इस कारण 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत कबीर साहब की रचनाओं का महत्व, चाहे उनके पाठ की दृष्टि से, कितना भी अधिक माना जा सके इसके साथ यह भी मान लेना कि वे सभी रचनाएँ वस्तुतः कबीर कृत भी हैं तर्क संगत नहीं जान पड़ता। यह संग्रह-ग्रंथ कबीर साहब की रचनाओं के प्रचार क्रम की एक अवस्था विशेष को अवश्य सूचित करता है तथा, इसीलिए, इसका एक पृथक परंपरा का प्रतिनिधित्व करना भी सिद्ध होता है।

'कबीर बीजक' की सबसे प्रमुख विशेषता है कि यह कबीर पंथ के अनुयायियों के लिए एक आदरणीय एवं परमपूज्य धर्म ग्रंथ है। इसके पदों को रागों के अंतर्गत विभाजित नहीं किया गया है और न इसकी साखियाँ ही अंगों के अनुसार संगृहीत मिलती हैं। परंतु इनके अतिरिक्त इसमें अनेक अन्य ऐसे छंदों अथवा रागों के भी नाम आते हैं जिनका 'आदि ग्रंथ' अथवा 'कबीर ग्रंथावली' में पता नहीं इसके सिवाय इसकी रमैनियों को भी 'कबीर ग्रंथावली' की ऐसी रचनाओं के समान दुपदी, सतपदी, अष्टपदी वा बारहपदी नहीं कहा गया है। 'कबीर-बीजक' अपनी भाषा एवं शैली के अनुसार भी उक्त दोनों संग्रहों से कुछ विलक्षण प्रतीत होता है। इसकी भाषा, पश्चिमी अथवा राजस्थानी वा पंजाबी से मिलती-जुलती दीख पड़ने की जगह पुरानी पूर्वी हिंदी समझ पड़ती है और इसके अनेक काव्य रूप भी लोक साहित्य की वस्तु हैं। वास्तव में इसमें पायी जानेवाली ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली और हिंडोला आदि की रचनाएँ इसे एक और ही प्रकार का महत्व प्रदान करती हैं। 'कबीर बीजक' की रचनाओं का संग्रह-काल सं० १५२१ बतलाया जाता है जो भ्रमात्मक है और इसकी चर्चा इसके पहले भी की जा चुकी है। पादरी वेस्टकाट ने इसे सन् १५७० अर्थात् सं० १६२७ समझा है, किंतु उन्होंने इसके लिए कोई पुष्ट आधार नहीं दिया है। डा० बडथ्वाल का कहना है कि यह समय सन् १६०३ अर्थात् सं० १६६० से पहले जाता नहीं जान पड़ता क्योंकि 'कबीर बीजक' का दसवाँ 'सब्द' 'संतो, राहु दुनो हम दीठा' संत वषना का तथा उसका बीसवाँ 'सब्द' 'कोई राम रसिक रस पीयहुगे' स्वामी सुखानंद का संत रज्जबजी द्वारा उनकी सर्वङ्गी में, ठहराये गये हैं और वषना का आविर्भाव काल सं १६६० के लगभग है, इसलिए 'बीजक' का संग्रह-काल भी इससे पहले का नहीं हो सकता। 'वषना जी की वाणी' जयपुर से प्रकाशित हो चुकी है जिसमें उसका साठवाँ शब्द "भाई रे ए दून्यूं पष दीठा" से आरंभ होकर चौदह पंक्तियों तक जाता है। उसकी प्रथम आठ पंक्तियाँ थोड़े से पाठभेद एवं क्रमभेद को छोड़कर, शेष 'कबीर बीजक' के ही उक्त पद के समान

हैं[1]। 'कबीर बीजक' में केवल दस ही पंक्तियाँ हैं और इसकी अंतिम दो पंक्तियों का उक्त 'वाणी' की अंतिम छः पंक्तियों से कोई भी मेल नहीं है। 'वाणी' के संपादक का कहना है कि वषना जी का जन्म ईस्वी सन् "सौलह सौ से सोलह सो दस के अन्दर अन्दर का समझना चाहिये" जो सं० १६५७ से सं० १६६७ के लगभग पड़ता है और इसी इसी प्रकार उन्होंने उसके रचना-काल के विषय में भी लिखा है कि यह सन् "१६४० से १६७० तक का समझना चाहिये" जो सं० १६६७ से १७२७ तक पहुँच जाता है। अतएव, इस दृष्टि से 'कबीर बीजक' का संग्रह-काल 'आदिग्रंथ' के समय अर्थात् सं० १६६० से पीछे का बड़ी सरलतापूर्वक, सिद्ध किया जा सकता है। किंतु डा० बडथ्वाल ने यह नहीं बतलाया कि 'सर्वङ्गी' की जिस प्रति से उन्होंने उक्त पद को उद्धृत किया है, उसका लिपिकाल क्या है? जब तक यह बात भी प्रमाणित न की जा सके कि उनकी उक्त प्रति सर्वप्रथम 'सर्वङ्गी' की ही ठीक प्रतिलिपि है अथवा उसमें संग्रहीत रचनाओं की संख्या में कभी वृद्धि नहीं हुई तब तक यह किस प्रकार से निश्चित रूप में स्वीकार कर लिया जा सकता है कि वषना का ही पद 'बीजक' में लिया गया होगा?

'कबीर बीजक' के 'आदिग्रंथ' से पीछे का संग्रह ग्रंथ ठहराये जाने के अन्य कारण भी दिये जा सकते हैं। इनमें से सर्वप्रथम बात जो इस संबंध में बतलायी जा सकती है वह 'कबीर बीजक' की भाषा का अपेक्षाकृत नवीन जान पड़ना है। इसी प्रकार यह भी इसके साथ अनुमान किया जा सकता है कि, यदि 'कबीर-बीजक' जैसा मान्य संग्रह-ग्रंथ 'आदिग्रंथ' के संग्रहकाल के समय वर्तमान था तो, उसकी उपेक्षा करके इसमें ऐसी रचनाएँ ही क्यों संगृहीत की गई जो नितांत भिन्न थीं। 'आदिग्रंथ' एवं 'कबीर की वाणी' वाले पद्यों में जितनी समानता दीखती है उतनी न तो 'आदिग्रंथ' एवं 'कबीर-बीजक' की रचनाओं में है और न 'वाणी' एवं 'बीजक' की ही में। यदि तीनों में संगृहीत केवल पदों की भी तुलना की जाय तो सभी मिलाकर डेढ़ दर्जन भी ऐसे नहीं पाये जाते जिन्हें एक समान कहा जा सके। फिर 'कबीर बीजक' में संगृहीत पद्यों के कबीर-कृत होने से भी पूरा संदेह जान पड़ता है। दो ऐसी रचनाओं की चर्चा ऊपर की गई है। इस संबंध में एक पद भक्त कवि सूरदास (सं० १५३५-१६३८) का भी दिया जा सकता है जो उनके 'सूरसागर' ग्रंथ में संगृहीत है—

---

१. 'वषना जी की वाणी', पृ० ८-९०

२. 'वषनाजी और उनकी वाणी', पृ० ३ एवं पृ० ४

आपुन पौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसैं स्वान काँच मंदिर मैं, भ्रमि भ्रमि भूकि पर्यौ।
ज्यौं सौरभ मृगनाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिर्यौ।
ज्यौं सपने में रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्यौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपनु कूप पर्यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला मैं, दसननि जाइ अर्यौ।
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनैं पकर्यौ ॥२६॥[1]

इस पद को 'कबीर बीजक' में इस प्रकार दिया गया है—

अपनपौ आपुही विसर्यौ।
जैसे सुनहा काँच मंदिर में, भरमत भूकि मर्यौ।
ज्यौं केहरि वपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि पर्यौ।
वैसहि गज फटिक सिला पर, दसनन्हि आनि अर्यौ।
करकट मूठी स्वा दन बिहुरै, घर घर नटत फिर्यौ।
कहहि कबीर ललनी के सुगना, तोहि कौने पकर्यौ ॥७६॥[2]

और इन दोनों की तुलना करने पर पता चलता है कि सूरदास वाले पद की तीसरी एवं चौथी पंक्तियाँ 'कबीर-बीजक' वाले 'सब्द' में नहीं आयी हैं और इन दोनों की अंतिम पंक्तियों में प्रधान अन्तर केवल नाम का ही है। इन दोनों पदों में से एक पहले का और दूसरा पीछे का होगा ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक है। 'कबीर बीजक' वाले पद को अपेक्षाकृत छोटा देखकर कोई कह सकता है कि वह पहले का होगा, किंतु उसमें प्रत्यक्ष कथनशैली तो हमें अधिकतर सूरदास की ही ओर ले जाना चाहेगी और, जब तक इस पद के वास्तविक मूल रचयिता का निर्णय किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर न हो जाय, तब तक संदेह बना ही रहेगा। इसी प्रकार 'कबीर बीजक' की 'विप्रमतीसी' आदि बहुत-सी रचनाओं के संबंध में भी तर्क किया जाना संभव है।

'कबीर बीजक' के ८६ वें पद की एक पंक्ति में 'पीपा' का नाम आता है और उसके पीछे वाली पंक्ति में उनका देहांत हो जाना भी सूचित किया जाता है।

---

१. 'सूरसागर', (का० ना० प्र० सभा संस्करण, पहला खंड, पृ० १२२-३)
२. 'कबीर बीजक', (कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, हरक, पृ० ५१)

ब्रह्मा वरुण कुबेर पुरंदर, पीपा और प्रह्लादा।
हिरनाकुस नख वोद्र विदारे, तिनहुँ को काल न राखा ॥[1]

इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट है कि उक्त पीपा की गणना ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इंद्र एवं नृसिंहावतार तक के साथ की जा रही है। इसके पीछे वाली पंक्तियों में फिर यह भी बतलाया गया है कि गोरख, दत्त, नामदेव एवं जयदेव का भी इस समय पता नहीं कि वे कहाँ निवास करते हैं। इस प्रकार पीपा नाम का व्यक्ति उन महापुरुषों में है जो न केवल महान् भक्त हो गए हैं, प्रत्युत जो देव तुल्य तक समझे जाते हैं। हमें अभी तक केवल एक ही प्रसिद्ध पीपा का परिचय प्राप्त है जो कबीर साहब के समकालीन तथा उनके गुरुभाई तक समझे जाते हैं। उन पीपा जी की रचनाओं का एक संग्रह 'श्री पीपाजी की वाणी' नाम से उपलब्ध है जिसकी एक हस्तलिखित प्रति की चर्चा 'संत कबीर' की 'प्रस्तावना' में की गई है। उस 'वाणी' से वहाँ पर एक पीपा जी का पद भी उद्धृत किया गया है, जिसमें किये गये कबीर साहब-संबंधी उल्लेख को 'महत्त्वपूर्ण' भी ठहराया गया है। पद का आरम्भ 'जो कलिमांझ कबीर न होते' से किया गया है और उसकी १० वीं पंक्ति के अनन्तर इस प्रकार आता है—

हमसे पतित कहा कहि रहते, कौन प्रतीत मन धरते।
नाना बांनी देषि सुनि श्रवनां, वहौ मारग अणसरते।

और सबके अंत में कहा गया है—

भगति प्रताप राष्यबे कारन, निज जन आप पठाया।
नांम कबीर साच परकास्या, तहां पीपै कछु पाया ॥

जिससे स्पष्ट जान पड़ता है कि इस पीपा की कबीर साहब के प्रति गुरुवत् श्रद्धा है तथा इस पद की सारी पंक्तियों को पढ़ लेने पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है ये उस समय कदाचित् जीवित भी नहीं थे। तो फिर क्या इसी पीपा के संबंध में 'कबीर बीजक' के ८६ वें पद के भी अंतर्गत चर्चा की गई है? यदि हाँ, तो फिर 'बीजक' की प्रामाणिकता में भी संदेह किया जा सकता है और ऐसा अनुमान करने का आधार भी मिल जा सकता है कि उसमें आयी हुई रचनाओं का संग्रह पीछे का है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि 'कबीर बीजक' भी कबीर साहब की रचनाओं की एक पृथक् परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। इस परंपरा के अंतर्गत वे सभी

---

१. 'कबीर बीजक', पृ० ५६

रचना-संग्रह आ जाते हैं जो कबीर पंथ के अनुयायियों द्वारा मान्य समझे जाते हैं तथा जो उनके मठों में मौखिक रूप में भी प्रचलित हैं। 'सत्य कबीर की साखी' जिसका युगलानन्द जी द्वारा, सं० १६०० और सं० १८४२ की प्रतियों के आधार पर संपादित होना समझा जाता है इसी परंपरा में आती है और इसी में वे संग्रह भी लाये जा सकते हैं जो 'वेलबेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हैं। आचार्य क्षिति मोहन सेन द्वारा संपादित कबीर की रचनाओं का संग्रह भी इसीमें सम्मिलित कर लिया जा सकता है। इस परंपरा में आने वाले संग्रह-ग्रंथों की संख्या बहुत बड़ी है, किंतु इन्हें विश्वसनीय मानने वालों की यह भी धारणा है कि इन सभी में 'कबीर बीजक' सर्वमान्य है। 'कबीर-बीजक' के मूल अथवा उनके टीका वाले संस्करणों का भी, कई स्थानों से, प्रकाशन हो चुका है और उनमें कुछ-न-कुछ अंतर भी पाया जाता है। पूरनसाहब की 'त्रिज्या' टीका के साथ प्रकाशित संस्करण में 'आदि मंगल' नहीं है और मेंही दास वाली टीका के संस्करण में भी इसका अभाव है। किंतु रीवाँ नरेश श्री विश्वनाथ सिंह की 'पाखंड खंडिनी' टीका वाले संस्करण में तथा रे० अहमदशाह के अंग्रेजी अनुवाद वाले में भी यह वर्तमान है। 'आदि मंगल' का समावेश 'मूल बीजक' के दरभंगा तथा 'वेलबेडियर प्रेस' वाले संस्करणों में भी किया गया है और ऐसा अन्यत्र भी हो सकता है। परंतु श्री विश्वनाथ सिंह तथा रे० अहमद शाह वाले उक्त संस्करणों के अंत में जो 'सायर बोजक' के पद भी आते हैं वे औरों में नहीं दीख पड़ते। इन दोनों में से, 'आदि मंगल' में सृष्टि विषयक चर्चा की गई है और 'सायर बीजक के पद' में 'बीजक' के वर्ण्य विषय की ओर संक्षिप्त संकेत जान पड़ता है। 'कबीर बीजक' के अन्य ऐसे खंडो की संख्या ग्यारह है जिनके नाम रमैनी, शब्द, चौंतीसी, विप्रमतीसी, ककहरा, वसंत, चाँचर, बेली बिरहुली, हिंडोला एवं साखी हैं। किंतु उसके सभी संस्करणों में इनका क्रम एक समान नहीं है और कभी-कभी इनमें आये हुए पद्यों की संख्या में भी अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए श्री विश्वनाथ सिंह तथा रे० प्रेमचंद जैसे कुछ लोगों के संस्करणों में शब्दों की संख्या ११३ की है और महंत मेंथी गोसाईं के मानसर वाले मूल संस्करण में यह केवल ११२ ही है जहाँ अन्य संस्करणों में यह ११५ की दीख पड़ती है और अधिक संख्या वाले शब्द अंत में ही जोड़े भी गए हैं। इसी प्रकार 'कबीर बीजक' में संगृहीत साखियों की संख्या के संबंध में भी मतभेद जान पड़ता है। महंत मेंथी गोसाईं वाले संस्करण में इनकी संख्या केवल २६७ ही दीख पड़ती है, किंतु पूरन साहब, काशीदास, विचारदास आदि

के संस्करणों में यह ३५३ की है, श्री विश्वनाथ सिंह वाले में ३६६ है रे० प्रेमचंद वाले में ४२४ और रे० अहमद शाह वाले में ४४५ तक पहुँच गई है तथा हनुमानदास वाले बड़ोदा संस्करण में यह फिर ४४४ तक ही रह गई है।

'कबीर बीजक' की रमैनियों के क्रम के विषय में एक जनश्रुति भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि कबीर साहब के दो शिष्य जग्गोदास और भग्गोदास नामक थे जिनकी माँ को उन्होंने 'कबीर बीजक' की मूल प्रति, अपने अंत काल के पहले, दे दी थी। पीछे इन दोनों में विवाद चला कि यह 'ग्रंथ' मेरी सम्पत्ति है और प्रत्येक दूसरे के हाथ में उसका जाने देना सहन नहीं कर सकता था। उनकी माँ ने, अंत में, बीच बिचाव करके इसे दोनों को ही दे दिया, किंतु एक की प्रति की रमैनियों का आरंभ 'जीव-रूप' वाली रमैनी से तथा दूसरे की प्रति रमैनियों का 'अन्तर ज्योति' वाली रमैनी से होना स्पष्ट कर दिया। इनमें से 'गोसाँई श्री भगवान साहब का पाठ' कहकर जो 'मूल बीजक' मानसर (जिला सारन) से प्रकाशित हुआ है उसमें रमैनियों का आरंभ 'अंतर जोति शब्द एक नारी' वाली ही रमैनी से हुआ है और 'जीव रूप एक अंतर बासा' वाली रमैनी इसके अनन्तर दूसरी रमैनी बनकर आती हैं। इस क्रम का अनुसरण पूरन साहब की 'त्रिज्या,' टीका विचारदास की 'विरल' टीका तथा वेलबेडियर प्रेस एवं हरक वाले मूल बीजक के संस्करणों में भी किया गया है। किंतु श्री विश्वनाथ सिंह की टीका, रे० अहमद शाह के अंग्रेजी अनुवाद तथा महर्षि शिव-व्रतलाल एवं हनुमानदास की टीकाओं वाले संस्करणों में यह क्रम उलटा है। इनमें रमैनियों का आरंभ 'जीव रूपयक अन्तर बासा' वाली रमैनी से ही होना है और 'अन्तर ज्योति' वाली रमैनी इन सभी में दूसरी बनकर आती है। इस प्रकार ये संस्करण, उक्त जनश्रुति के आधार पर, जग्गोदास वाले क्रम का अनुसरण करने वाले कहे जा सकते हैं। परंतु पद्यों के किसी निश्चित क्रम की ओर विशेष ध्यान देने की प्रथा अब उतनी दृढ़ रह गई नहीं जान पड़ती क्योंकि हनुमानदास जैसे 'कबीर बीजक' के संपादकों वा टीकाकारों ने उस ग्रंथ के 'शब्दों' तक के भी क्रम में फेर फार कर दिया है।

'कबीर-बीजक' में संगृहीत रचनाओं की एक यह विशेषता है कि उनमें सृष्टिरचना-विषयक वर्णनों की भी प्रचुरता है, कबीर साहब यहाँ पर न केवल, किसी दार्शनिक की भाँति, विश्व के मूल तत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं, अपितु उसके विकास क्रम का भी प्रश्न छेड़ते हैं। इस विषय को पीछे कबीर-पंथ में भी बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और उसकी कुछ रचनाएँ इसी कारण, पुराणों

जैसी भी बन गई हैं। स्वयं कबीर साहब तथा उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में भी, इसके आधार पर, पौराणिकता का समावेश कर दिया गया है। इससे हम उनके सुंदर लोक जीवन की अनुपम झाँकी पाने से वंचित कर दिये गए हैं और जहाँ कहीं वे, मानिकपुर आदि के प्रसंगवश, हमारे निकट आते भी जान पड़ते हैं वहाँ भी वे केवल एक शास्त्रार्थ पटु व्यक्ति वा सुधारक के ही रूप में दीखते हैं। फिर भी कबीर-बीजक में संगृहीत पद्यों के विविध काव्यरूपों पर दृष्टि डालते समय, हमें उसके संग्रह-काल में प्रचलित लोकगीतों का भी स्मरण हो आता है और, उन्हें कबीर-कृत मान लेने पर, हमारी धारणा कुछ ऐसी होने लगती है कि किस प्रकार वे, सर्वसाधारण के बीच रहते हुए जन-जीवन के सम्यक् उत्थान के प्रयत्न करते रहे होंगे। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी सरल भाषा में व्यक्त कर उन्हें लोक प्रचलित माध्यमों द्वारा उनका सब तक पहुँचाने का कार्य जितना 'कबीर बीजक' में संगृहीत रचनाओं द्वारा उदाहृत किया जा सकता है उतना अन्य ऐसे संग्रहों में संगृहीत पद्यों द्वारा संभव नहीं है। 'कबीर बीजक' के कबीर साहब, अन्य संग्रहों वाले कोरे सहृदय एवं स्पष्टवादी भक्त मात्र न रहकर, एक तार्किक, प्रचारक, लोक चतुर एवं व्यंग्यकर्ता व्यक्ति भी हैं।

कबीर साहब : सिद्धांत और साधना

कबीर साहब के वास्तविक सिद्धांत क्या थे इस विषय में मतभेद जान पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि काशी जैसे नगर के वातावरण में रहकर उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश व्यतीत किया था और वे रामानंद स्वामी के शिष्य भी थे इस कारण उनका हिंदू धर्म का अनुयायी तथा वैष्णव होना भी स्वाभाविक था। ये लोग अपने इस मत की पुष्टि में उन बातों का उल्लेख करते हैं जिनकी चर्चा उन्होंने अपनी रचनाओं में विशेष रूप से की हैं। इनका ध्यान उनके द्वारा वैष्णवों के लिए प्रयुक्त प्रशंसात्मक शब्दों की ओर जाता है और ये, उनकी ब्राह्मणों की कटु आलोचनाओं में भी, हितैषिता के ही भाव ढूँढ़ निकालते हैं। कबीर साहब ने अपने इष्टदेव के प्रति जो 'राम', 'हरि', 'मुकुंद' जैसे शब्द कहे हैं वे भी इस बात का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। फिर भी कुछ दूसरे लोगों की ऐसी धारणा है कि वे वैष्णव न होकर वस्तुतः एक वेदांती थे और वे सगुण-वाद में कभी विश्वास नहीं करते थे। अपने इष्टदेव के लिए उनका बार-बार 'अगम', 'अगोचर' और 'अकथ' जैसे शब्दों का प्रयोग करना ही इस बात को सूचित करता है। फिर, इस प्रकार उनकी निर्गुण ब्रह्म के प्रति आस्था एवं उसकी प्राप्ति के लिए योगसाधना की चर्चा करते हुए, उन्हें देखकर अन्य लोगों ने यह भी अनुमान किया है कि वे एक पूरे योगी रहे होंगे और उनका संबंध नाथ पंथियों से भी जोड़ना चाहिए।

परंतु ऐसा मतभेद, कबीर साहब को केवल हिंदू धर्मावलम्बी मानकर ही, नहीं खड़ा होता। जिन लोगों ने उनके माता-पिता के जुलाहा होने की ओर ध्यान दिया है और उनके वैसे वातावरण में रहकर पालन-पोषण पर विचार किया है वे उनका मुस्लिम होना अधिक संभव समझते हैं और उनकी धारणा है कि वे एक 'बेशरा' सूफ़ी भी रहे होंगे। कबीर साहब ने जो अपने इष्टदेव के प्रति गंभीर प्रेमभाव प्रकट किया है तथा उसके विरह में अपनी बेचैनी भी व्यक्त की है यह, उनकी दृष्टि में, इस बात के लिए दृढ़ आधार है। स्वय कबीर साहब का 'कबीर' नाम तथा उनकी कपड़ा बुनने की जीविका भी, उनके अनुसार इनका मुस्लिम होना ही सिद्ध करती है। किंतु ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो कबीर साहब की रचनाओं में दीख पड़ने वाले फुटकल विचारों के आधार पर उन्हें अन्य मता-

वलम्बी कहें। कुछ लोग, उनके द्वारा प्रयुक्त 'शून्य', 'मधि', 'निरंजन' जैसे शब्दों का आश्रय लेकर, उनपर बौद्ध धर्म के प्रभाव का आरोप करते हैं अथवा, उनकी कुंडलिनी योग जैसी साधनाओं की ओर विशेष प्रवृत्ति देखकर, उन्हें नाथपंथियों तक की परंपरा में ला देते हैं। इसी प्रकार बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि कबीर साहब ने किसी ऐसे धर्म वा सम्प्रदाय का सीधा अनुसरण नहीं किया था, प्रत्युत उन्होंने उन सभी के सार तत्त्व को ग्रहण कर अपनी सार ग्राहिता प्रदर्शित की थी और इसी का उपदेश भी दिया था। इस प्रकार की धारणा वाले लोगों को उनकी रचनाओं में बिखरी हुई उनकी अनेक उक्तियों का भी पूरा बल मिल जाता है।

वास्तव में कबीर साहब की रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा दीख पड़ती है और उनमें से कई की ओर वे इस प्रकार आकृष्ट समझ पड़ते हैं कि उन्हें किसी एक मत विशेष का अनुयायी मान लेना उचित नहीं ठहरता। वे जिस प्रकार ऐसी बातों को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार वे उनकी खरी आलोचना करने पर भी आरूढ़ हो जाते हैं फिर भी इस सबंध में जो सबसे उल्लेखनीय बात है वह यह कि वे किसी धर्म वा संप्रदाय के किसी सिद्धांत विशेष को लेकर नहीं चलते। उनका किसी ऐसे मत की शास्त्रीय समीक्षा से प्रयोजन नहीं है और न वे इसके वाद-विवाद में पड़ना लाभदायक ही समझते हैं। उनकी दृष्टि ऐसे लोगों पर ही अधिक जाती है जो इन मतों का अनुसरण करते जान पड़ते हैं। वे इनके प्रत्यक्ष आचरण की ओर ध्यान देते हैं, इनकी कथनी एवं करनी के बीच महान् अंतर का अनुभव करते हैं और इनकी तज्जन्य त्रुटियों की आलोचना करते हैं। उन्होंने हिंदुओं एवं मुसल्मानों के धर्मग्रन्थों अर्थात् 'बेद' और 'कोरान' के संबंध में यहाँ तक कह दिया है कि उन्हें झूठा ठहराना ठीक नहीं, झूठा तो केवल उसको कहना चाहिए जो उनकी मूल बातों पर पूर्ण विचार करके उनका अनुसरण नहीं करता, जैसे—

"बेद कतेब कहो क्यूं झूठा, झूठा जो नि बिचारै"[1]

और वे, इसी के अनुसार अपना उपदेश देने की भी चेष्टा करते हैं।

एक दूसरी भी बात जो इस संबंध में स्मरण रखने योग्य हैं वह यह है कि कबीर साहब ने कभी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया है और न उन्होंने, किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन किसी ऐसे ढंग से करके, उसका कहीं स्पष्ट निरू-

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ६२, पृ० १०७

पण ही किया है। इसलिए यह अनुमान करना कि उन्होंने शांकराद्वैत वेदांत की बातें बतलायी हैं अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी ऐसी उक्तियों को एकत्र कर उनके आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ संगति बिठाना भी उचित नहीं। इसमें संदेह नहीं कि वे बहुश्रुत रहे होंगे और विविध मतों के अनुयायियों के साथ सत्संग करके उन्होंने उनकी अनेक बातें किसी न किसी रूप में ग्रहण कर ली होंगी तथा उन पर ऐसे कतिपय स्पष्ट वाक्यों तक का प्रभाव दिखलाया जा सकता है। किंतु इसके साथ यह भी विचारणीय है कि इस प्रकार के सिद्धांतों को उन्होंने अंधविश्वास के कारण कहीं नहीं अपनाया है। उन्हें इन्होंने अपने निजी 'बिचार' की कसौटी पर कस लेने का भी प्रयत्न किया है और अपनी अनुभूति में ढालकर स्वयं अपना बना डाला है। कोई भी सत्य किसी एक वा दूसरे की क्रीत वस्तु नहीं और न उस पर किसी के एकाधिकार की ही कल्पना करना न्याय संगत होगा। जिस किसी ने आज तक उसे पूरे बल के साथ हमारे सामने रखा उसकी शक्ति उसकी अपनी निजी अनुभूति में ही केंद्रित रही। कबीर साहब को इस बात में पूरी आस्था जान पड़ती है और उनकी स्पष्टवादिता और निर्भीक आलोचनाएँ भी इसी तथ्य के ज्वलंत उदाहरण हैं।

कबीर साहब के विविध सिद्धांतों तथा उनकी साधनाओं का भी पता लगाते समय हमें कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक तो हमें उनकी ऐसी बातें किन्ही विशेष स्थलों पर एकत्र की गई नहीं दीख पड़तीं। हमें उनकी रचनाओं में बहुत कम ऐसे पद्य मिलते हैं जो केवल एक ही प्रकार के सिद्धांतों की ओर केवल उन्हीं मात्र की चर्चा करते हों। कभी-कभी एक ही पद्य के अंतर्गत अनेक बातों का समावेश पाया जाता है तो कभी-कभी ऐसे प्रसंग नितांत अधूरे भी समझ पड़ते हैं। इसके सिवाय जहाँ कहीं एक ही विचारधारा को व्यक्त करने वाले एक से अधिक पद्य संगृहीत हैं वहाँ भी उनमें प्रायः सामंजस्य नहीं बैठता। फिर कबीर साहब की सर्वमान्य प्रामाणिक रचनाओं का अभी तक हमें कोई संस्करण भी उपलब्ध नहीं है। जिन 'आदिग्रंथ' में संगृहीत रचनाओं, 'कबीर-ग्रंथावली' अथवा 'कबीर बीजक' को विश्वसनीय माना जाता है उनमें भी सर्वत्र एकरूपता नहीं है। उनमें न केवल भाषा एवं शैलियों की भिन्नता है, अपितु एक की कतिपय बातें दूसरे की बातों का स्पष्ट समर्थन तक नहीं करती प्रतीत होती और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उन संग्रहों में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी सम्मिलित हो गए हैं। ऐसी दशा में कबीर साहब के वास्तविक सिद्धांतों के विषय में कोई अंतिम निर्णय करना अथवा उनकी अपनी साधना के स्वरूप एवं क्रियादि के

संबंध में कोई निश्चित धारणा बना लेना युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता और ऐसे प्रयत्नों में भूलों का रह जाना भी स्वाभाविक है।

कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे, किसी भी सिद्धांत को निर्भ्रान्त रूप से सर्वमान्य मानकर नहीं चलना चाहते और न, इस विषय में, उन्हें उसके आधारस्वरूप किसी धर्मग्रंथ की प्रामाणिकता ही स्वीकार है। जितने भी सिद्धांत प्रचलित हैं वे किसी न किसी के अनुभव एवं प्रयोगों पर ही आश्रित रहे होंगे और 'बेद', 'कोरान', जैसे धर्मग्रंथों द्वारा जिन मतों का उपदेश दिया गया है उनकी भी सार्थकता कभी किन्हीं महापुरुषों के अनुभवों में ही घटी होगी। किंतु संभव है, कि सभी व्यक्तियों के अनुभव एक समान न हो सके अथवा उनमें, परिस्थिति एवं वातावरण के अनुसार, कुछ न कुछ विशेषताएँ भी आ जाँय, इसलिए ऐसे सभी किसी की परख अपने निजी अनुभवों में भी कर लेना समीचीन होगा। इसके सिवाय, किसी ऐसे सिद्धांत पर स्वयं विचार करते समय किसी जिज्ञासु की अनुभूति अपने आप गहरी भी होती जा सकती है। जो कुछ परिणाम वह, इस पद्धति के अनुसार, निकाल पाता है वह स्वभावतः उसके जीवन का अंग भी बन जाता है। इसके विपरीत जो सिद्धांत, किसी दूसरे के अनुभवों पर आश्रित मानकर स्वीकार कर लिये जाते हैं वे अपने जीवन के स्तर तक उतर नहीं पाते और न उनका हमें कभी वास्तविक उपयोग ही हो पाता है। उनका आधार केवल अंध विश्वास रहा करता है, और इसी कारण, उनकी स्वीकृति प्रायः अंधानुसरण में ही परिणत हो जाती है। अतएव, कबीर साहब ने ज्ञानी का लक्षण बतलाते हुए भी स्पष्ट कह दिया है—

कथत बकता सुरता सोई। आप विचारै सो ग्यांनी होई ॥[१]

१. दार्शनिक सिद्धांत

(१) परमतत्त्व

कबीर साहब ने अपनी एक पंक्ति में कहा है कि 'मेरे स्वयं विचार करते करते, अपने मन ही मन, सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि भी हो गई"[२] तथा उन्होंने इसी बात को अन्यत्र इस प्रकार भी बतलाया है "मेरे धीरे-धीरे चिंतन करते-करते ही उस निर्मल जल की प्राप्ति हो गई जिसका वर्णन

१. 'कबीर ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा) पद ४२, पृ० १०२
२. 'कबीर ग्रंथावलली', पद २३, पृ० ९९—"करत बिचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया।"

मैं अपने शब्दों में करने जा रहा हूँ।"[1] इस जल का नाम उन्होंने 'रामजलु' भी दिया है और इसी के द्वारा उन्होंने अपनी जिज्ञासा रूपी पिपासा की तृप्ति भी बतलाई है।[2] फिर भी वे उस जल के किसी ऐसे स्वरूप का वर्णन नहीं कर पाते जो सर्व साधारण के लिए भी बोधगम्य हो सके। वे उसे स्वयं अकथनीय समझते हैं और कहते हैं "वह जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका पूर्ण रूप में भी होना संभव नहीं, वह जैसा है वैसा ही है।"[3] उनका यह भी कहना है कि "मेरे सद्गुरु ने मुझे उस तत्त्व की ओर विचार पूर्वक संकेत कर दिया था, किंतु मैं उसे अपने अनुभव के ही अनुसार ग्रहण कर पाया"[4] तथा "मैंने अपने अनुमान के आधार पर ही स्मरण करते-करते 'राम' को कुछ हद तक जान पाया।"[5] उनका कहना है "अपनी स्वप्न जैसी स्थिति में ही मैंने उस निधि का जो 'यत्किंचित्' पाया उसकी शोभा किसी प्रकार गोपनीय नहीं थी, वह अपार थी, अपने हृदय में वह समा नहीं रही थी और उसके आगे मेरी सारी कुप्रवृत्तियाँ अपने आप नष्ट हो गईं"[6]।

इस प्रकार कबीर साहब का यह 'रामजलु' नामक परमतत्त्व अकथनीय बनकर गुणातीत का रूप भी ग्रहण कर लेता है। वे उसे अन्यत्र अलख, निरंजन निरभै, निराकार, शून्य एवं स्थूल से भिन्न अथवा दृश्य एवं अदृश्य से विलक्षण भी ठहराना चाहते हैं।[7] वे कहते हैं कि "उस 'अवगति' की गति का क्या परिचय

---

१. 'आदि ग्रंथ' राग गउड़ी, पद २४—"चेतत चेतत निकसिओ नीरु। सो जलु निरमलु कथत कबीरु॥" २. वही, पद १

३. "जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।" क० ग्रं०, रमैंणी ३, पृ० २३०

४. "सत गुर तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।" वही, पद ३८६, पृ० २१६

५. "सुमिरत हूँ अपनै उनमानां, क्यंचित जोग राम मैं जांनां" वहीं रमैंणी ४, पृ० २३५

६. "क्यंचिति ह्वै सुपिनैं निधि पाई। नहीं सोभा कौं धरौं लुकाई॥" इ० वही, पृ० २३४

७. अलखनिरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥ सुनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥" वही, रमैंणी ३, पृ० २३०

दूँ जिसके नाम ग्रामादि का भी कोई ठिकाना नहीं। उस 'गुनबिहून' को कैसे देखा ही जा सकता है अथवा उसका नाम ही क्या दिया जा सकता है ?"[1] वे इसीलिए उसे तत, परमतत, अनूप तत, निज तत, आप, सबद, परमपद, निजपद, अभैपद, सहज, सुनि, सति, ग्यान, अनंत, उनमन, गगन, सीव, ब्रह्म आदि कई नाम देना चाहते हैं, किंतु, वास्तव में, उन्हें इनमें से किसी भी नाम अथवा उसके किसी पर्याय से भी तृप्ति होती नहीं जान पड़ती। इस प्रकार के नामों की लंबी सूची से ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस अपूर्व वस्तु के रहस्य को व्यक्त करने के लिए कितने प्रकार की चेष्टाएँ की हैं, किंतु फिर भी उन्हें कदाचित् अपनी असफलता का ही बोध हुआ है। इस कारण वे, अन्यत्र उसे कोई सगुण एवं साकार रूप देकर उसके विषय में सृष्टिकर्त्ता होने की भी कल्पना करने लग जाते हैं और कहते हैं—"उसने स्वयं कर्त्ता बनकर कुंभार की भाँति विविध प्रकार की सृष्टि रच डाली है और उनके भीतर से प्रतिविंबित होता हुआ उनके पालन में लग गया है।"[2] "वही गढ़ने वाला, सुधारने वाला तथा नष्ट करने वाला भी है"[3] और उसी को विराट् रूप में भी देखते हुए वे बतलाते हैं "करोड़ों सूर्य वहाँ प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलाश के साथ वहाँ वर्तमान हैं, करोड़ों दुर्गाएँ उसकी सेवा करती हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं......नवग्रह के करोड़ों समूह उसके दर्बार में खड़े हैं......किंतु फिर भी उस ब्रह्म का अंत नहीं मिलता"।[4] कबीर साहब ने कहीं-कहीं उसे विष्णु,[5] नरसिंह[6] अथवा कृष्णावतार[7] के रूपों में भी प्रकट किया है। किंतु उनका यह भी कहना है कि "यदि सातों समुद्रों में स्याही घोल दें, जंगलों की लेखनी बना लें और सारी पृथ्वी के कागज पर लिखें फिर भी उसकी गुणावली नहीं लिखी जा सकती।"[8]

परंतु कबीर साहब के उपर्युक्त वर्णनों के कारण यह समझ लेना भूल होगा कि वे उस तत्त्व को निर्गुण अथवा सगुण कहते हैं। वास्तव में इस प्रकार के वर्णन उनके उन प्रयत्नों के परिणाम मात्र ही कहे जा सकते हैं जो वे, अपनी उस तत्त्वविषयक निजी अनुभूति का स्पष्टीकरण करते समय, विवश होकर करने

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', रमैणी ५ पृ० २३८ २. वही, पृ० २४०
३. वही, पद २७३ पृ० १८१ ४. 'आदि ग्रंथ' राग भैरउ, पद २०
५. 'क० ग्रं०', पद ३६०, पृ० २१८ ६. वही, पद ३७६ पृ० २१४
७. वही, साखी १, पृ० ५७ ८. वही, साखी ५, पृ० ६२

लग जाते हैं। वे यथार्थतः न तो निर्गुणवादी हैं न सगुणवादी ही हैं। उनके अनुसार वह परमतत्त्व निर्गुण एवं सगुण इन दोनों से परे की वस्तु है और वह अनुभव में आने पर भी अनिर्वचनीय है। "उसे किसी भी उक्त वर्ग का मानकर अपना मत निर्धारित करना वास्तविक मार्ग का परित्याग कर भटकना और धोखा खाना ही कहा जायगा। उसे लोग अजर-अमर कह देते हैं, किंतु, वास्तव में, वह 'अलख' है जिसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह तो बिना रूप वा वर्ण का होकर ही सर्वत्र विद्यमान है। जब उसका आदि एवं अंत कुछ भी नहीं, तो उसे पिंड वा ब्रह्मांड के रूप में भी कहना अनुचित होगा। हाँ, यदि, पिंड वा ब्रह्मांड को छोड़ कर सबके परे के संबंध में वर्णन किया जाय तो, उस दशा में हम 'हरि' के स्वरूप का कुछ परिचय दे सकते हैं।"[1] जो, स्वभावतः उक्त प्रकार के किसी भी वर्ग में नहीं रखा जा सकता। यह सत्य, इसी कारण, सबसे निरपेक्ष है और उसे कोई भी नाम देना संभव नहीं है।

कबीर साहब ने उस तत्त्व के लिए कतिपय नामों के प्रयोग केवल सुविधा की दृष्टि से कर दिये हैं। ऐसे नाम कुछ नये नहीं हैं। ये प्रायः वेही हैं जिनका प्रयोग उनके समय में हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती वा नाथपंथी करते आ रहे थे और जो भलीभाँति प्रचलित थे कबीर साहब ने उनका प्रयोग करते समय उनके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की ओर कदाचित् कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उस तत्व को इंद्रियातीत बतलाते हुए भी कहा कि "मैंने इस जगत् में उसे अपने दो-दो नेत्रों से देखने की चेष्टा की और यहाँ मैंने 'हरि' के अरिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को नहीं पाया। मेरे ये नेत्र उसी के अनुराग में लाल हो गए हैं और मुझसे अब उसके सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।...जिस प्रकार कोई बाजीगर अपना ढोल पीट कर तमाशे आरंभ कर देता है और सभी

---

१. संतौ, धोखा कासूं कहिये।
गुंण में निरगुण, निरगुण में गुंण है, बाट छाडि क्यूं बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।
नाति सरूप मरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाके आदि अरू अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छांड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥१८०॥
'कबीर ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृ० १४६

लोग उसे देखने जुट जाते हैं और फिर वह अपने सारे स्वांग को सकेल भी लेता है उसी प्रकार इस जगत् की सृष्टि एवं प्रलय का रहस्य भी जान लेना चाहिए। उस हरि ने ब्रह्मांड के रूप में अपनी लीला का विस्तार कर रखा है जिसे सकेल कर वह फिर अपने रंग में रमण करने लग जाता है।"[1] "यह सारा संसार केवल कहने सुनने मात्र का ही है। उसने इसी में अपने को छिपा रखा है जिस कारण उसे कोई पहचान नहीं पाता"[2] तथा "सृष्टि कर्त्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता ओतप्रोत है।"[3]

(२) जीव तत्त्व

कबीर साहब के परमतत्त्व वाले परिचय से स्पष्ट है कि उस वस्तु के अतिरिक्त कहीं कोई भी अन्य प्रकार का तत्त्व नहीं। इसलिए जीवात्मा कहा जाने वाला तत्त्व भी स्वभावतः उसी में आ जाता है। "हरि में पिंड है और इस पिंड में ही हरि हैं, और वही सर्वमय तथा निरन्तर विद्यमान है।"[4] इसी कारण उन्होंने इस शरीर के भीतर समझे जाने वाले आत्म तत्त्व के लिए बतलाया है कि "न तो यह मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है और न शेख़ ही है।......यह तो उस राम का केवल एक अंश रूप है और यह उसी प्रकार नहीं मिट सकता जैसे कागज के ऊपर से

---

१. दुइ दुइ लोचन पेखा। हउ हरि बिन्दु अउरु न देखा॥
नैन रहै रंगु लाई। अब बेगल कहनु न जाई॥
... ...
बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥
(आ० ग्रं०, रागु सोरठि ४)

२. कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा। जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हां॥
सत रज तन थैं कीन्ही माया। आपण मांझैं आप छिपाया॥
(क० ग्रं०, रमैंणी २ पृ० २२९)

३. 'खालिकु खलक महि खालिकु, पूरि रह्यो सब ठाईं॥'
(आ० ग्रं०, राग विभास प्रभाती, पद ३)

४. 'आदि ग्रंथ', राग गौड़ पद ३

स्याही का चिह्न नहीं मिटा करता अर्थात् वह भी नित्य एवं निर्विकार है।"[१] "यह शरीर पंचतत्त्वों को मिलाकर निर्मित कर दिया गया है, किन्तु समझने की बात है कि वे तत्त्व मूलतः क्या वस्तु हैं और, उसी प्रकार, यदि इस जीव तत्त्व को हम बहुधा कर्मबद्ध कह दिया करते हैं तो फिर वह कर्म कहाँ से आ गया है। सच तो यह है कि हरि मात्र ही सभी कुछ है।"[२] जीव तत्त्व मूलतः और तवत्तः वही है जो परमतत्त्व है और उसमें दीख पड़ने वाली सारी विभिन्नताएँ मिथ्या और भ्रमात्मक हैं। कबीर साहब के अनुसार 'भरम करम' अर्थात् हमारे भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा हमारे कर्मों ने ही हमें जन्मांतरों में डाल कर भुला रखा है और हम अज्ञानी भी बने हुए हैं।[3]

(३) माया तत्त्व

कबीर साहब की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि उक्त 'भरम करम' को उन्होंने अनादि माना है, किंतु फिर भी ये, उनके अनुसार, उस परम तत्त्व की रहस्यमयी अभिव्यक्ति की मूल प्रेरक शक्ति 'माया' के आश्रित कहे जा सकते हैं। इस माया को उन्होंने एक परम सुंदरी तथा विश्व मोहिनी नारी के रूप में चित्रित किया है, जिसका स्वभाव ही ठगना और फँसाना है। कबीर साहब ने उस माया का वर्णन करते हुए बतलाया है कि "उस ठगिनी का परित्याग करने की कोई लाख चेष्टा करे वह पिंड नहीं छोड़ती और उसे बार-बार पकड़ती रहा करती है। वह जल, स्थल एवं आकाश सर्वत्र एक समान व्याप्त और कभी माता-पिता, कभी स्त्री-पुत्र, कभी आदर-मान तथा कभी जप-तप एवं योग के रूप में भी बंधन डाल दिया करती है।"[४] "यह हमारे मन के भीतर किसी 'डाइनि' के रूप में रहकर हमारे प्रत्येक अंग को डँस दिया करती है और उसके पाँचों पुत्र (संभवतः काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर) हमें सदा विविध

---

१. **ना इहु मानसु ना इहु देउ। ना इहु जती कहावै सेउ॥**
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता॥

... ...

कहै कबीर इहु राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु॥ 'क० ग्रंथ', पद ५

२. **वही, राग गौड़, पद ३**

३. **'कबीर ग्रंथावली', रमैणी ४, पृ० २२६**

४. **'कबीर ग्रंथवाली' पद ८४, पृ० ११४-५**

प्रकार के नाच नचाया करते तथा अभिभूत किये रहते हैं।"[1] यह माया ही, वस्तुतः, उस परमतत्त्व की नटसारी वा लीला भी है और यही वह सत, रज एवं तम के रूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी है जिसका 'पसारा' सारे जगत् के रूप में लक्षित होता है और जो इस प्रकार के जाल में फँसाकर 'अहेड़े' का शिकार करने निकली हुई है।

इस प्रकार कबीर साहब का जो 'परम तत्त्व' है वही वेदांत के अनुसार "ब्रह्म' कहा जाता है और जिसे वे 'करता' कहा करते हैं वही वेदांत का उपाधिगत 'ईश्वर' है तथा जो उनके यहाँ 'जीव' कहा गया है वह वेदांत का 'जीवात्मा' है। इसी प्रकार जो कबीर साहब की 'माया' है वही, कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान न देने पर, वेदांत की भी त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' बन जाती है और फिर वही, "भरमकरम' का मूलकारण होने से, वेदांत की 'अविद्या' भी ठहरती है। कबीर साहब के परमतत्त्व की एक विशेषता अवश्य है कि वह, वेदांत के ब्रह्म की भाँति, निरा भावात्मक चैतन्य मात्र ही नहीं है, प्रत्युत उनके 'साहेब' के रूप में उसे व्यक्तित्व भी प्राप्त है। वह लीलामय एवं सर्वशक्तिमान पुरुष के रूप में, अपने खेल का सृष्टिरूपी ताना-बाना खड़ा करके उसके पीछे अपने को छिपा लेता है। फिर भी वह, इस्लाम के अल्लाह जैसा शासक नहीं और उक्त सभी प्रकार के गुण उसमें, वस्तुतः, आरोप कर लिये गए हैं। उसका अपना सहज रूप तो सगुण एवं निर्गुण दोनों से परे निरंजन का है और वह सभी विकारों से रहित एवं निराकार भी है। कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत किसी सृष्टि क्रम की कोई ऐसी व्याख्या नहीं की है जो दार्शनिक दृष्टि से विचारणीय है। 'कबीर-बीजक' की कतिपय पंक्तियों में किया गया इस प्रकार का वर्णन पौराणिक बन गया है और उनका प्रामाणिक होना भी असंदिग्ध नहीं।

२. सामाजिक सिद्धांत

(१) सामाजिक स्थिति

कबीर साहब के जो दार्शनिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं वे ही उनके धार्मिक सिद्धांतों के रूपमें भी स्वीकार कर लिये जा सकते हैं। उनके लिए दर्शन एवं धर्म का पृथक्-करण संभव नहीं था, क्योंकि इनके प्रमुख विषयों के प्रति उनका दृष्टिकोण शुद्ध आध्यात्मिक था तथा यही प्राचीन भारतीय चिंतन परंपरा के अधिक अनुकूल भी था। वास्तव में उस समय धार्मिक जीवन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था और, उसके प्रधानतः व्यक्तिगत होने के

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद २३६, पृ० १६८

कारण, उस समय यहाँ सच्ची सामाजिकता का भी अभाव था, जब प्रत्येक व्यक्ति की यह धुन रहे कि मैं किस प्रकार, परमतत्त्व के साथ सम्पर्क स्थापित कर, अपना उद्धार करलूँ और कुछ ऐसे कर्तव्यों का पालन करदूँ जिनके कारण मुझे जन्मांतर की उपलब्धि न हो सके तो, फिर सामाजिक श्रेय का प्रश्न ही कहाँ उठता है और कहाँ इस बात की आवश्यकता का अनुभव हो सकता है कि हमारी आदर्श सामाजिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिये ? 'धर्म' शब्द से मुख्य तात्पर्य पहले जो कुछ भी समझा जाता रहा हो कबीर साहब के समय में वह वस्तुतः सांप्रदायिकता की ओर ही संकेत करता था और, अंधविश्वासों के प्रभाव में आकर, लोग अपने समाज को विश्रृंखलित बना देने के लिए ही, उद्योग शील थे। धर्म का भाव न तो 'मनुस्मृति' (१।१०२) के 'आचार प्रभवो धर्मः' की प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार, कर्त्तव्य पालन समझा जाता था और न उसके उस रूप की ही प्रतिष्ठा थी जिसकी ओर 'महाभारत' (कर्ण पर्व ६६।५६) के श्लोक 'धारणाद्धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः' आदि द्वारा संकेत किया गया है और जिसके आधार पर, बहुत से अनर्थों का परिणाम सँभाल भी लिया जा सकता था। सारांश यह कि उस समय के समाज में कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी और सर्वत्र आचारभेद एवं रूढिवादिता का ही बोलबाला दीख पड़ता था।

(२) परोपकार का महत्त्व

कबीर साहब जैसे संत प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए समाज की उक्त दुरवस्था की ओर ध्यान देना तथा उसके कारण दुःखी लोगों की दशा सुधारने का प्रयत्न करना स्वाभाविक था और इसके लिए उन्होंने कतिपय सिद्धांत भी स्थिर किये थे। उन्होंने अपने जीवन का यह लक्ष्य बना रखा था कि मैं अपने अनुभवों का लाभ उठाने के लिए दूसरों को भी आमंत्रित करूँ और उन्हें अपना जीवन सुधार करने के लिये सजग कर दूँ। उनका कहना है कि "परमात्मा ने ही स्वयं यह उचित समझा कि मैंने जो कुछ अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हें मैं अपनी साखियों द्वारा व्यक्त कर दूँ, जिनसे संकेत ग्रहण कर वे सभी लोग पार हो जाँय जो आज संसार के समुद्र में मग्न दीख पड़ते है।"[१] इस प्रकार कबीर साहब ने जो कुछ

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २६
"हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़े तीर ॥"

इस संबंध में कहा है वह उनकी कर्तव्य शीलता का ही परिचायक समझा जा सकता है। उनका यह दृढ विश्वास है कि जब हम अपने एवं दूसरे के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखते और दूसरे के लाभ एवं हानि को भी जब अपना लाभ एवं हानि समझने लग जाते हैं तभी हमारी उस स्थिति की सार्थकता सिद्ध होती है जिसे निर्वाण की उपलब्धि कहा करते हैं।[१] इसीलिए उनका कहना है कि "अपने अच्छे अथवा बुरे कार्य का परिणाम तत्काल मिल जाया करता है, अतएव, किसी का अपकार नहीं करना चाहिए। यदि हम अपने बायें हाथ से अन्न बोयें और अपने दाहिने हाथ से लोहा बोना चाहें तो दोनों का परिणाम उसी के अनुसार होगा।"[२] वे लोगों को इस बात का परामर्श देते हैं कि "हमें सड़क के उस कंकड़ के समान विनीत बने रहना चाहिए जिसे सब कोई अपने पैरों से रौंद दिया करते हैं। किंतु वह कंकड़ भी कभी किसी राही को कष्ट पहुँचा सकता है, इसलिए हमें धरती की धूल के समान हो जाना चाहिए। किंतु धूल भी किसी के शरीर एवं वस्त्रादि को धूमिल कर दे सकती है, इसलिए हमें चाहिए कि हम उस पानी के समान बन जांय जो उसे धोकर स्वच्छ कर देता है। किंतु वह पानी भी समय-समय पर गर्म अथवा ठंडा होता रहता है जिस कारण वह भी नापसंद किया जा सकता है। अतएव, यदि हमारा यह अभीष्ट हो कि हम सच्चे 'हरिजन' अर्थात् आध्यात्मिक पुरुष बन जाँय तो हमें स्वयं ईश्वर का ही रूप बन जाना चाहिए।"[३]

(३) सामाजिक साम्य

कबीर साहब को हिंदुओं में प्रचलित वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों के तज्जनित मिथ्याभिमान से घृणा थी और इनकी उन्होंने, अपनी अनेक पंक्तियों द्वारा बहुत कड़ी आलोचना कर, इनकी हँसी भी उड़ाई है। उन्होंने ब्राह्मणों को संबोधित करके कहा है कि "यदि तुम अपने को वास्तव में, जन्म से ही उच्च और पवित्र मानते हो तो फिर तुम जन्म लेते समय किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुए।"[४] अर्थात् यदि तुम्हारा भी जन्म वैसे ही अपवित्र मार्ग से है जिससे शूद्र भी उत्पन्न होता है तो फिर तुम्हारा अपने को पवित्रतर मानना उचित नहीं है। वे

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४४

२. "कली काल ततकाल है बुरा करौ जिन कोय।
अनबावै लोहा दाहिणे, बोवै सु लुणतां होय॥" वही, पृ० ५६

३. 'कबीर ग्रंथावली' पृ० ६९ ४. 'आदिग्रंथ' रागु गौडी, पद ७

इसी बात को इस प्रकार भी कहते हैं कि यदि "सृष्टिकर्त्ता का उद्देश्य प्रचलित वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों को महत्त्व देना होता तो वह इनकी सम्यक् पहचान के लिए इनके ललाटों पर तीन रेखाएँ बनाकर ही इन्हें उत्पन्न करता।"[१] तथा "ब्राह्मणों की धमनियों में कभी दूध नहीं बहा करता जहाँ शूद्रों की नसों में केवल रक्त-संचार होता दीख पड़ता है।" ब्राह्मणों[२] के झूठे आत्मगौरव का प्रचार करना सर्वथा निंदनीय है क्योंकि वह स्वभावतः निराधार है और इसके कारण एक मनुष्य एवं दूसरे के बीच व्यर्थ के भेदभाव को प्रश्रय भी मिलता है। कबीर साहब को सभी मनुष्यों के एक ही परमात्मा के मूल से उत्पन्न होने में भी विश्वास था जिससे सामाजिक साम्य आप से आप सिद्ध हो जाता था। उनका कहना था कि "सभी कोई एक ही ज्योति से उत्पन्न हैं तो फिर ब्राह्मण एवं शूद्र का वर्गीकरण कहाँ तक न्याय संगत हो सकता है।"[३] वे हिंदू एवं मुसल्मान में भी कोई मौलिक भेद नहीं पाते और सुन्नत एवं जनेऊ दोनों को कृत्रिम ठहराते हैं।[४] और, यदि इन सभी बातों का मथितार्थ उनके ही शब्दों में कहा जाय तो इस प्रकार भी कहेंगे कि "हम तो सभी को ठीक एक समान समझते हैं, यह सारा जगत् एक ही पानी, एक ही पवन एवं एक ही ज्योति का बना है। सभी बर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनाने वाला भी एक ही है तथा सबके भीतर एकमात्र वही, काठ के भीतर अग्नि की भाँति एक समान व्याप्त है।"[५]

(४) आर्थिक व्यवस्था

कबीर साहब की कुछ बिखरी पंक्तियों द्वारा उनके उन विचारों का भी परिचय मिल सकता है जिन्हें उन्होंने समाज की आर्थिक व्यवस्था के संबंध में प्रकट किये हैं और वे भी उनके उपर्युक्त आधारभूत सिद्धांतों का ही अनुगमन करते हैं। उनका कहना है कि "निर्धन एवं धनवान् दोनों भाई-भाई हैं और जो उन दोनों में अंतर दीख पड़ता है वह प्रभु का नित्य कौतुक मात्र है।"[६] वे स्वयं किसी से कोई वस्तु अपने लिए माँगना नहीं चाहते, प्रत्युत, अपना काम करते हुए, संतोष पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। वे किसी से कुछ भी मांगने को 'मरण

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', २. 'आदि ग्रंथ', रागु विभास प्रभाती, पद ३
३, 'कबीर ग्रंथावली', अष्टपदी रमैणी, पृ० २३६
४. वही, पद ५४, पृ० १०५
५. 'आदिग्रंथ', रागु भैरउ, पद ८ ६. वही, रागु सोरठि, पद ११

समान' समझते हैं[1] और भिक्षावृत्ति को कहीं पर भी उत्साहित करते जान नहीं पड़ते। उनका तो, इस विषय में, यहाँ तक कहना है कि "जब कभी कोई अपना हाथ किसी से कुछ माँगने के लिये फैलाता है उस समय उसके सभी सद्गुण, जैसे, मान, महत्त्व, गौरव एवं स्नेह आदि उसका साथ तुरंत छोड़ देते हैं।"[2] कबीर साहब स्वयं उपार्जित किये द्रव्य के आधार पर जीवन व्यतीत करना सबके लिए उचित समझते थे और इस बात को उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उदाहृत किया था, एक छोटे से परिवार के लिए, जो साधारण स्थिति का हो, उन्होंने एक अपना निजी आदर्श बना रखा था। उनका कहना है "हे भगवन्, भूखे रहने से आपकी भक्ति नहीं हो सकती और मुझे किसी के साथ लेन-देन का संबंध रखना उचित नहीं जँचता। यदि तुम स्वयं मुझे कुछ देना नहीं चाहते फिर भी मैं केवल एक तुम्हीं से माँगकर कुछ न कुछ लेना चाहूँगा। मैं तुमसे दो सेर चून वा आटा माँगता हूँ और इसके साथ ही पाव भर घी तथा नमक भी चाहता हूँ; आधा सेर मुझे दाल भी चाहिए जिससे एक व्यक्ति का दोनों समय के लिए भोजन का प्रबंध हो जाय। फिर सोने के लिए एक चारपाई माँगता हूँ जिस पर एक तकिया तथा रूई से भरा कोई गद्दा भी हो और ओढ़ने के लिए मुझे एक खीधा (कदाचित् कोई सिली हुई ओढ़नी) भी चाहिए। मैंने अभी तक किसी से भी कुछ माँगने की चेष्टा नहीं की है।"[3]

२. कबीर साहब की साधना

(१) आत्म-विचार

कबीर साहब ने जिस अपनी साधना का परिचय प्रधान रूप में दिया है और जो उनकी अन्य सभी प्रकार की साधनाओं का भी मूलाधार मानी जा सकती है वह उनकी आत्म विचार संबंधी साधना है। उनकी उपलब्ध रचनाओं द्वारा हमें पता चलता है कि जो कुछ भी सफलता उन्हें अपने आध्यात्मिक जीवन की दशा उपलब्ध करने में मिली थी वह मूलतः इसी का प्रसाद थी। इस संबंध में, प्रसंगवश, कुछ पहले भी चर्चा की जा चुकी है और कबीर साहब के लिए वहाँ इसके विशेष महत्त्व की ओर भी संकेत किया गया है। कबीर साहब ने इस साधना का कोई स्पष्ट विवरण स्वयं नहीं दिया है और न इसके स्वरूप अथवा क्रमिक विकास का ही कहीं उल्लेख किया है। फिर भी उनके साधारण संकेत द्वारा भी

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ५६ २. वही, पृ० ४६

३. 'आदिग्रंथ', रागुसोरठि, पद ११

सिद्ध किया जा सकता है कि यह केवल कोई सीधी सादी तर्क-पद्धति मात्र ही नहीं है। इसके अनुसार वे केवल अपने ही जीवन की घटनाओं पर नहीं, अपितु विश्व की सारी कार्य-कारण परंपराओं पर भी एक साथ चिंतन करते दीख पड़ते हैं और अंत में, वे जिस सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचते हैं उसका कुछ आभास उनकी इन पंक्तियों में मिल सकता है—

समझि बिचारि जीव जब देखा। यहु संसार सुपन करि लेखा ॥
भई बुधि कछु ग्यांन निहारा। आप आपही किया बिचारा ॥
ताकै चीन्हैं परचौ पावा। भई समुझि तासूं मन लावा ॥[१]

जिससे स्पष्ट है कि उनकी यह साधना कोरी शास्त्रीय (academic) ही नहीं है, प्रत्युत यह अपने साधक की व्यक्तिगत उलझनों को सुलझाने के लिए एक व्यावहारिक 'प्रयोग' जैसी भी है। इसका ही अभ्यास करते-करते हम, क्रमशः, ऐसी बातों पर भी अपना मत निश्चित कर सकते हैं जिनकी समस्याएँ बहुधा बड़े-बड़े दार्शनिकों के भी सामने आया करती हैं। कबीर साहब ने इसके अभ्यास को सदा सक्रिय एवं सजीव बनाये रखने का परामर्श दिया है।

(२) भावभगति

कबीर साहब की आत्म-विचार-संबंधी साधना के लिए जहाँ हमारे मानसिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं को प्रधानता उसकी सफलता के भी लिए अपेक्षित रहती हैं वहाँ 'भावभगति' की साधना का विशेष संबंध हमारे हार्दिक साधनों से है। यदि पहली अधिकतर ज्ञानपरक है तो दूसरी किसी प्रकार हमारी अनुभूति पर आश्रित है। इस 'भावभगति' शब्द से कबीर साहब का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि वे इसकी साधना द्वारा परमतत्त्व की भावमयी वस्तु में लीन रहने का अभ्यास करते हैं। इसीलिए उन्होंने एक स्थल पर इसका परिचय देते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'भावभगति' वस्तुतः 'हरिसूं गठजोरा' मात्र है। इस प्रकार की भक्ति में भी हम उन नव भिन्न-भिन्न पद्धतियों को उपयोग में लाते हैं जिनकी चर्चा साधारण भक्ति के संबंध में की जाती है। किंतु इस 'भावभगति' की नवधा प्रणाली उससे नितांत विलक्षण भी है। यहाँ पर 'श्रवण' की यह विशेषता है कि 'सबद' के सुनते ही जी निकलने सा लगता है सारे देह की सुधबुध खो जाया करती है।[२] 'कीर्तन' में हरिगुण का स्मरण कर

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २३३ २. वही, साखी ३३, पृ० ७१

उन्हें गाने की ज्यों-ज्यों चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों एक तीर सा लगता प्रतीत होता है'[१] 'स्मरण' एवं 'वंदन' में क्रमशः "मेरा मन राम का स्मरण करता है और वही हो भी जाता है" तथा "जब मेरा मन राम का ही रूप हो गया तब शीश किसे नवाया जाय" की दशा का अनुभव होने लग जाता है।[२] 'पाद सेवन' में, इसी प्रकार, 'चरणकँवल मनमानियाँ' की स्थिति आ जाती है और अपने सारे दुखों को भूलकर हम ऐसी सेवा करने लग जाते हैं जिसके बिना हमारे लिए एक क्षण भी जीना कठिन हो जाता है।[३] 'अर्चन' के समय भी "मांहैं पाती मांहिं जल मांहैं पूजणहार"[४] की विचित्र दशा रहा करती है और "साच सील का चौका" देकर आरती के लिए हमें अपने प्राणों को ही उस 'तेजपुंज' के समक्ष अर्पित कर देना पड़ता है।[५] 'दास्य' के समय भी "गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं[६] की दशा आ जाती है और, कबीर साहब के शब्दों में, इस प्रकार कह देना पड़ता है "हे स्वामी, मैं तेरा क्रीतदास हूँ, तू मुझे जहाँ चाहे बेंच डाल। तू ने मुझे यहाँ ऐसी हाट में उतारा है जहाँ पर तू ही गाहक है और बेंचने वाला भी तू ही है।"[७] 'सख्य' में भी, इसी भाँति, "सो दोसत क्रिया अलेख"[८] के कारण सदा "अंकभरे भरि भेटिया"[९] ही होता रहा करता है और, अंत में, 'आत्मनिवेदन' की दशा में तो, अभेद भाव की स्थिति बने रहने के कारण, अपनी कोई सुधबुध ही नहीं रहा करती और ऐसी स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है जिसमें "पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि"[१०] हो जाता है। बूंद समुद्र में खो जाती है और लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल पाती और न उसके ढूँढने वाले का ही कहीं पता लगता है।[११] बस, भीतर ही भीतर मौन रूप में केवल यही कहना पड़ता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकों सौंपता, क्या लागै मेरा॥[१२]

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० ६, पृ० ६३
२. वही, सा० ८, पृ० ५
३. वही, पद ४, पृ० ८८ तथा रमैंणी, पृ० २४१
४. वही, सा० ४२, पृ० १३
५. वही, रमैंणी पृ० २४०
६. वही, सा० १४, पृ० २०
७. वही, पद ११३, पृ० १२४
८. वही सा० १२, पृ० १३
९. वही, सा० २५, पृ० १४
१०. वही, सा० १८, पृ० १४
११. वही, सा० ३, पृ० १०
१२. वही, सा० ३, पृ० १६

कबीर साहब की इस भावभगति के वर्णन से जान पड़ता है कि उनकी यह साधना शुद्ध अद्वैतवादी दृष्टिकोण से संबंध रखती है और उनके आगे प्रेम जैसी द्वैत परक भावनाओं का कुछ भी महत्त्व नहीं है। परंतु बात ऐसी नहीं है। कबीर साहब ने स्वयं इसे 'प्रेम भगति' का भी नाम दिया है,[1] अपने विषय में 'भक्ति नारदी मगन सरीरा' कहा है तथा अनेक ऐसे वर्णनों में वे विशुद्ध प्रेमी से ही दीख पड़ते हैं। उन्होंने कुछ स्थलों पर अपने को, स्पष्ट शब्दों में, 'दुलहिनी' एवं 'बहुरिया' जैसे शब्दों द्वारा अभिहित किया है और वैसा ही अपना परिचय भी दिया है। वे अपने एक पद में 'दुलहिनी' बन कर 'मंगलाचार' गाने का आयोजन करते हैं और इस प्रकार का रूपक बाँधते हैं जिससे प्रकट होता है कि वे अपने 'राजाराम भरतार' के आगमन के उपलक्ष में 'जोबन मदमाती' का उमंग प्रदर्शित कर रहे हैं।[2] वे फिर एक ही दो पदों के अनंतर ऐसी किसी संयोगावस्था का भी चित्रण करते हैं जिसमें वे अपने 'राम पियारे' को अपने पास सदा उलझाये रखना चाहते हैं और इसी के अनुकूल वे अपनी शब्दावली की भी योजना करते हैं। वे यहाँ पर कहते हैं कि मैंने तुम्हें बहुत दिनों पर पाया है।[3] वे इसी प्रकार, उस 'पीव' के साथ मिलन उपलब्ध न कर सकने के कारण, अपने विरह भरे शब्दों के भी प्रयोग किये हैं और ऐसे स्थलों पर कभी-कभी ऐसा लगता है कि वे इन पाक्तियों में एक सूफ़ी बनकर बोल रहे हैं। कबीर साहब की ऐसी दाम्पत्यभावपूर्ण रचनाएँ अत्यंत सुंदर एवं मर्मस्पर्शी हैं। जान पड़ता है, कि ऐसे स्थलों पर उन्होंने अद्वैतवादी होते हुए भी, द्वैतभाव का 'अमृतोपम' रस लेना चाहा है। इस द्वैतभाव का एक अन्य रूप हमें वहाँ पर भी मिल जाता है जहाँ पर उन्होंने अपने 'हरि' को अपनी, 'जननी' के रूप में स्वीकार कर, अपने को उसका 'बालक' होना भी ठहराया है और इसप्रकार, एक अपूर्व वात्सल्य रस की सामग्री उपस्थित कर दी है।[4] वास्तव में कबीर साहब की भावभगति की वे सभी प्रकार की साधनाएँ अपने भीतर ही हुआ करती हैं और इनमें कोई भी बाह्योपचार नहीं है।

(३) नामस्मरण एवं सुरति शब्दयोग

परंतु कबीर साहब की उपर्युक्त सभी साधनाओं में एक बहुत बड़ी कठिनाई इस बात की आ जाती है कि वे निरंतर नहीं चल पातीं। अपने सांसारिक जीवन

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ५ पृ० ८६ २. वही, पद १, पृ० ८७
३. वही, पद ३, पृ० ८७ ४. वही, पद १११, पृ० १२३

के विविध प्रपंचों का मायाजाल तो बना ही रहता है अपना चंचल मन भी उनमें बाधा डाल दिया करता है। वह इतने चंचल स्वभाव का है कि एक ही स्थिति में बना रहना उसे कभी पसंद ही नहीं आता और वह इधर-उधर बहक जाया करता है। फिर मन एवं विषयों का कुछ ऐसा संबंध भी है कि वे एक दूसरे को स्वभावतः नहीं छोड़ना चाहते और अनर्थ करने की होड़ लगा देते हैं।[1] इसके सिवाय हमारे मन की एक यह भी विशेषता है कि वह किसी भी प्रकार दबाया नहीं जासकता। वह विषय विकार की हवा लग जाने पर मर कर भी जी उठता है,[2] और उसकी दशा उस मछली की सी है जो, काटकूट कर छींके पर रखी होने पर भी, किसी कारण दह में पड़ जाय।[3] अतएव इस मन को अपने वश में लाने के लिए पहिले कतिपय युक्तियों को भी काम में लाना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। कबीर साहब ने इसके लिए नामस्मरण का एक बहुत ही उपयोगी साधन चुना है। उन्होंने उसे 'सुरति शब्द योग' का क्रियात्मक रूप भी दिया है जिसके द्वारा मन पर पड़ने वाले सुदृढ़ प्रभाव का रहस्य भी भलीभाँति समझ में आ सके। इस योग की साधना में अपनी 'सुरति' को अपने भीतर निरंतर उठते रहने वाले 'अनाहत नाद' के साथ सद्गुरु की बतलायी युक्ति द्वारा, जोड़ना पड़ता है। वह अनाहत नाद ही वस्तुतः भगवन्नाम है और अपने मन का ही एक सूक्ष्म रूप वह सुरति भी है जिसे उसके साथ जोड़ना आवश्यक होता है। ऐसा करने पर हमारे मन को कहीं इधर उधर भटकने का बहाना नहीं मिलता और वह उस 'नाम' के ही रंग में रँगकर तद्रूप बन जाता है। ऐसी दशा में यदि हम अपने आत्मविचार की साधना करते हैं तब भी कहीं किसी भिन्न क्षेत्र में नहीं जाते और न जब हम भावभगति की साधना अपनाते हैं उस समय उसका पूरा आनंद उठाने से वंचित ही रह पाते हैं।

कबीर साहब की रचनाओं में, इसी प्रसंग में, कुंडलिनी योग अथवा लय योग की भी चर्चा की गई मिलती है। ये दोनों योग भी अपने मन को वश में करने के ही साधन हैं, अंतर केवल इतना ही है कि इनकी क्रियाएँ अपेक्षाकृत अधिक बाह्य एवं प्रत्यक्ष हैं। योगमतानुसार हमारे मेरुदंड तथा रीढ़ की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रंथियों के रूप में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान,

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० ६, पृ० ५६

२. वही, सा० २३, पृ० ३०   ३. वही, सा० २४, पृ० ३०

मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा नामक छः चक्र पाये जाते हैं जिनकी बनावट भिन्न-भिन्न संख्या के दलों वाले कमलपुष्पों जैसी होती है। इन सब के ऊपर अर्थात् हमारे शरीर के सर्वोच्च भाग में एक सहस्रार नामक चक्र भी वर्त्तमान है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि उक्त मूलाधार चक्र के भी नीचे और मेरुदंड के निम्नतम अंश में एक सिकुड़ी हुई शक्ति भी रहती है जिसकी बनावट साढ़े तीन फेरों में बैठी हुई सर्पिणी की सी लगती है और उसी को कुंडलिनी नाम दिया गया है। योगियों का कथन है कि यदि वायु को उलट कर प्राणायाम करें तो उसकी गर्मी से प्रबुद्ध होकर वह कुंडलिनी मेरुदंड के भीतर वाले छः चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ऊपर को चढ़ती है और उक्त सहस्रार तक जाकर लीन हो जाती है और इस क्रिया का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि, कुंडलिनी के उक्त प्रकार से उन्मुख होकर बढ़ने लगते ही, हमारे मन की सारी बिखरी हुई वृत्तियाँ भी सिमिटने लग जाती हैं। इस प्रकार, अपनी इंद्रियों की शक्ति के क्रमशः संकुचित होकर अंतर्मुख होते ही अपना मन आप से आप स्थिर हो जाता है। योगियों का अनुभव बतलाता है कि इस साधना द्वारा हमारी शक्तियों का अपूर्व केंद्रीकरण भी हो जाता है और हमें किसी ज्योति के दर्शन तक होने लग जाते हैं। मन को यदि इस प्रकार वश में कर लिया जाय अथवा यदि उसे किसी प्रकार 'मूंड' अथवा 'बेध' कर मार डाला जा सके तो वह, हमारा शत्रु बने रहने के स्थान पर, हमारे मित्र का सा काम करने लग जाता है और वही 'गोरख,' 'गोविंद' वा 'करता' तक बन जाता है।[1]

(४) सहजशील का अभ्यास

परिणाम के महत्त्व की दृष्टि से देखने पर कबीर साहब की 'सहजसील' के अभ्यास की साधना कदाचित् सबसे उत्कृष्ट है। कबीर साहब ने अपनी एक साखी में बतलाया है कि, वास्तव में 'सहज सील' के ही अभ्यास में मेरे 'मत' का 'सार' आ जाता है। उन्होंने इस साधना के विभिन्न अंगों का संकेत भी अपनी उसी साखी में दे दिया है। उनका वहाँ कहना है कि इसके लिए हमें "सती, संतोषी सावधान, सबद भेदी तथा सुविचारवान् होने की आवश्यकता है जो सद्गुरु के प्रसाद अथवा कृपा पर ही निर्भर है।"[2] उन्होंने वहाँ पर इनमें से किसी भी शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है, किंतु उनकी अन्य रचनाओं के आधार पर

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० १०, पृ० २६

२. वही, सा० २, पृ० ६३

(१) पैरों वाले से पहले बिना पैर वाली ही आ जाती है और मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते;[१]

(२) इस बैल के चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है;[२]

(३) हे मनुष्यों! यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है, इसमें नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है;[३]

(४) हे विद्वन्! जो भी इस सुंदर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो बतलावे, उसकी इंद्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं;[४]

(५) वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है;[५]

(६) वह गतिशील है और गतिविहीन भी है, वह दूर है और निकट भी है तथा सबके भीतर है और सर्वत्र बाहर भी है;[६]

(७) वह बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सर्वत्र गमन करता है;[७]

(८) वह बिना हाथ पैरों का होता हुआ भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होता हुआ भी सुनता है;[८] तथा,

---

१. 'अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत'—(ऋ० २-१-१५२-३)

२. 'चत्वारि शृंगात्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा-बद्धो वृषभो रोर वीति'—(ऋ० ३-४-५८-३)

३. 'इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः'—(ऋ० ४-५-४७-५)

४. 'इह ब्रवीतु य ईयङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः। शीर्ष्णः क्षीरे दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः'—(अथर्व० ६-१ ५)

५. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'—(ईशोपनिषद्, मं० ४)

६. 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः'—(वही, मं० ५)

७. 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः'—(कठोपनिषद् १-२-२०)

८. 'अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः—(श्वेता० ३-१९)

(६) वह अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है और वह इस जीव के अंतःकरण में स्थित है।[१] आदि

इसी प्रकार 'ब्राह्मण' ग्रंथों में भी कई स्थल ऐसे आये हैं जिनकी विचित्र भाषा का अर्थ स्पष्ट नहीं होता और उनके रहस्यों का उद्घाटन बहुधा रूपकों की सहायता से किया जाता है।

उलटवाँसियों के ऐसे प्रयोग बौद्धों के साहित्य में भी मिलते हैं और जैन-साहित्य एवं नाथ-साहित्य में भी इनकी कमी नहीं है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ 'धम्मपदं' के अंतर्गत एक स्थल पर कहा गया है, "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचर सहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है," और उसके आगे फिर इस प्रकार भी आता है, "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।[२]" जिसे सुनकर हमें महान् आश्चर्य होता है। इसके सिवाय बौद्ध धर्म के वज्रयान एवं सहजयान नामक संप्रदायों के अनुयायी सिद्धों ने भी अपने चर्यापदों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये हैं। कण्हपा ने कहा है—

(१) घर में अपनी सास ननद एवं साली की हत्या करके तथा मां को भी मारकर मैं काण्हपा कपाली हो गया;[३] फिर,

(२) कच्छपी का दोहन करके उसे भांडे में नहीं रखा जाता और पेड़ पर की इमली को मगर खा लेता है[४] कहकर कुक्कुरीपा इतना और भी जोड़ देते हैं कि यह बात करोड़ों में से किसी विरले योगी के ही हृदय में प्रवेश कर पाती है, और, इसी प्रकार ढेण्ढणपा का भी कहना है—

---

१. 'अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्यजन्तोः'—(वही; ३-२०)।

२. 'मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥५॥
मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घ पञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥६॥ (पकिण्णवग्गो)

३. 'मारि शासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिआ कान्ह भइल कपाली'—(चर्यापद, ११)।

४. 'दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ। रुखेरतेन्तलि कुम्भीरे खाअ'—(चर्यापद, २)

(३) बैल व्याता है, गाय बंध्या रहती है और पीठक तीनो समय दुहा जाता है, जो चोर है वही साधु भी है और प्रतिदिन शृंगाल सिंह के साथ युद्ध करता रहता है[1] जो केवल थोड़े से ही परिवर्तन के साथ कबीर साहब की एक रचना में भी आया है[2] और जिसके विषय में भी इस सिद्ध कवि ने ठीक उन्हीं के ढंग से 'ढेण्ढणपा के इस गीत को कोई विरला ही समझ सकता है' भी कहा है।

बौद्ध सिद्धों की इस वर्णन शैली को कुछ दूर तक जैन मुनियों ने भी अपनाया है, जिसके अनुसार मुनि रामसिंह ने अपने 'पाहुड़ दोहा' में एक स्थल पर कहा है, "जो उजाड़ को बसाता है और जो बसे हुए को उजाड़ता है, हे योगी ! उस व्यक्ति की बलिहारी है, उसे न तो पाप है और न पुण्य" [3]।

नाथ-साहित्य के अंतर्गत नाथ कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त, योग-साधना-संबधी ग्रंथ भी आते हैं जिनमें ऐसे प्रयोग दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है, "जो योगी प्रतिदिन गोमांस खाता है और अमर वारुणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते हैं; अन्य प्रकार के लोग तो कुल घातक हैं"[4] तथा, "गंगा एवं यमुना के बीच में बाल रंडा तपस्वनी रहा करती है जिसे बलात्कार से ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही विष्णु का परमपद है"।[5] किंतु इन दोनों श्लोकों के आगे इनका आशय भी प्रकट कर दिया गया है। गुरु गोरखनाथ की 'उलटी चरचाएँ' इनसे कहीं अधिक रहस्यमयी हैं और

---

१. बलद बिआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए ए तिना साँझे।......
जोषो चोर सोई साधी ॥ निति निति षिआला षिहे षय जूझअ'—
(चर्यापद ३३)

२. 'कबीर ग्रंथावली', पद ८०, पृ० ११३

३. 'उब्बस बसिया जो करइ, बसिया करइ जु सुएणु।
बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥'—'पाहुड़ दोहा' (करंजा), १६२

४. 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं, पिवेदमर वारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये, इतरे कुल घातकाः ॥'—'हठयोग प्रदीपिका,' उप० ३, श्लो० ४७

५. 'गंगायमुनयोऽमध्ये, बाल रंडा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥'
वही, उप० ३, श्लो० १०६

उनमें से कई एक अंशतः कबीर साहब की पंक्तियों से भी मिलती हैं। गुरु गोरख नाथ कहते हैं—

(१) मछली पहाड़ पर पहुँच जाती है और खरहा जल में मिल जाता है तथा पानी में आग लग जाती है जिसके फलस्वरूप तृषालु व्यक्तियों के लिए रहँट बहने लगती है, और शूल से काँटा निकल कर नष्ट हो जाता है;[1]

(२) चींटी की आँखों में गजेन्द्र प्रवेश करता है, गाय के मुख में बाघिन व्याती है और बारह वर्ष की अवस्था में बाँझ प्रसव करके निकम्मी हो जाती है;[2]

(३) नाथ अमृत वाणी बोलता है, कंवली बरसती है, पानी भीगता है, पड़वे को गाड़कर उसमें खूँटे को बाँधो, दमामा चलता है और ऊँट बजता है, कौए की डाल पर पीपल बैठा है, चूहे के शब्द से बिल्ली भाग रही है, बटोही चलता है, बाट थकती है, डुकरि के ऊपर खाट लेटी है, कुत्ता घुस गया है, और चोर भूंक रहे हैं·········घड़ा नीचे है और पनिहारिन ऊपर है, लकड़ी में पड़कर स्वयं चूल्हा जल रहा है, रोटी अपने पकाने वाले को खाती जा रही है, कामिनी जलती है और अँगीठी उसे तापती है, तथा·········बहू सास को जन्म देती है और नगर का पानी कुँए को जाता है।[3] आदि,

---

१. 'डूंगरि मंछा जलि सुसा, पांणी मैं दौ लागा।
अरहट बहै तृसालवां, सूलै कांटा भागा॥'—'गोरखबानी' (प्रयाग) पद २०, पृ० ११२

२. चींटी केरा नेत्र मैं गज्येन्द्र समाइला, गावड़ी के मुष मैं बाघला बिवाइला' ॥ वही, पद ३४, पृ० १२६

३. नाथ बोलै अमृत वांणी, वरिषैगी कंवली भीजैगा पांणी ॥
गाडि पडरवा बांधिले षूँटा, चलै दमांमां बाजिले ऊटा ॥
कउवा की डाली पीपल बासै, मूसा कै सबद बिलइया नासै ॥
चले बटावा थाकी बाट, सोवे डुकरिया ठौरै षाट ॥
ढूकिले कूकर भूकिले चोर,······तलि गागरि ऊपर पनिहारी ॥
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवण हारा कौं रोटी खाइ ॥
कामिनि जलै अंगीठी तापै,······बहू बियाई सासू जाई ॥
नगरी कौ पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ॥—
वही, पद ४७, पृ० १४१–२

गरीब नाथ कदाचित् कबीर साहब के ही समकालीन थे, किंतु उनकी रचनाएँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। उनके भी एक पद में कहा गया है—"पाताल की मेंढकी आकाश में पहुँचकर यंत्र बजाती है और जिस जगह पर सूर्य एवं चंद्रमा का मिलन होता है वहाँ गंगा एवं यमुना गीत गाती हैं"।[1]

ऐसे अवतरणों के साथ कबीर साहब की उलटवाँसियों की तुलना करने पर प्रत्यक्ष हो जाता है कि वे भी अवश्य इन्हीं की परंपरा की होंगी। किंतु इन्हें पढ़ने पर भी हमें सहसा इस बात का भान नहीं हो पाता कि इनमें निहित रहस्यों का परिचय किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। अतएव, इस प्रकार के पद्यों का निश्चित अभिप्राय समझने की चेष्टा अनेक विद्वानों ने की है और उन्होंने इस विषय में कई प्रकार के अनुमान भी किये हैं। बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में पायी जाने वाली इस प्रकार की कठिनाइयों पर विचार करते हुए, स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने उनकी वर्णन शैली को 'संध्याभाषा' कहा था और इस तांत्रिक शब्द की व्याख्या करते हुए, बतलाया था कि उसमें प्रायः वही अस्पष्टता पायी जाती है जो संध्याकाल के प्रकाश एवं अंधकार के पारस्परिक मिलन में दीख पड़ती है तथा इसी कारण, उसे, दूसरे शब्दों में, 'आलो आंधारी भाषा' भी कहा जा सकता है। परंतु पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने इस शब्द के वास्तविक रूप का 'संध्याभाषा' के स्थान पर 'संधाभाषा' होना अधिक उचित माना और बहुत से प्रमाणों के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि, "ऐसी भाषा के प्रयोग में उसके शब्दों द्वारा व्यक्त अभिधार्थ से नितांत भिन्न आशय का बोध कराना अभीष्ट रहता है"[2] जिस कारण 'संधाभाषा' शब्द से तात्पर्य, उसे अस्पष्ट भाषा न मान कर, 'आभि-प्रायिक वा नेयार्थ वचन' समझना चाहिए। जिस अर्थ को ऐसी भाषा अपने शब्दों द्वारा प्रकट करती जान पड़ती है उससे गूढ़तर भाव उसमें निहित रहते हैं जिस कारण 'आभिप्रायिक' का भी ठीक अर्थ 'विशेष अभिप्राय युक्त' ही होगा। फलतः एक लेखक ने उक्त 'संध्या' शब्द को 'सधिं' के पर्याय रूप में भी

---

१. 'पताल की मीडकी अकास जंत्र बावै।
चंद सूरज मिलै तहां गंग जमुन गीत गावै॥'
'ना० प्र० पत्रिका' (भा० ११, अं० ४, पृ० ४०२)

२. "It is intended to imply or suggest something different from what is expressed by the words" (Indian Historical Quarterly 1928. p.p. 293-4)

स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है और इसके समर्थन में उसने, कबीर-पंथियों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'संधि' का उल्लेख करते हुए, इसे उसका समानार्थक समझा है।[1] परंतु कबीर पंथियों का पारिभाषिक 'संधि' शब्द 'भ्रमिक' वा भ्रमात्मक 'वाणी' के ही लिए प्रयुक्त होता है और वह, वस्तुतः, कबीर साहब की रचनाओं के संबंध में उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'संधि' शब्द का अर्थ 'योग' वा 'संध्योपासना' करने पर भी, इसे उनकी सभी उलटवाँसियों की भाषा का नाम देना युक्तिसंगत नहीं ठहरता। इससे कुछ अच्छा अनुमान, कदाचित् डा० शशिभूषण दास गुप्त[2] का समझा जा सकता है जिसके अनुसार उपर्युक्त 'संध्याभाषा' शब्द का वास्तविक रूप पहले 'संधाभाषा' ही रहा होगा जिसका अभिप्राय 'नेयार्थवचन' था, किंतु, तांत्रिकों की भाषा के अधिकतर पारिभाषिक एवं रहस्यमयी होने के कारण, उसे, समय पाकर, 'संध्याभाषा', अर्थात् अस्पष्ट भाषा का भी रूप दे दिया गया। 'संधा' का क्रमशः 'सध्या' हो जाना केवल किसी लिपिक के भ्रम मात्र का ही परिणाम नहीं था जैसा कि भट्टाचार्य महोदय ने अनुमान किया है।

इस प्रकार के पद्यों का वास्तविक अभिप्राय समझने में पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी उतना सहायक नहीं होता। ऐसे शब्दों के कोशो में प्रायः एक ही शब्द के अनेक अर्थ दिये गए पाये जाते हैं जिनका उपयोग करते समय हमें अपने तर्क से काम लेना पड़ता है जिसमें मतभेद की गुंजायश है। 'कबीर-बीजक' के टीकाकारों ने, इसी कारण, उसमें संग्रहीत पद्यों के कभी-कभी विभिन्न अर्थ किये हैं। पूरन साहब ने यदि उनका अभिप्राय कबीर-पंथ की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के अनुसार बतलाया है तो विश्वनाथ सिंह उनमें सगुणवादी अर्थ ढूँढ़ते दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार स्वयं कबीर-पंथी टीकाकारों में भी इस विषय में मतैक्य नहीं जान पड़ता। जिन ऐसे लोगों की वेदांतदर्शन जैसे विषयों तक पहुँच है उन्होंने उनका तात्पर्य, प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर समझाने की चेष्टा की है, किंतु जिस किसी का कोई ऐसा विशेष आग्रह नहीं उसने उनमें अपने ढंग से किसी न किसी नवीनता की भी उद्भावना करना उचित समझा है।

---

१. पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तवः 'कबीर साहित्य का अध्ययन' (बनारस), पृ० २९२-४

२. Dr. S. Dasgupta: 'Obscure Religious Cults' (calcutta) p. 478.

इसके सिवाय कबीर साहब की कृतियों की मूल भाषा की समस्या ने भी इस ओर कुछ कम भ्रम नहीं उत्पन्न किया है और इसके कारण भी बहुत बड़े मतभेद को प्रश्रय मिल रहा है। आजकल उनकी उपलब्ध रचनाओं के स्थूलतः तीन रूप दीख पड़ते हैं जिनमें से एक पर जहाँ बहुत कुछ पंजाबी प्रभाव है और दूसरे का कलेवर राजस्थानी उपकरणों द्वारा निर्मित लगता है वहाँ तीसरे पर पूर्वी हिंदी का रंग चढ़ा हुआ है और वह उसमें अपने आधुनिक वेष तक में कहीं-कहीं पायी जाती है। इन तीनों के उदाहरण क्रमशः 'आदिग्रंथ', 'कबीर-ग्रंथावली' तथा 'बीजक' में मिलते हैं जिनका तुलनात्मक अध्ययन भी सदा हमारा सहायक नहीं होता। इनमें से किसी भी दो में आया हुआ एक ही पद्य ठीक एक समान नहीं है और उसके आकार-प्रकार तक में भी कभी-कभी महान् अंतर दीख पड़ता है। यदि किसी एक में उसकी पंक्तियाँ बढ़ गई हैं तो दूसरे में घट गई हैं अथवा परिवर्तित हो गई हैं और उनके शब्दों तक में भी हेरफेर है। ऐसी दशा में पारिभाषिक शब्दों का मेल एक ही प्रकार सर्वत्र बिठाना सदा संभव नहीं रहता और उलटवाँसियों का आशय संदिग्ध रह जाता है। जो पद्य जहाँ पर जिस रूप में मिलता है उसका उसी के अनुसार वहाँ अर्थ बतला कर चुप रह जाने में भी पूरा संतोष नहीं होता।

कबीर साहब की उलटवाँसियों में हमें कभी-कभी 'बूझै' अथवा 'बूझहु' तथा 'बिचारै' जैसे शब्दों के प्रयोग दीखते हैं और उनमें अनेक बेसिर पैर की बातें भी भरी जान पड़ती हैं जिस कारण उनकी वर्णन शैली के विषय में हम 'संधा-भाषा' एवं 'संध्याभाषा' दोनों का ही प्रयोग कर सकते हैं। आभिप्रायिक वचनों के समान दीख पड़ने के कारण वे कभी-कभी विविध पहेलियों के रूप धारण कर लेती हैं। उसी प्रकार, पारिभाषिक शब्दों के अधिक संख्या में आ जाने के कारण, तथा उनके आधार पर द्वयर्थक बानियों सी प्रतीत होने से भी, वे बहुधा दृष्टिकूटों तक के स्तर तक पहुँच जाती हैं। पहेलियों एवं दृष्टिकूटों में भी किसी वस्तु वा विषय का ऐसा वर्णन अवश्य पाया जाता है जो उलटवाँसियों की भाँति, प्रत्यक्ष रूप में किसी अन्य वस्तु वा विषय के वर्णन सा लगता है और उनमें लगभग वैसे ही अर्थ-वैचित्र्य की विशेषता भी पायी जाती है। इस प्रकार के पद्यों का गूढ़ आशय सोचते-सोचते मन को एकाग्र करने का स्वभाव पड़ता है, इससे कल्पना एवं अनुमान से काम लेने की शक्ति का विकास होता है और बुद्धि विनोद भी होता है जो कभी-कभी हमारे ज्ञानवर्द्धन तक में सहायता पहुँचा सकता है। किंतु पहेली जहाँ बहुधा, किसी व्यक्ति के सामने कोई समस्या रखकर,

उसकी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए, कही जाती है अथवा बहुत से लोगों के समक्ष उसे रखकर उनमें प्रतियोगिता का भाव जाग्रत किया जाता है और दृष्टि-कूट में किसी वस्तु वा विषय का प्रायः कवि प्रसिद्धियों द्वारा पांडित्यपूर्ण वर्णन कर, उसके बाह्यज्ञान की कसौटी रख दी जाती है। वहाँ उलटवाँसियों का उद्देश्य केवल इस प्रकार मूल्यांकन मात्र ही नहीं रहा करता। इसके सिवाय दृष्टिकूट में लोगों की दृष्टि को चकमा देकर उन्हें भ्रम में डाला जाता है अथवा पाठकों को उनके द्वारा चकित कर काव्य-विनोद किया जाता है। परंतु उलटवाँसी द्वारा, किसी को व्यर्थ का भुलावा न देकर, उसे भरसक वर्ण्यविषय की ओर आकृष्ट किया जाता है जिसका उद्देश्य विनोद न होकर उसे सजग और सचेष्ट करना रहता है। इसी प्रकार पहेली में वर्ण्य विषय के रूप-रंग, आकार-प्रकार अथवा गुण-स्वभाव आदि का श्लेषात्मक संकेत रहा करता है जिसके सहारे उसके मूल की खोज करनी पड़ती है, किंतु उलटवाँसी में श्लेष से कहीं अधिक काम पारिभाषिक शब्दों से लिया जाता है और उसमें बाह्य संकेतों का भी अभाव रहता है।

कबीर साहब की रचनाओं में जो 'सोई पंडित सो तत ग्याता' अथवा 'सो जोगी गुर मेरा' जैसी पंक्तियाँ आयी हैं उनका अभिप्राय, वस्तुतः किसी को खुली चुनौती देना अथवा उसके पांडित्य की जाँच-पड़ताल करना नहीं रहता। वे अपने रचयिता की किसी ऐसी गहरी अनुभूति की ओर संकेत करती हैं जो सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर की बात है। कबीर साहब, ऐसे वाक्यों द्वारा उसके महत्त्व एवं गंभीरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, उसे सब के लिए एक आदर्श मानदंड भी घोषित कर देना चाहते हैं। ऐसी रचनाएँ उन कतिपय साखियों से सर्वथा भिन्न शैली की हैं जो 'बीजक' जैसे संग्रहग्रंथों में यत्र-तत्र संगृहीत हैं[1] और जिन्हें पहेलियाँ कह देना ठीक भी हो सकता है। कबीर साहब के वास्तविक लक्ष्य की ओर यदि समुचित ध्यान न दिया जाय तो, उनकी अनेक उलटवाँसियों को अनमेलों वा ऊटपटांग अर्थ रखने वाले ढकोसलों तक के उस स्तर तक ला देना अनुचित न जान पड़ेगा जहाँ से पहेलियों अथवा दृष्टिकूटों का स्थान अवश्य ही ऊँचा कहा जा सकता है।

उपर्युक्त प्राचीन अवतरणों के साथ कबीर साहब की उलटवाँसियों का

---

१. 'बीजक', साखी ३६ (परबत ऊपर आदि) सा० १३० (चारि चोर चोरी चलै, आदि) तथा सा० १५० (पीपरि एक, आदि)

भी अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनमें से कुछ तो केवल प्रतीकों अथवा पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं, किंतु कुछ का संबंध ऐसे अलंकारों के साथ भी जुड़ा हुआ है जो अधिक असंगति, विषम, विरोध, विभावना, रूपक, विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति जैसे नामों द्वारा प्रसिद्ध है और शेष में इन दोनों का संमिश्रण पाया जाता है। इनमें से प्रतीकों तथा पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित उलटवाँसियाँ किसी रहस्य को और भी गूढ़ बना देती हैं और उनका पूरा परिचय प्राप्त करने के पहले कुछ न कुछ सांप्रदायिक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक हो जाता है। कबीर साहब ने अपनी जिन उलटवाँसियों में राजयोग वा सुरतशब्द योग जैसे विषयों का उल्लेख किया है वे इसी वर्ग में आती हैं। ऐसी रचनाएँ पूर्ण रूप से हमारी समझ में तब तक नहीं आ सकतीं जब तक हमें उन वर्ण्य विषयों का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न हो अथवा जब तक, कम से कम, उनके पारिभाषिक शब्दों का हमें पूरा परिचय न मिल चुका हो। किंतु जो उलटवाँसियाँ केवल अलंकार प्रधान हैं उन्हें समझने के लिए वैसे विशेष ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ा करती और यही बात अधिकतर उन शेष रचनाओं के भी संबंध में लागू हो सकती है जो हमें पहले केवल विचित्र सी जान पड़ती हैं अथवा जो केवल आकर्षण मात्र के ही उद्देश्य से निर्मित रहती हैं। फिर भी हमारे लिए, सर्वप्रथम, प्रत्येक दशा में किसी उलटवाँसी के वर्ण्य विषय की रूप रेखा को ही समझ लेना आवश्यक है और इसके लिए हमें कुछ न कुछ संकेत उन पंक्तियों में ही मिल जाता है जो ऐसी रचनाओं की टेकों अथवा भोगों में आती हैं। उलटवाँसियों की वर्णन शैली का पूरा परिचय भी हमें तभी मिल पाता है जब हम उनके वर्ण्य विषय का कुछ न कुछ संकेत पाकर उस पर सोचने भी लग जाते हैं।

कबीर साहब की उलटवाँसियों का वर्गीकरण विषयानुसार करने पर पता चलता है कि वे प्रधानतः पाँच प्रकार की हो सकती हैं:—

(१) वे जिनमें सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार, जैसे विषय आते हैं और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती है;

(२) वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है;

(३) वे जिनमें ज्ञानविरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है;

(४) वे जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया याग है; और,

(५) वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्व साधारण को किसी न किसी रूप में अपना संदेश देते जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार हम स्थूल रूप में उन माध्यमों का भी वर्गीकरण कर सकते हैं जिनके द्वारा उपर्युक्त अलंकारादि का प्रयोग किया गया है; जैसे,

१. कुछ माध्यमों का आधार गृह, बन, उद्यान वा शरीर जैसी वस्तुएँ हैं;

२. कुछ का संबंध विविध प्राणियों अथवा प्राकृतिक वस्तुओं के विभिन्न कार्यों वा व्यापारों से रहता है;

३. कुछ में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक वा ग्रामीण जीवन का चित्रण पाया जाता है; और शेष में कभी-कभी

४. इन सभी का संमिश्रण मिलता है और, इसी कारण, वे बहुत कुछ अस्पष्ट और भ्रमात्मक भी जान पड़ती हैं।

कबीर साहब साधारण लोक-जीवन का पूरा अनुभव कर चुके थे और प्रायः उसी में रहने वाले लोगों के बीच उन्हें अपना प्रचार भी करना पड़ता था। इसलिए, जहाँ तक संभव हो सका, उन्होंने ऐसे ही माध्यमों को चुना जो अपेक्षाकृत सरल और बोधगम्य थे और उनके सहारे उन्होंने न केवल दृश्यमान बातों की ही चर्चा की, अपितु उन गूढ़ विषयों का भी दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जिनका समझना केवल विशेषज्ञों के ही लिए संभव है।

हम यहाँ पर कबीर साहब की कतिपय उलटवाँसियों के उदाहरण देकर उनके साधारण स्वरूप का परिचय कराने जा रहे हैं। ये सभी 'कबीर-ग्रंथावली' के पाठानुसार उद्धृत की गई हैं; किंतु इनके विषय में पूरा बोध कराने के उद्देश्य से इनके वे पाठांतर भी दे दिये गए हैं जो 'बीजक' अथवा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में मिलते हैं ऐसे पाठांतरों के साथ उनकी तुलना करने पर कभी-कभी बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का पता चल सकता है और उनका अधिक स्पष्टीकरण भी हो जाता है।

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये।
ग्यांन अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाये ॥ टेक ॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ बैठा पांन कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछूए आंनंद सुनावै ॥

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा॥ १२ ॥[1]

इस पद्य का आशय, इसके शब्दों के अर्थानुसार, इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—'हरि के पकाये हुए नमकीन बड़े को जिस किसी ने जला डाला वही, वस्तुतः, उसे खा सका, नहीं तो जो ज्ञानहीन था उसे बार-बार जन्म लेकर धोखे में रहना पड़ा। बलिष्ठ बैल मंदला बाजा बजाने वाला है और साधारण बैल रबाब बजाया करता है जिस पर कौआ ताल देता रहता है, गधा लंबा-सा वस्त्र पहनकर नाचता है और भैंसा नृत्य कराने में मग्न है, सिंह बैठा हुआ पान के पत्तों की काटछाँट कर रहा है और बड़ा चूहा उनकी गिलौरियाँ लाने में व्यस्त है, बेचारी चुहिया मंगलगान करती है और कछुवा आनंद गान सुना रहा है अथवा अपना आनंद प्रकट कर रहा है। कबीर कहते हैं—हे संतो! सुनो, जब गुडरी वा गेंडुरी नाम की कीड़ी ने पर्वत को खा लिया तो चकवा बैठकर अंगारे निगलने लगा और समुद्र आकाश की ओर दौड़ पड़ा।' इस प्रकार कबीर साहब के इस पद की बातों में न तो कोई प्रत्यक्ष संगति दीखती है और न यही जान पड़ता है कि इसकी रचना का वास्तविक उद्देश्य अमुक प्रकार का रहा होगा।

परंतु, यदि इस पद की प्रथम दो पंक्तियों पर थोड़ा सा ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि इनका रचयिता जिस 'बड़े' के खाने की ओर संकेत कर रहा है वह किसी ऐसी वस्तु का प्रतीक है जो नष्ट कर देने पर ही समुचित उपयोग में लायी जा सकती है तथा, यदि अज्ञानवश ऐसा न किया जाय तो मनुष्य को धोखे में पड़कर बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इसी कारण, वह वस्तु नर देह, मानव जीवन वा सांसारिक मन से भिन्न नहीं है जिसका कबीर साहब के अनुसार, पूर्ण संबोधन करने अथवा जिसमें आमूल परिवर्त्तन लाने पर ही, जीवन्मुक्त की सहज दशा उपलब्ध हो पाती है। वह वस्तु अपने मूलरूप में हरि की दी हुई है, किंतु विषय-विकारों के कारण अनुपयोगी हो गई है, उसका एक बार पूर्ण संस्कार अपेक्षित है। उसके जला दिये जाने अथवा मारकर नष्ट कर देने पर ही, फिर अमर जीवन की उपलब्धि हो सकती है (दे० कबीर ऐसैं मरि-मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ[2])। यदि हम, सद्गुरु बचनों द्वारा संकेत पाकर भी, ऐसा करने से चूकते हैं तो फिर निरंतर उसी आवागमन के चक्कर में पड़े रह जाँयगे। इस तथ्य से अपरिचित रहने वाले की पंच ज्ञानेंद्रियाँ (पद में बत-

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ६२   २. वही, सा० ५, पृ० ६६

लाये गए 'मंदलिया धौल', 'रबाबी बैल' 'ताल बजाने वाले कौए, 'नाचने वाले गधे' तथा 'नृत्य कराने वाले भैंसे' के रूप में) अस्वाभाविक ढंग से कार्य करने में लगी रहती हैं और उसका अंतःकरण चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार भी, उसी प्रकार ('पान कतरने वाले सिंह', 'गिलौरा लाने वाले घूंस' 'मंगल गाने वाली उंदरी' तथा 'आनन्द सुनाने वाले कछुए' के रूप में) बेतुके मार्ग की ओर प्रवृत्त होकर मस्ती में डूबे रह जाते हैं और कुछ कर नहीं पाते। हाँ, यदि सौभाग्यवश कहीं (क्षुद्र 'गडरी' की भाँति नीचे कुंडलाकार में बैठी हुई) कुंडलिनी सुषुम्ना के मेरुशिखर को पार कर गई (मानो विशाल पर्वत को खा गई) तो, फिर एक बार चित्त में पूर्ण अनुराग वा विश्व प्रेम का आविर्भाव हो जाता है (जो दहकते अंगारे के समान प्रभावपूर्ण है) और हमारा मन परमात्मा की ओर इस प्रकार उन्मुख हो जाता है जिस प्रकार उमड़ता समुद्र आकाश की ओर दौड़ पड़ता सा प्रतीत होता है। कुंडलिनी-योग द्वारा 'शक्ति' एवं 'शिव' का मिलन संभव होता है जो आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रतीक है और ऐसे ज्ञान की उपलब्धि के अनंतर कर्मों का जल कर नष्ट हो जाना भी अवश्यंभावी समझा जाता है।[१] यही स्थिति है जिसमें अमर जीवन का आरंभ होता है और नर देह, मानव-जीवन अथवा अपने मनके सदुपयोग का सुअवसर भी मिलता है।

'गुरुग्रंथ साहिब' के अंतर्गत कबीर साहब के इस पद का एक दूसरा पाठ मिलता है और तदनुसार उसके भावार्थ में भी बहुत कुछ अंतर आ जाता है। दोनों में प्रयुक्त हुए प्रतीकों में पर्याप्त समानता दीख पड़ती है और उनके कई वाक्य भी प्रायः एक समान हैं, किंतु उनके भाव भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' वाला पद इस प्रकार है—

फीलु रबाबी बलदु पषावज, कउआ ताल बजावै ॥
पहिरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा भगति करावै ॥१॥

---

१. ज्ञान की आग द्वारा कर्मों के जल जाने का वर्णन 'भगवद्गीता' में भी इस प्रकार आता है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

तथा, यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः ।
ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
(अध्याय ४)

राजाराम ककरीआ बरे पकाए ।।
किनै बूझन हारै खाए ।।रहाउ।।
बैठि सिंघु घरि पान लगावै, घीस गल उरे लिआवै ।।
घरि घरि मुसरी मंगलु गावहि, कछुआ संषु बजावै ।।२।।
बंस को पूतु बीआहन चलिआ, सुइने मंडप छाये ।।
रूपकंनिआ सुंदरि बेधी, ससै सिंघ गुन गाए ।।३।।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु, कीटी परबतु खाइआ ।।
कछुआ कहै अंगार भिलोर, उलूकी सबदु सुनाइआ ।।४।।[1]

जिसका आशय शब्दार्थ के अनुसार, इस प्रकार समझा जा सकता है—'हाथी रबाब बजाने वाला है, बैल परवावज बजाता है और कौआ ताल बजाता है, गधा लंबा वस्त्र पहन कर नाचता है और भैंसा भक्ति कराता है। राजाराम ने ककड़ी के बड़े पकाये जिन्हें किसी समझने वाले ने ही खाया। सिंह घर में बैठा पान लगा रहा है, घीस गिलौरियाँ ला रहा है, चुहिया घर-घर में मंगल गा रही है और कछुआ शंख बजा रहा है। उच्चकुल में उत्पन्न पुत्र विवाह करने जा रहा है जिसके लिए सोने का मंडप छाया गया है। वेदी पर परम सुंदरी कन्या है जिसके गुण खरहा और सिंह गा रहे हैं। कबीर कहते हैं, हे संतो! सुनो कीड़ी ने पर्वत खा लिया, कछुआ 'अंगार भिलोर' कहता है और उलूकी ने उपदेशप्रद पद सुनायें। अतएव, कबीर साहब की उलटवाँसी के इस पाठ का भी अर्थ असंगत ही जान पड़ता है, यद्यपि इसमें उसके स्पष्टीकरण के लिए संकेत कुछ अधिक है।

इस पद के 'रहाउ' अथवा टेक वाली पंक्तियों में कहा गया है कि राजाराम ने ककड़ी के बड़े पकाये हैं जिन्हें केवल समझदार लोग ही खा पाते हैं और यहाँ पर भी 'बड़े' शब्द का अभिप्राय कुछ ऐसा ही होना चाहिये, जिसकी पूरी संगत शेष पंक्तियों में निहित भाव के साथ बैठ सके। इस पाठ की एक विशेषता यह है कि इसमें विवाह का एक रूपक भी आ जाता है जिसके अनुसार कोई उच्चकुलोत्पन्न दूल्हा किसी परम सुंदरी कन्या का पाणिग्रहण करने जा रहा है जो स्वर्णमंडप में निर्मित वेदी पर बैठी है और जिसके गुणों की प्रशंसा भी की जा रही है। अतएव, विविध प्रकार के बाजे बजाने वाले, नाचने वाले, पान लगाने वाले, शंख बजाने वाले अथवा मंगल गाने वाले का प्रमुख उद्देश्य इस विवाहोत्सव पर ही हर्ष प्रकट करने का जान पड़ता है। परंतु ये सभी उत्सव मनाने वाले बेतुके

---

१. 'गुरु ग्रंथ साहिब' रागु आसा, पद ६

काम करते दीख पड़ते हैं, इसलिए कुलीन वर एवं रूपवती कन्या का स्वर्णमंडप में घटित होने वाला यह विंवाह भी स्वभावतः वैसा ही होगा जो अनुचित अथवा अनुपयुक्त कहा जा सकता है और जिसका परिणाम भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इस प्रकार इन सारी बातों का निष्कर्ष निकालने पर, उच्चकुलोत्पन्न वर यहाँ पर जीवात्मा ठहरता है, रूपवती कन्या माया बन जाती है, स्वर्णमंडप मानव शरीर हो जाता है और नाचने, गाने अथवा हर्ष प्रकट करने वाले उन इंद्रियों के प्रतीक सिद्ध होते हैं जो इस संबंध के कारण बहुधा कर्त्तव्य च्युत होकर बेतुके कामों में प्रवृत्त हो जाती हैं और उसी में मग्न भी रहा करती हैं जिसका परिणाम कभी अच्छा नहीं हुआ करता। फलतः एक क्षुद्र जंतु सी काया आत्मा जैसी असीम वस्तु को हड़प लेती प्रतीत होती है, अहंभाव डींग हाँकने में प्रवृत्त हो जाता है और अज्ञान को केवल आध्यात्मिक उपदेश देना रह जाता है। 'राजाराम द्वारा पकाये गये बड़े' अर्थात् भगवान् के दिये हुए नर देह अथवा मानव जीवन का उचित उपभोग इस प्रकार नहीं हो पाता; वह इसके रहस्य के समझ लेने पर ही संभव है।

ऊपर दिये गए दोनों पद, प्रत्यक्ष रूप में, एक दूसरे के पाठांतर मात्र हैं और दोनों में केवल थोड़ा सा ही फेरफार जान पड़ता है। परंतु, दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय, जब उनमें निहित भावों की संगति बिठायी जाने लगती है तो उनमें बहुत बड़ा अंतर भी दीख पड़ता है। पहले पद का 'बड़ा' जलाये जाने पर खाने योग्य होता है जहाँ दूसरे वाले के विषय में पहले कुछ समझ लेना ही पर्याप्त है, तथा, पहले वाले के जला न लेने पर, जहाँ आवागमन का भय बना रहता है वहाँ दूसरे के संबंध में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। इसी प्रकार पहले वाले की अंतिम पक्तियों में उस बड़े के जलाने की क्रिया की ओर भी संकेत है, किंतु दूसरे की उन पंक्तियों में न समझने का परिणाम मात्र ही दिया गया है। इन दोनों में से किसी के भी समझने में पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा यथोचित सहायता नहीं मिलती। उनके विषय में मतभेद के कारण भ्रम भी हो जाता है। परंतु, यदि केवल उन्हीं का आश्रय न लेकर, इन पर स्वतंत्र रूप से भी विचार किया जाय तो, इनका रहस्य बहुत कुछ खुल जाता जान पड़ता है। दोनों पदों के भावों को उपर्युक्त ढंग से समझ लेने पर, पहले पद के धौल, बैल, कौआ, गदहा एवं भैंसा तथा इसी प्रकार, दूसरे पद के हाथी, बैल, कौआ, गधा एवं भैंसा प्रायः एक ही समान पंच ज्ञानेंद्रियों के प्रतीक ठहरते हैं और उन दोनों के ही सिंह, घूस वा घीस, उंदरी वा मुसरी तथा कछुआ-अंतःकरण चतुष्टय

का काम करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर, उन सभी के, विषयी अथवा मायिक जीवनानुसार असंगत कार्यों में, आनंद उठाने का भेद भी प्रकट हो जाता है। परंतु फिर भी इस बात का विवरण स्पष्ट नहीं हो पाता कि उनमें से कौन सा प्राणी किस ज्ञानेंद्रिय विशेष का प्रतीक माना गया है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अंतःकरण चतुष्टय के मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के लिए क्रमशः सिंह, घूंस, उंदरी तथा कछुए का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पहले पद में 'गडरी' कुंडलिनी है, 'परबत' मेरुदंड है, 'चकवा' चित्त है, 'अंगारा' अनुराग है, 'समंद' मन है तथा 'अकास' परमात्मा है और दूसरे पद में भी 'कीटी' काया है, 'अंगारभिलोर' रागद्वेष है, 'उलूकी' अज्ञान जनित धर्मांधता है और 'ससै सींघ' का जोड़ा शब्द उन छोटे-बड़े सभी सांसारिक लोगों के लिए आया है जो किसी व्यक्ति को उक्त प्रकार से विषयासक्ति में बढ़ता देखकर उसकी प्रशंसा करने लग जाते हैं। इस 'गुनगान' का सादृश्य उस गोत्रोच्चार वा शाखोच्चार में पाया जा सकता है जो वैवाहिक विधि के अवसर पर किया जाता है।

'कबीर-ग्रंथावली' के अंतर्गत उलटवाँसी का एक अन्य पद इस प्रकार आता है—

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजै।टेक।।
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै।।
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा।।
बैठि गुफामैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्यो, यहु अचिरज कोइ बूझै।।
औंधा घड़ा न जल मैं डुबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया।।
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणैं सबु कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई।।
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै।।
कहणीं रहणीं निज तत जांणैं, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणी।।

बाझ पियालै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या ।।१६२।।[1]

इस पद का आशय, इसके शब्दों के अर्थानुसार इस प्रकार समझा जा सकता है – 'हे अवधू ! जागते समय नींद में नहीं आना चाहिए, ऐसा करना चाहिए जिसमें न तो हम काल का ग्रास बनें, न कल्पनाओं द्वारा अभिभूत हों और न हमारा शरीर जरा के कारण जीर्ण हो सके। इसके लिए चाहिए कि गंगा उलट कर समुद्र को सोख ले, सूर्य को चंद्रमा निगल जाय, रोगी नव ग्रहों को मार डाले और जल में विम्ब प्रकाशित हो उठे; डाल के पकड़ने से मूल नहीं दीख पड़ता और मूल के पकड़ने पर फल की प्राप्ति हो जाती है, बांबी उलट कर सर्प को लग जाती है और पृथ्वी महारस का पान करती है; गुफा में बैठ रहने पर सारा संसार दीखने लगता है, बाहर कुछ भी नहीं सूझ पड़ता; धनुष उलट कर बाण चलाने वाले को ही मार देता है और यह आश्चर्य विरला ही बूझ पाता है। औंधा घड़ा जल में नहीं डूबता, सीधा रहने पर पूरा-पूरा भर जाता है और जिसके प्रति जगत् घृणा प्रदर्शित करता है उसी के प्रसाद से निस्तार होता है। यह बात सभी जानते हैं कि आकाश बरसता है और पृथ्वी भीगती है, किंतु धरती के बरसने से आकाश के भीगने की घटना का ज्ञान किसी विरले को ही हो पाता है। गाने वाला कभी नहीं गाता, किंतु अनबोला निरंतर गाता रहता है और वह नटवर को देखकर दृश्य को भी देखता है तथा अनहद की वीणा बजाता है। कथनी के साथ-साथ उसके अनुसार व्यवहार करके भी आत्म तत्त्व का जानना अकथनीय रहस्य है और धरती का उलट कर आकाश को ग्रास लेना महापुरुषों की वाणियों द्वारा प्रकट होता है। बिना प्याले के ही अमृत सोख लिया, नदी में पानी भरा रख दिया तथा जिसने पृथ्वी पर ही महारस को चख लिया वह कोई विरला ही योगी हो सकता है ऐसा कबीर कह रहे हैं।' अतएव, इस पद की कतिपय पंक्तियों का अर्थ सीधा-सादा है और उनसे किसी साधना की ओर संकेत भी मिलता है, किंतु इसकी अन्य पंक्तियाँ केवल बेसिर पैर की बातों से भरी जान पड़ती हैं। इनमें न तो पूरी संगति बैठ पाती है और न यही जान पड़ता है कि इसके रचयिता का वास्तविक उद्देश्य क्या है ?

फिर भी इस पद की सारी पंक्तियों को ध्यानपूर्वक दो-एक बार पढ़ जाने पर इसमें निहित रहस्य का पता चलने में अधिक विलंब नहीं होता। सर्वप्रथम

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४१-२

इसकी टेक वाली प्रथम दो पंक्तियों द्वारा ही इस का संकेत मिल जाता है कि इसका लिखने वा निर्माण करने वाला अवधूत योगियों को संबोधित कर रहा है और उनसे अनुरोध कर रहा है कि वे जानबूझ कर भूल में न पड़े। अन्यथा इसका परिणाम अच्छा न होगा और उनके लिए काल द्वारा ग्रस्त हो जाने, कल्पनाओं के भ्रम जाल में पड़ने तथा अपने शरीर को वृद्धावस्थादि के कष्टों में डालने की आशंका बनी ही रह जायगी। परंतु वह 'जानबूझ कर भूल कर जाना' अथवा, 'सचेत रहते हुए भी, प्रमाद कर बैठना' क्या है जिसकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है? इसका उत्तर कबीर साहब की उस पंक्ति में दीख पड़ता है जिसमें उन्होंने कथनी के साथ-साथ 'रहनी' के भी अभ्यास द्वारा 'निज तत' के ज्ञान का महत्त्व बतलाया है और इस बात को 'अकथ कहांणी' का नाम देकर इसे रहस्यपूर्ण भी कह दिया है। कबीर साहब के अनुसार 'धरती उलटि अकासहि ग्रासै' का कहना तब तक महापुरुषों की कोरी 'बांणी' मात्र है जब तक वह किसी उच्च आध्यात्मिक जीवन में चरितार्थ भी नहीं हो जाता। योगी लोग अपनी योग-साधना के बल पर घट के भीतर ज्योति का दर्शन करते हैं और समाधि लगा कर उसके आनंद में कुछ काल तक मग्न रहा करते हैं। कबीर साहब का कहना है कि यदि वे केवल इतने ही मात्र को सब कुछ मान बैठते हों तो उनकी यह भूल है और इस बात का वे तीसरी पंक्ति के आगे स्पष्टीकरण भी करते हैं।

इस पद की तीसरी तथा चौथी पंक्तियों में हठयोगियों का कथन दिया गया है जिसके अनुसार प्राणायाम के बल पर ब्रह्माण्ड तक चढ़ा दी गई श्वासा हमारे शारीरिक विकारों के समुद्र को सोख लेती है और 'ससिहर सूर' अर्थात् चंद्र, सूर्य वा इड़ा, पिंगला नामक दोनों नाड़ियों को भी अभिभूत कर देती है। फलतः 'रोगी' अर्थात् योगी 'नव ग्रिह मारि' अर्थात् नव द्वारों को बंद कर लेता है और 'जल में ब्यंब' अर्थात् बूंद की बनी काया में ब्रह्म ज्योति प्रकाशित हो जाती है। किंतु कबीर साहब का कहना है कि केवल इतने से ही परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह ज्योति मूल वस्तु नहीं, अपितु केवल प्रतिबिम्ब मात्र है। केवल शाखा मात्र को ग्रहण कर लेने से ही उसके मूल का भी पूर्ण परिचय नहीं मिल जाता; मूल के पकड़ने पर ही फल की भी उपलब्धि हो पाती है। शरीर के भीतर ज्योति के उपर्युक्त दर्शन मात्र को ही सब कुछ मान बैठने का परिणाम यह होता है कि समय पाकर फिर उसी 'बंबई' (बांबी) अर्थात् शरीर में फिर कभी 'सर्प' वा संशय को भी स्थान मिल जाता है और हम निरे पार्थिव

जीवन में भी समझ लेते हैं कि 'महारस' का पान संभव है जो केवल भ्रम मात्र है। कबीर साहब ने फिर इसी प्रकार, हठयोगियों के उस दूसरे कथन की भी चर्चा की है जिसके अनुसार वे अपने शरीर (गुफा) के भीतर सारे जगत् को देखने की कल्पना करते हैं और बाहर की कुछ परवा नहीं करते; अपितु अपनी इस आश्चर्यजनक सिद्धि की 'धनकि' अर्थात् प्राणायाम द्वारा 'पारधी' अर्थात् काल के मारे जाने के साथ भी जोड़ देते हैं और इस बात की उन्हें दृढ़ धारणा बँध जाती है कि हमने अमरत्व भी प्राप्त कर लिया। परंतु कबीर साहब इस कथन की भी आलोचना करते हैं और कहते हैं कि जब तक हमारी वृत्ति औंधे घड़े की भाँति बहिर्मुखी है तब तक ऐसा संभव नहीं है। उसे सूधे घड़े की भाँति अंतर्मुखी बनाना पड़ेगा। अंतर्मुखी हो जाने पर उसे प्रेमरस के जल में डूबने वा मग्न होने का अभ्यास पड़ेगा और जिस व्यक्ति की प्रायः सभी कोई उपेक्षा किया करते हैं उसी के द्वारा हमें मुक्ति मिल जायगी (अर्थात् वृत्ति के बहिर्मुख रूप का अंतर्मुख होना केवल उस सद्गुरु की बतलायी युक्ति की सहायता से ही संभव होता है जिसका महत्त्व सभी को विदित नहीं)। सर्व-साधारण को केवल इसी बात का पता है कि आकाश बरसता है और पृथ्वी भीग जाती है। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि काया की धरती स्वयं बरस जाती है, अर्थात् जब कभी हमारे ऊपर सद्गुरु के उपदेश का प्रभाव पड़ता है हमारी काया के भीतर प्रेम के बादल उमड़ पड़ते हैं और हमारा अंतःकरण भीगकर सराबोर हो जाता है—

'सतगुर हमसूं रीझि करि एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥'
तथा, 'कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ॥'[1]

क्योंकि हमारे हृदयाकाश की यह एक अनोखी रीति है कि उसे प्रेम वर्षा से प्रभावित होते कुछ भी विलंब नहीं लगता और केवल कतिपय क्षणों में ही हमारा कायापलट सा हो जाता है।

कबीर साहब इस पद में फिर आगे कहते हैं कि हठयोगियों का ज्योति के दर्शन आदि का उपर्युक्त ढंग से परिचय दे देना तथा इसी पर संतुष्ट होकर अपने को अमरत्व का अधिकारी तक समझ बैठना उनमें कुछ न कुछ कमी का होना

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली', सा० ३३-३४, पृ० ४

सूचित करता है। आत्मोपलब्धि की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें सफल हो जाने वाले व्यक्ति में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए क्षमता नहीं रह जाती। वह 'नटवर' परमात्मा का साक्षात् करता है, उसकी विचित्र रचना के दृश्य देखता है और 'अनहद बेन' बजाता हुआ बिना कुछ बोले भी भीतर ही भीतर, गाता रहता है। जो ऐसी दशा में रहा करता है वही असली गवैया है, वह नहीं जो अपने गूढ़ अनुभव को शब्दों में उतारने की चेष्टा में बोलने को ही गाना मान लेता है। 'कहणी' वाला इस प्रकार का गवैया है जो, वास्तव में, कभी नहीं गाता, किंतु 'रहणी' वाला 'अणबोला' होने पर भी गाता रहता है जो 'अकथ कहाणी' की बात है। अतएव, 'धरती उलटकर आकाश को ग्रस लेती है' का कहना यदि सच्ची रहनी के भी साथ नहीं तो वह केवल निरी 'बांणीं' मात्र ही है। कबीर साहब इस पद की अंतिम पंक्तियों में आत्मोपलब्धि वाले 'विरला जोगी' का लक्षण बतलाते हैं और कहते हैं कि वह न केवल बिना किसी प्याले की सहायता के अमृतपान करता है, अपितु वह अपने नव द्वारे की 'नदी' को प्रेम 'नीर' से भरकर उसे भरपूर भी रखे रहता है। वह केवल किसी क्षणिक आनंद से ही तृप्त न होकर अपने पार्थिव जीवन को आध्यात्मिक रूप प्रदान कर देता है और इस प्रकार इस धरती पर ही रहकर 'महारस' चखा करता है।

कबीर साहब के इस पद का एक पाठांतर 'कबीर बीजक' में भी मिलता है जिस पर विचार करने से इसका रहस्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। पाठांतर के कतिपय शब्दों का रूप परिवर्तित है और कुछ पंक्तियाँ भी भिन्न हैं; जैसे,

संतो जागत नींद न कीजै।
काल न खाय कलप नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥
उलटी गंग समुद्रहिं सोखे, ससि औ सूर गरासै।
नौ ग्रह मारि रोगिया बैठे, जलमँह बिंब प्रगासै ॥
बिनु चरनन को दहुँ दिस धावे, बिनु लोचन जग सूझै।
ससै उलटि सिंघ को ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूडे, सूधे सों जल भरिया।
जेहि कारन नल भिन्न करु, गुरु परसादे तरिया ॥
बैठि गुफा मँह सब जग देखे, बाहर कछू न सूझै।
उलटा बान पारधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै ॥
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नटवर बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेतु बढ़ावै ॥

कथनि बदनी निजु कै जोहै, ई सभ अकथ कहानी।
धरती उलटि अकासै बेधै, ई पुरुषौं की बानी।
बिना पियाला अंमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै।
कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै, राम सुधा रस चाखै ॥२॥[1]

इस पद्य का अर्थ, इसके शब्दों के अर्थानुसार करने पर, इस रूप में दिया जा सकता है—'हे संतो! जागते हुए भी सोने की दशा में रहना उचित नहीं ऐसा करना चाहिए जिसमें न तो काल हमें खा सके, न हमें कल्पना प्रभावित करे और न हमारे शरीर को वृद्धावस्था जीर्णशीर्ण कर सके। उलटी गंगा नदी समुद्र का शोषण कर लेती है और सूर्य एवं चंद्रमा को भी ग्रस लेती हैं; रोगी नवों ग्रहों को मार बैठता है और जल में प्रतिबिंब पड़ने लगता है; बिना पैरों के ही दसों दिशाओं में घूम आता है, बिना नेत्रों के सूझने लगता है और खरहा उलटकर सिंह को ग्रस लेता है; जिस बात के रहस्य को कोई नहीं समझ पाता। औंधा घड़ा जल में नहीं डूबता, किंतु सूधा होने पर जल से पूर्ण हो जाता है और जिस बात के लिए विभिन्न प्रयत्न किये हैं उसे गुरु सहायता से पूरा किया जाता है, गुफा में बैठकर जगत् को देखता है बाहर कुछ भी नहीं सूझता, बान उलटकर अपने चलाने वाले को ही लग जाता है जिसे शूरवीर ही जानता है, गाने को कहता है, किंतु कभी नहीं गाता, अनबोला रहने पर सदा गाता है नट के बाजा के दृश्य को देखता है और अनहद के साथ प्रेम बढ़ाता है, अपने विषय की कथनी बदनी अकथनीय है। धरती का उलट कर आकाश को बेध देना पुरुषों की वाणी है। बिना प्याले के अमृत पीता है और नदी में जल भरकर रखे रहता है। कबीर साहब कहते हैं कि वही व्यक्ति अनेक युगों तक जीता रहता है जो राम के सुधारस को चखा करता है। इस प्रकार इसके अर्थ में भी पूरी संगति लगती नहीं जान पड़ती।

परंतु, यदि इस पाठांतर की पंक्तियों का विश्लेषण करके उनके अर्थों को पृथक्-पृथक् समझने की चेष्टा की जाय तो इसका अर्थ बैठ जाता है। इसकी प्रथम दो पंक्तियों का आशय कबीर साहब के उपदेश-रूप में समझा जायगा, उनके आगे की तीन पंक्तियों में हठयोग-साधना की ओर संकेत माना जायगा और फिर उनके भी आगे की चार पंक्तियों में उसी साधना की आलोचना दीख पड़ेगी। इसी प्रकार इस पद की दूसरी, ग्यारहवीं तथा बारहवीं पंक्तियों में वस्तु-स्थिति का परिचय दिया गया जान पड़ेगा और उनके आगे की दो पंक्तियों में

१. 'कबीर बीजक', सबद २

सबका निष्कर्ष मिलेगा। इसकी शेष दो अंतिम पंक्तियों द्वारा कबीर साहब संतों की आदर्श सहज-साधना का रूप स्पष्ट कर देते हैं। अतएव, इस पद के अंतर्गत दो भिन्न-भिन्न साधनाओं की चर्चा की गई जिसमें एक हठयोग की है और दूसरी सहज साधना है। हठयोग साधना के अभ्यासी योगियों के कथन का उल्लेख करके उसकी कमी की ओर ध्यान दिलाया गया है और फिर वास्तविक दशा बतलाकर सहज साधना का परिचय दे दिया गया है तथा यह भी कह दिया गया है कि उस दशा का वर्णन करना संभव नहीं है।

इस दृष्टि से देखने पर उक्त पद का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—हे संतगण, जाग्रत अवस्था में रहते सो जाना उचित नहीं, अर्थात् हमारे लिए यह उचित नहीं कि हम जानबूझकर भ्रम में पड़ें और वास्तविक स्थिति की ओर से असावधान हो जाँय। हमें ऐसा करना चाहिए कि हमारे ऊपर वास्तव में काल का प्रभाव न पड़ सके और न तो हमारा शरीर जीर्णशीर्ण हो और न हम व्यर्थ की कल्पना में ही पड़े रहें। हठयोगियों का यह कहना कि प्राणायाम द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाई गई श्वासा मनोविकारों को सदा के लिए सुखा देतीं हैं, उसके कारण इड़ा एवं पिंगला नामक नाड़ियों का सुषुम्ना में लय हो जाता है, योगी नव द्वारों को बंद करके समाधि लीन हो जाता है, चित्त के जलाशय में ब्रह्म की ज्योति प्रतिबिम्बित हो उठती है और इन बातों के फलस्वरूप वह योगी बिना पैरों के भी सब कहीं पहुँच जाता है और बिना नेत्रों के भी सब कुछ देखने लगता है एक भ्रमात्मक उक्ति है और इसे पूर्ण सत्य मान लेना उचित नहीं कहा जा सकता। इस बात को केवल कुछ लोग ही जान पाते हैं कि योगियों की बतलायी हुई इस स्थिति में संशय के फिर एक बार उलटकर मन को अभिभूत कर लेने की संभावना बनी ही रह जाती है। बात यह है कि जब तक हमारी वृत्तियां औंधे घड़े की भाँति बहिर्मुखी बनी रहती है तब तक उनमें चित्प्रतिविम्ब का पड़ना संभव नहीं है। जब रूधे घड़े के रूप में वे अंतर्मुखी हो जाती हैं तभी वे चिद्वस्तु के द्वारा सर्वत्र ओतप्रोत हो पाती हैं और इसके लिए हमें भिन्न-भिन्न साधनाओं की आवश्यकता नहीं है। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए विभिन्न योग साधनाओं का सहारा लिया करते हैं वह केवल गुरु कृपा मात्र से ही संभव हो सकती है। गुरु कृपा की सहायता के बिना योगी अपने भीतर चाहे जो भी देखता रहे बाहर के लिए वह सदा दृष्टिहीन बना रहता है। गुरु कृपा की सहायता द्वारा की गई उलटी साधना का बान साधक को ही लगता है और वह ऐसी स्थिति में आ जाता है जिसका वर्णन कोई विरले ही कर सकते हैं। उस दशा में गाने

वाला वस्तुतः नहीं गा पाता प्रत्युत बिना कुछ कहे भी वह सदा गाता रह सकता है। वह अपने भीतर सदा अनाहत नाद के श्रवण में लीन रहता है और अपने बाहर की बातों को नटबाजी के दृश्यों के रूप में देखा करता है। निष्कर्ष यह कि आत्मोपलब्धि-विषयक (निजुकै) कथन एवं तर्क-वितर्क (कथनी-बदनी) संभव नहीं है, वह अकथनीय बात (अकथ कहानी) है। इस संबंध में 'धरती का उलटकर आकाश को बेध देना', केवल अभ्यासी योगियों के कथन मात्र का ही महत्त्व रखता है, वह वास्तविक सिद्धि का सूचक नहीं है संतों की सहज साधन का साधक, बिना किसी प्रत्यक्ष साधना (प्याले) के भी, नाम के अमृत का पान किया करता है, अपने नव द्वारे की काया (नदी) में प्रेम (नीर) भरे रहता है और इस प्रकार युग-युग तक जीता हुआ परमत्म तत्त्व (राम) के 'सुधारस' का आस्वादन करता है। कबीर साहब इसी रहस्य को भलीभाँति समझ लेने के लिए संतो से अनुरोध करते हैं और उन्हें इस बात से सावधान कर देते हैं कि वे किसी व्यर्थ के भुलावे में न पड़ जाँय।

इस प्रकार ऊपर उद्धृत पद के दोनों रूपों में कोई विशेष अंतर नहीं है और जो कुछ विभिन्नता दीख पड़ती है उसके द्वारा उसके आशय के समझने में हमें न केवल सहायता मिलती है, अपितु उससे कबीर साहब के मत का बहुत कुछ स्पष्टीकरण भी हो जाता है। 'कबीर-ग्रंथावली' वाले पद का आरंभ 'अवधू' शब्द से होता है जो संभवतः नाथ योगियों को लक्ष्य करके प्रयुक्त हुआ है। कबीर साहब उस पद के द्वारा अवधूतों को संबोधित करते हैं और उनसे कहते हैं कि देखो तुम्हारी साधना अधूरी है और उसके बल पर अमरत्व की सिद्धि संभवव नहीं है। तुम केवल अपनी समाधि के समय ज्योति का दर्शन कर लेने मात्र को ही सब कछ मान बैठते हो और विविध कल्पनाओं में लग जाते हो। अमर-जीवन की उपलब्धि के लिए केवल इतना ही प्रर्याप्त नहीं, इसके लिए अपने भीतर प्रेमभाव का संचार होना भी परमावश्यक है। केवल ज्योति-दर्शन में कभी न कभी संशय के जागृत होने की भी संभावना बनी रहती है, किंतु प्रेमरस के रहते ऐसी बाधा नहीं पड़ती। 'कबीर-बीजक' वाले पाठांतर का आरंभ 'संतो' शब्द से होता है, जिससे सूचित होता है कि इसके द्वारा कबीर साहब ने संतों को सावधान किया है। उन्हें संबोधित करते हुए उन्होंने बतलाया है कि हठयोगियों की योग साधना और उनकी अपनी सहज साधना में महान् अंतर है। अतएव, यदि उनके समक्ष अपने भीतर होने वाले अनेक प्रकार के चमत्कारिक अनुभवों का प्रलोभन आ जाय तो, वे उसकी परवा न करें

और अपनी आदर्श सहज साधना को ही अपनावें' उद्धृत पद के दोनों रूपों द्वारा लगभग एक ही बात कही गई है, किंतु, संबोधित व्यक्तियों की भिन्नता के कारण, उनकी पंक्तियों में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। दोनों के पारिभाषिक शब्द प्रायः एक ही हैं और उनके वर्ण्य विषय भी एक समान हैं। केवल वर्णन-शैली में अंतर लाने के लिए कुछ फेरफार कर दिये गए हैं।

इस पद के दोनों रूपों के कतिपय शब्दों का अर्थ ठीक एक ही प्रकार का है। 'उलटी गंग' शब्द प्राणायाम की साधना को सूचित करता है, 'ससि' वा 'ससिहर' और 'सूर' क्रमशः इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियों के लिए आये हैं, 'नवग्रह' वा नौग्रिह' नव द्वारों के लिए उपयुक्त है, 'रोगिया' साधक के लिए है, 'ब्यंब' वा विंब' ज्योति के लिए है, 'गुहा' वा 'गुफा' शरीर के भीतरी भाग के लिए है, 'धनकि' वा 'उलटा बाण' साधना के लिए है और 'नदी' एवं 'नीर' शब्दों का प्रयोग क्रमशः काया एवं प्रेम के लिए हुआ है। परंतु कुछ शब्दों के अर्थों में प्रसंगवश किंचित् फेरफार करने की आवश्यकता पड़ जाती है जो वर्णन-शैलियों के भेदानुसार अनुचित नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए प्रथम पाठ के 'समुद्र' शब्द का अर्थ जहाँ मनोविकार करते हैं वहाँ दूसरे का शारीरिक विकार कर सकते हैं, पहले के 'जल' को जहाँ काया ठहराते हैं वहाँ दूसरे वाले को चित्त कह सकते हैं और, इसी प्रकार, पहले के 'पारधी' को काल मानते हुए भी दूसरे के उसी शब्द को साधक के लिए प्रयुक्त बतला सकते हैं जो केवल अर्थसंगति की सुविधा के ही लिए संभव है। दोनों पाठों में जो भिन्न-भिन्न शब्द आये हैं उनमें से प्रथम पाठ का 'डाल' शब्द ज्योति के लिए है; 'मूल' तत्त्व के लिए है, 'बंबई' शरीर वा काया के लिए है 'शरप' संशय के लिएँ है और 'धरणि' शब्द का प्रयोग पार्थिव जीवन के लिए किया गया है तथा, इसी प्रकार दूसरे पाठ का 'ससै' शब्द संशय के लिए आया है और उसके "सिंघ' शब्द का प्रयोग मन के लिए किया गया है।

'कबीर-ग्रंथावली' की अबतक उद्धृत की गई दो उलटवाँसियों में क्रमशः 'जीवन मृतक' की दशा वाले जीवन तथा संतों की 'सहज साधना' के स्वरूप का स्पष्टीकरण पाया गया था और उसके द्वारा हमें कबीर साहब की आध्यात्मिक 'अमर जीवन'-संबंधी धारणा का परिचय मिला था। आगे हम उसकी एक और उलटवाँसी देकर उस विषम स्थिति को उदाहृत करना चाहते हैं जो, कबीर साहब के अनुसार उक्त जीवन की दशा उपलब्ध न कर सकने के कारण, हमें सदा विवश एवं विपद्ग्रस्त बनाये रहती है। इसमें कबीर साहब कहते हैं—

कैसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ।।टेक।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ ।।
मकड़ी घरी माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया ।।
निति उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।८०।।[1]

और इसका आशय, इसके शब्दों के अर्थानुसार इस प्रकार हो सकता है। 'इस नगर की रक्षा किस प्रकार करूँ, इसका तो पुरुष चंचल है और इसकी नारी बड़ी सयानी है। यहाँ पर बैल ब्याया करता है, गाय बंध्या बनी रहती है और बराबर बछड़े का दोहन हुआ करता है; मकड़ी के घर का प्रबंध मक्खी किया करती है (छछिहारी ?); मांस को सामने फैलाकर चील उसकी रखवाली किया करती है; बिल्ली नाव बन गई है जिसे चूहा खेया करता है; मेंढक सोता रहता है और सर्प उसका पहरा देता है तथा नित्यशः सियार सिंह के साथ युद्ध ठाना करता है और इस विषम स्थिति की पहचान केवल किसी बिरले को ही हो पाती है।' इस प्रकार इस पद के अंतर्गत कतिपय मानवेतर प्राणियों के अस्वाभाविक व्यापारों का वर्णन किया गया है और उनके कारण, किसी नगर के रक्षाकार्य में पड़ने वाली बाधा की ओर संकेत कर, इसके रचयिता की विवशता प्रकट की गई है। अतएव केवल शाब्दिक अर्थों पर ही आश्रित रहने पर इसमें दीख पड़ने वाली असंगति का समाधान नहीं हो पाता।

परंतु, यदि इस पद में आये हुए कतिपय शब्दों को विविध प्रतीकों का सूचक मान लें और इसकी 'टेक' वाली प्रथम पंक्ति के ऊपर कुछ ध्यान देकर विचार करें तो, इसके रहस्य के खुलते अधिक देर नहीं लगती। कबीर साहब इस पद में किसी ऐसे नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हैं जहाँ का पुरुष तो चंचल स्वभाव का है, किंतु वहाँ की नारी बुद्धिमती है तथा जहाँ की विचित्रता इस बात में भी देखी जाती है कि वहाँ पर प्रत्येक दिन सियार सिंह के विरुद्ध लड़ाई छेड़ा करता है, किंतु, स्वभावतः, कृतकार्य नहीं हो पाता। इसलिए यदि हम, कबीर साहब की ही विचारधारा के अनुसार, 'नगर' को मानव शरीर का प्रतीक मान लें और उसके भीतर वर्तमान 'पुरुष' एवं 'नारी' को क्रमशः मन एवं मनसा अथवा कामना का प्रतीक समझ लें तो, हमें इसके मुख्य अभिप्राय का संकेत मिल जाता है। उस दशा में हमें यह भी प्रतीत होने लगता है

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ११३

कि इस पद का 'स्याल' तब जीव का प्रतिनिधित्व करेगा और 'स्यंघ' उसके काल का रूप धारण कर लेगा। संसार के झमेले में पड़े हुए तथा उसके कारण स्वभावतः कातर बने हुए जीव को, अपनी स्थिति में सुधार कर फिर एक बार अमरत्व प्राप्त करने के लिए, प्रत्येक जीवन में प्रयत्न करना पड़ता है; किंतु वह, मानव शरीर की विषम दशा के ही कारण, सफल नहीं हो पाता और काल के सामने गिर जाता है। कबीर साहब ने इस पद की शेष तथा बीच वाली तीन पंक्तियों में काया के भीतर वाली उस विषम दशा का ही वर्णन किया है। ऐसी परिस्थिति के रहते कौन सी नीति का पालन किया जाय अथवा किस प्रकार व्यवहार किया जाय जिससे काया नगर के भीतर समुचित सुव्यवस्था लायी जा सके और फिर कभी जीव को काल के विरुद्ध 'जूझने' का अवसर उपस्थित न हो, यही इस पद के रचयिता के सामने एक समस्या है।

पद की बीच वाली तीन पंक्तियों द्वारा प्रकट की गई काया नगर की विषम स्थिति इस प्रकार की है—विविध संस्कारों से लदा हुआ और बैल का सा दीख पड़ने वाला सदोष मन विभिन्न प्रकार की सृष्टि करता रहता है और सात्विक बुद्धि बंध्या गाय की भाँति निश्चेष्ट बनी रहती है। ऐसी दशा में मन के आधार पर आश्रित रहने वाली इद्रियों द्वारा निरंतर मनमाना काम लिया जाने लगता है (उनके 'बछरा' के समान रहने पर भी उनका नित्यशः दोहन होता है) जिस कारण सर्वत्र दुर्व्यवस्था दीख पड़ने लगती है। मनसा (माषी) माया (मकड़ी) के घर की मालकिन बन बैठती है और, चील की भाँति मलिन होती हुई भी, अपनी चारों ओर उपलब्ध विषयों (मास पसारि) की रक्षा में प्रवृत्त हो जाती है। दुर्मति जो बिल्ली की भाँति मन (मूसा) के ऊपर सदा चोट किया करती है इस समय नाव जैसी बन जाती है जिसे वह खेवट जैसा खेने लगता है अर्थात् वह (मन) उसे (दुर्मति को) अपना साधन बनाकर उससे लाभ उठाने लग जाता है और संशय (सांप) को सदा अपने निकट सजग पाकर भी वह सुख की नींद सोने का दम भरता है। वह भूल जाता है कि मुझ मेढक (मीडंक) को वह सर्प कभी बात की बात में ग्रस ले जा सकता है। मन एवं मनसा के ये व्यापार हमारे भीतर की सारी स्थिति को डावाँडोल बनाये रहते हैं जिससे ऊबकर जीव को बली काल से नित्यशः लड़ाई छेड़नी पड़ती है जिसके रहस्य को कोई बिरला पुरुष ही जान पाता है।

कबीर साहब के इस पद का एक अन्य पाठ 'कबीर-बीजक' में भी आया है। उस पाठांतर में केवल चार ही पंक्तियाँ हैं और उसके कतिपय शब्दों के

रूप एवं क्रमादि में भी भिन्नता है जिस कारण दोनों का अर्थ ठीक एक ही समान नहीं किया जा सकता। वह पाठांतर इस प्रकार है—

को अस करै नगर कोतवलिया, मांसु फैलाय गीध रखवरिया।
मूस भौ नाँव मँजार कंडहूँरिया, सोवै दादुर सरप पहरिया॥
बैल वियाय गाय भै बंझा, बघवहिं दूहहिं तीनि तीनि संझा।
नित उठि सिंघ सियार सौं जूझै, कबीर के पद जन बिरला बूझै॥६५॥[1]

इस पद का आशय, इसके शब्दों के अर्थानुसार, यों समझा जा सकता है—'कौन ऐसे नगर की कोतवाली करे जहाँ पर गीध मांस फैलाकर उसकी भी रखवाली करता है, चूहा नाव बन गया है जिसे मार्जार खेने में लगा हुआ है, मेंढक सो रहा है जिसका पहरा सर्प दे रहा है, बैल ब्या रहा है और गाय बंध्या हो गई है और बछड़ा तीन-तीन बार तक दुहा जा रहा है तथा जहाँ पर सिंह नित्य प्रति उठकर शृंगाल से लड़ा करता है,' इत्यादि। इसलिए इसकी पंक्तियों के भी भाव में सर्वत्र संगति बैठती नहीं जान पड़ती है और यह भी अपने रचयिता के कथनानुसार सबकी समझ में नहीं आ सकता।

किंतु यदि इसके 'नगर', 'मासु' 'गीध', 'मूस', 'मँजार', 'दादुर', 'सांप' आदि विभिन्न विषयों का प्रतीक मान लिया जाय तो, यहाँ भी काम चल सकता है और जो बात प्रत्यक्ष रूप में असम्भव सी प्रतीत होती है वह सम्भव बन सकती है। पहले पाठ में काया नगर के भीतर मन एवं मनसा 'चञ्चल पुरुष' एवं 'विचक्षण नारी' का काम करते थे, फैलाये गए मास की रखवाली का भार 'गीध' की जगह 'चील' के ऊपर सौंपा गया था, 'मूस' की जगह वहाँ पर 'बिल्ली' नाव बनी थी और, उसी प्रकार, 'मँजार' की जगह पर वहाँ 'मूसे' को उसे खेने का काम दिया गया था तथा यहाँ की भाँति, इस दशा में, सिंह को सियार से 'जूझना' नहीं पड़ता था, प्रत्युत सियार ही वहाँ 'स्यंघ' के विरुद्ध युद्ध ठाना करता था। अतएव, इस पद का अर्थ लगाते समय किंचित् भिन्न प्रकार से विचार करना पड़ता है और इसमें इसके बदल गये शब्दों से कुछ सहायता मिलती रहती है तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ क्रम-परिवर्तन क्यों किया गया है। 'गीध' पक्षी परम लालची अथवा स्वार्थी पुरुष का प्रतीक है जहाँ 'चील' के स्वभाव की नीचता और दुष्टता उसे कुछ भिन्न प्रकार के व्यक्ति का प्रतीक बना देती और,

---

१. 'कबीर बीजक', सबद ६५, पृ० ६२ (कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, हरक)

उसी प्रकार, कर्णधार (कँडहरिया) शब्द में जहाँ उस पार ले जाने के साथ साथ किसी के भविष्य को बनाने वा बिगाड़ने का भी भाव निहित रहता है वहाँ 'खेवट' शब्द का अर्थ नाव को खेकर उसे दूसरे पार तक केवल पहुँचा देनेवाला मात्र ही हुआ करता है। इसी प्रकार 'दादुर' शब्द का प्रयोग जहाँ, उसके द्वारा सूचित प्राणी के अधिक बोला करने के कारण, होता है वहाँ 'मेढंक' शब्द अधिकतर उसकी उछल-कूद की प्रवृत्ति के लिए प्रयुक्त होता है और 'सरप' शब्द से भी क्रमशः कुटिल ढंग से रेंगते चलने की ध्वनि 'सांप' शब्द की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट रूप में निकलती है।

अतएव, 'नगर' शब्द यहाँ पर मानव शरीर की अपेक्षा वर्त्तमान संसार के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीक ठहरता है। यह संसार अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए लोगों से भरा है जिनके मन के हाथों सदा अनर्थ होता रहता है और जिन्हें उनके पथप्रदर्शक प्रायः धोखा भी देते हैं। यहाँ अज्ञानी का विषयासक्त मन विषयों के प्रति वैसे ही लोलुप बना रहता है जैसे कोई गीध मांस की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा करता है। अज्ञानी शिष्यों की जीवन नौका का पतवार वंचक गुरुओं के हाथ में रहता है और वे, बिल्ली के शासन में पड़े चूहे की भाँति, सदा विवश बने रहते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष, 'दादुर' की भाँति 'कथनी में निपुण होने पर भी, अपने अहंकार (सर्प) के प्रभाव में, 'करणी' के लिए जागरूक नहीं हो पाता। फलतः जड़ज्ञान से प्रपंच की वृद्धि होने लगती है (बैल व्याया करता है) और गाय जैसी सात्विक बुद्धि निकम्मी बन जाती है। ऐसी दशा में, इसके अतिरिक्त कि बराबर कोरे संकल्प से काम लिया जाय (तीनों साँझ बछड़े को ही दुहा जाय) कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। समर्थ जीवात्मा (सिंह) को ऐसी स्थिति सँभालने के ही लिए नित्यशः मन (सियार) के साथ 'जूझना' (उसे वश में लाने की चेष्टा करना) पड़ता है जिसका रहस्य सभी को विदित नहीं है। पहले पद वाला जीव, अपनी आभ्यंतरिक स्थिति की विषमता के कारण, सियार सा निर्बल एवं कायर है और उसे विवश होकर काल से लड़ना पड़ता है। परंतु इस दूसरे पद के जीवात्मा को अपनी वास्तविक शक्ति का ज्ञान है और उसे केवल अपनी स्थिति को सँभालने का ही प्रयत्न करना पड़ता है।

इस प्रकार एक ही उलटबाँसी के उपर्युक्त दो रूपों की तुलना करने पर पता चलता है कि, उस पर भिन्न प्रकार से विचार करने पर, कहाँ तक अंतर पड़ सकता है। दोनों रूपों में प्रायः एक ही शब्दावली का प्रयोग हुआ है और दोनों के अंतर्गत प्रायः एक ही प्रकार की विषमावस्था का वर्णन भी पाया जाता है। किंतु,

केवल कुछ शब्दों में फेरफार हो जाने के कारण, सारे पद के ही अभिप्राय में परिवर्त्तन आ जाता है और 'नगर' को दो विभिन्न विषयों का प्रतीक मानना पड़ता है। ऐसी दशा में 'नगर' की 'कोतवाली' के विषय में चिंतित होने वाले व्यक्ति का स्वरूप भी ठीक एक ही प्रकार का नहीं रह जाता। पहले पाठ का रचयिता एक ऐसा व्यक्ति जान पड़ता है जिसे स्वयं अपने ऊपर ही शासन कर एक आदर्श संयत जीवन के यापन करने की चिंता है। परंतु दूसरे पाठ के रचयिता को सारे संसार की गति विधि में सुधार लाने की चिंता है। पहला अपने लिए अमरत्व का जीवन चाहता है और उसकी उपलब्धि के प्रयत्न में आ पड़ने वाली विविध भीतरी बाधाओं का वर्णन कर, अपनी साधना की दुर्गमता की ओर संकेत करता है। परंतु दूसरे के सामने अज्ञानियों से भरे इस संसार की दुरवस्था के सुधार की भी समस्या है और वह इसकी असाधारणता भी सिद्ध करना चाहता है। इसलिए पहले का कवि जहाँ केवल एक साधक मात्र है वहाँ दूसरे का अपने को एक सुधारक भी समझता है। इस दृष्टि से देखने पर इस प्रकार का संदेह भी किया जा सकता है 'कबीर-बीजक' वाला पाठांतर कहीं 'कबीर-पंथ' की सांप्रदायिक धारणाओं का ही परिणाम न हो।

ऊपर की जिन तीन उलटवाँसियों को 'कबीर ग्रंथावली' से उद्धृत किया गया है उनमें से प्रत्येक में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग हैं। ऐसे शब्द मूलतः विभिन्न विषयों के प्रतीकों का काम करते हैं और वे क्रमशः अनेक बार उसी प्रकार प्रयुक्त होते-होते पारिभाषिक बन गए हैं। इन तीनों उलटवाँसियों में विविध अलंकारों की भी प्रधानता देखी जा सकती है। पहली उलटवाँसी की प्रथम पंक्ति में क्रमशः 'रूपक' एवं 'विरोधाभास' अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं, किंतु तीसरी से छठी तक 'विषमालंकार' के प्रयोगों से भरी हैं और, इसी प्रकार इस पद की अंतिम दो पंक्तियों को देखने से जान पड़ता है कि उनमें 'अधिक' अलंकार भी आ गया है। दूसरी उलटवाँसी में भी अधिकतर 'अधिक' एवं 'विरोधाभास' नामक अलंकारों के ही उदाहरण मिलते हैं, किंतु उसकी पाँचवी तथा सातवीं एवं सत्रहवीं पंक्तियों में क्रमशः 'विचित्र' एवं 'विभावना' के भी प्रयोग दीख पड़ते हैं और, इसकी सारी पंक्तियों का विश्लेषण कर उनका वर्गीकरण भी कर देने पर इसमें एक और भी विशेषता आ जाती है। तीसरी उलटवाँसी का आरंभ पहले एक 'रूपक' से ही होता जान पड़ता है। किंतु इसमें फिर 'विषम' एवं 'अधिक' के भी उदाहरण आ जाते हैं। इस उलटवाँसी की एक विशेषता यह भी है कि इसकी दूसरी एवं पाँचवीं पक्तियाँ सिद्ध ढेपढणपा

की निम्नलिखित पंक्तियों का अनुवाद सी जान पड़ती है। अंतिम पंक्ति का ढेण्ढणपा 'कबीर' बन गया है। जैसे,

'बलद बिआअल गविआ बांझे। पिटा दुहिए ए तिना सांझे।
निति निति षिआला षिहे षय जूझअ। ढेण्ढणपाएर गीत बिरले बूझअ'[1]

कबीर साहब के अनंतर, उनकी उलटवाँसियों के अनुकरण में, कतिपय अन्य संतों ने भी अपनी रचनाएँ की हैं। संत सुंदर दास ने ऐसी रचनाओं का नाम 'विपर्यय' दिया है और संत शिवदयाल ने इसे 'उल्टी' शब्द से अभिहित किया है। संत सुंदरदास की साखियों तथा सवैयों में विपर्यय के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने कहीं-कहीं साहित्यिक सौंदर्य लाने की भी चेष्टा की है। संत तुलसी साहब ने ऐसी रचनाओं के वर्ण्य विषय को 'उलटी रीति' कहा है और संत शिवदयाल ने उसे ही 'उलटी बात' बतलाया है और दोनों ने उस पर अपनी रचनाएँ की है। संत पलटू साहब आदि अन्य कुछ संतों की रचनाओं में भी हमें इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। परंतु इस प्रकार की वर्णन-शैली का प्रयोग केवल हिंदी भाषा के ही संत-साहित्य तक सीमित नहीं है। बंगला-भाषा के गोरख पंथी साहित्य में ऐसे पद्य 'गोरखधंधे भी कहे जाते हैं, 'गोरक्ष विजय' तथा 'गोपीचंद्ररेर गान' की अनेक पंक्तियाँ उलटवाँसियों से मिलती जुलती हैं। 'गोपीचंद्ररेर गान' के एक स्थल पर तो बूढ़े शिव 'उलटा मंत्र' के द्वारा नौका-पूजन करते हुए दीख पड़ते हैं और वहाँ पर यह नाम उलटवाँसी जैसी रचनाओं के ही लिए प्रयुक्त जान पड़ता है।[2] बंग देश के प्रसिद्ध बाउल फकीरों की ऐसी रचनाएँ बहुधा 'उलटा बाउल' कहलाती हैं और ये वहाँ की देहातों में कबीर साहब की उलटवाँसियों की ही भाँति प्रचलित हैं तथा इन्हीं के समान वे भी वहाँ के ग्रामीण साहित्य का अंग बन गई हैं।

---

१ 'चर्यापद' ३३ २. 'गोपीचंद्ररेर गान' (कलकत्ता) भा० १, पृ० १२४

कबीर-साहित्य में काव्य-प्रकार एवं छंद-योजना

कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं के अब तक अधिक प्रामाणिक समझे जाने वाले प्रसिद्ध तीन संग्रहों के सभी पद्य एक ही प्रकार के नहीं हैं। 'आदिग्रंथ' में उनके २२८ 'पद' आये हैं जो उसके ३० रागों में से १७ के अनुसार क्रमबद्ध हैं और उसमें उनके २४२ 'सलोक' भी संगृहीत हैं। 'कबीर-ग्रंथावली' में उनके ४०३ पद हैं जो केवल १६ रागों के ही अनुसार विभाजित किये गए हैं, उनकी २०६ साखियाँ हैं जो ५६ अंगों में रखी गई हैं और इनके अतिरिक्त उसमें ६ 'रमैनियाँ' भी पायी जाती हैं जिनके शीर्षक भिन्न-भिन्न रूपों में दिये गए हैं। इसी प्रकार 'कबीर-बीजक' में हमें न केवल ११५ 'सब्द' ३५३ साखियाँ तथा ८४ रमैनियाँ ही मिलती हैं, अपितु उसमें बहुत से ऐसे पद्य वा पद्य-समूह भी आते हैं जिन्हें, उनके शीर्षकों के अनुसार हम १ ग्यान चौंतीसा, १ विप्रमतीसी, १२ कहरे, १२ बसंत, २ चाचर, १ बेलि, २ बिरहुली तथा ३ हिंडोले कह सकते हैं। इस संग्रह के सब्द न तो रागों के अनुसार मिलते हैं और न इसकी साखियाँ ही किन्हीं अंगों में संगृहीत पायी जाती हैं। 'आदिग्रंथ' और 'कबीर-ग्रंथावली' में जिन रचनाओं को 'पद' की संज्ञा दी गई है उसी प्रकार के पद्य यहाँ पर 'सब्द' कहलाते हैं और जो इसमें तथा 'कबीर ग्रंथावली में साखियाँ हैं वे 'आदि-ग्रंथ' में 'सलोक' हैं। इसके सिवाय 'आदिग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' के पदों का जो, रागों के अनुसार, विभाजन किया गया है वहाँ बहुत कुछ मतभेद भी दीख पड़ता है। वास्तव में, कबीर साहब की रचनाओं का अध्ययन करते समय, हमारे सामने केवल पाठभेद एवं भाषाभेद की ही समस्या नहीं आती, प्रत्युत उनके उचित वर्गीकरण का भी एक प्रश्न उपस्थित होता है जिसे हल करने के लिए हमें उनके बाह्यरूपों के साथ ही उनकी विषय-संगति पर भी विचार करना पड़ेगा किंतु ऐसे वर्गीकरणों के विधायक स्वयं कबीर साहब नहीं जान पड़ते, जिस कारण, इस प्रश्न को उतना महत्त्व भी नहीं दिया जा सकता।

उपर्युक्त सभी रचनाओं पर जब हम काव्य-प्रकारों के अनुसार विचार करने लगते हैं तो पता चलता है कि उनमें प्रबंध-काव्य का अभाव है उसमें से अधिकांश को हम केवल मुक्तक अथवा गीत का ही नाम दे सकते हैं और शेष को अधिक से अधिक निबंध काव्य तक ठहरा सकते हैं। मुक्तक ऐसी रचनाओं को कहा गया है जिनमें निहित काव्य रस का आस्वादन बिना उनके पहले वा पीछे के

पद्यों की अपेक्षा किये भी, किया जा सके।[1] इसी प्रकार 'गीत' वे कहलाती हैं जिनकी रचना स्वर, लय एवं ताल को भी ध्यान में रखकर की गई रहती है और जो, इसीकारण, गेय भी हुआ करती हैं। ऐसी कविताएँ अपना पूरा भाव प्रकट करने में स्वतः समर्थ रहा करती हैं और इन्हें किसी प्रकार के अनुबंध की आवश्यकता नहीं पड़ती जहाँ प्रबंध-काव्य के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह सानुबंध भी हो। मुक्तकों में, उनके अकेले रहने पर भी, पूरा चमत्कार आ गया मिलता है।[2] 'निबंध-काव्य' इन दोनों से भिन्न होते हैं। इनके पद्य अकेले नहीं आते प्रत्युत प्रबंध-काव्य की भाँति, एक से अधिक पद्यों में प्रस्तुत किये जाते हैं जो परस्पर संबद्ध भी रहा करते है। फिर भी इनमें प्रबंध-काव्य का सा विस्तार नहीं पाया जाता और न इनमें घटना वैचित्र्य, चरित्र-चित्रण, आदि जैसी बातों का ही समावेश रहा करता है। ये प्रधानतः वर्णनात्मक वा विवरणात्मक होते हैं और इनमें मुक्तकों वा प्रबंध-काव्यों का काव्य-सौंदर्य भी नहीं पाया जाता और न, इसी कारण, हम इन्हें बहुधा 'काव्य' की संज्ञा ही प्रदान करते हैं। 'मुक्तक' भी कभी-कभी 'सूक्ति' मात्र ही कहे जाते हैं जब उनमें कोरे चमत्कार अथवा वक्रोक्ति की प्रधानता रहती है और केवल व्यावहारिक नियमों के प्रतिपादन में, वे 'नीतिवाक्य मात्र' भी रह जाते हैं। इस प्रकार 'मुक्तक', 'गीत', 'सूक्ति' एवं 'नीतिवाक्यों' को हम एक साथ 'निबंध-काव्य' के अंतर्गत भी रख सकते हैं। कबीर साहित्य में हमें इन चारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

कबीर साहब की सभी रचनाओं को हम, शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'काव्य' नहीं कह सकते। उनकी उस दृष्टि से कदाचित् रचना भी नहीं की गयी थी। अधिक संभव यही है कि उन्होंने, केवल अपने भावों की सरल अभिव्यक्ति मात्र के ही लिए, पद्य रचना की हो। किंतु उनकी ऐसी कृतियों में भी बहुत सी, उनकी सहज प्रतिभा के कारण, 'काव्य' कहलाने योग्य भी बन गईं। उनका प्रमुख उद्देश्य सदुपदेश देना मात्र था और उनका कार्यक्षेत्र भी सर्वसाधारण का ही समाज था जिसकारण ऐसा करते समय उन्होंने केवल उन्हीं काव्य-प्रकारों को अपनाया जो उसमें अधिक प्रचलित थे और जिनसे उनके श्रोता स्वभावतः, बहुत कुछ परिचित भी समझे जा सकते थे। अतएव, उपर्युक्त सभी रचनाओं को

---

१. 'पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्'-अभिनवगुप्त

२. 'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षयः सताम्।-अग्निपुराण

उनको अपनी कृति मानकर चलते समय, ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि समय-समय पर उन्होंने साधारण दोहे कहे, पदों का गान किया, रमैनियाँ रचीं विविध अक्षरों से क्रमशः आरंभ के करके पद्य बनाये, उत्सवों के गीत गाये तथा कुछ ऐसे काव्य-प्रकारों के भी प्रयोग किये जो उनके वर्ण्य विषयों के अनुकूल जँचे। उपलब्ध संग्रहों में हमें ऐसे ही पद्यों के उदाहरण मिलते हैं और इन्हीं का परिचय देकर हम उनकी छंद-योजना पर भी विचार कर सकते हैं तथा इस बात का निर्णय कर भी सकते हैं कि कबीर साहब की रचनाओं के बाह्यरूप अमुक प्रकार के हैं। हम यहाँ पर उनकी रचनाओं के विविध काव्य-प्रकारों अथवा गीत-प्रकारों का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

१. साखी

कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं में उनकी साखियों की संख्या कदाचित् सबसे अधिक है। 'साखी' शब्द संस्कृत 'साक्षी' का अन्यतम रूप मान लिया जा सकता है और इसका अभिप्राय उस पुरुष से है "जिसने किसी वस्तु अथवा घटना को अपनी आँखों देखा हो।" ऐसे साक्षात् अनुभव द्वारा ही ऐसी वस्तु वा घटना का प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान संभव है जिस कारण 'साखी' शब्द का तात्पर्य प्रायः उस पुरुष से हुआ करता है जो, उन वस्तुओं वा घटनाओं के विषय में विवाद खड़ा होने पर निर्णय करते समय, प्रमाणस्वरूप समझा जा सके। तदनुसार बहुधा यहाँ तक देखा गया है कि अपने निजी अनुभवों तक को प्रमाणित करने के लिए लोगों ने बड़े-बड़े महापुरुषों के नाम लिये हैं और, उनकी इस प्रकार दुहाई देकर, अपने कथन की पुष्टि की है तथा उसकी विश्वसनीयता में वृद्धि की है। उदाहरण के लिए बौद्ध सिद्ध कारहपा ने अपनी एक चर्या में कहा है कि "मैंने शून्यता की साधना द्वारा अपने मोह-भांडार को सर्वथा नष्ट कर डाला है और स्व-पर की भावना से भी रहित होकर सहज निद्रा में मैं लीन हो चुका हूँ तथा स्वप्न की दशा में त्रिभुवन मात्र को शून्यवत् समझ रहा हूँ। अब मैं आवागमन के चक्कर से भी मुक्त हूँ जिस बात के साक्षी रूप में मैं (इस दशा से स्वयं भलीभाँति परिचित अपने गुरु) जालंधरपा की दुहाई देता हूँ। साधारण पंडित मेरी इस पाशमुक्त दशा को नहीं समझ सकते"[१]। इस प्रकार 'साखी' शब्द फिर प्रसंगवश, महापुरुषों के लिए प्रयुक्त होते-होते, पीछे उनके आप्तवचन का भी

---

१. सुकुमार सेनः 'ओल्ड बंगाली टेक्स्ट्स' (चर्या गीति कोष), चर्या ३४, पृ० १४

पर्याय बन गया होगा। सखियों की ओर हमारे ध्यान का जाना बहुधा ऐसे अवसरों पर ही विशेष रूप से संभव है जब कि हमारे दैनिक जीवन में कभी-कभी नैतिक आध्यात्मिक अथवा व्यावहारिक विषयों की उलझने सामने आ जाती हैं और, भ्रम वा संदेह के अंधकार को दूर करने के लिए, हमें ज्ञान के आलोक की आवश्यकता पड़ती है। ये साखियाँ उस अवसर पर हमें सच्चा मार्ग सुझा सकती है और इनके इस महत्त्व को दर्शाते हुए 'कबीर-बीजक' में भी कहा गया है—

साखी आँखी ग्यान की, समुझि देखु मन मांहि
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नांहि ॥३५३॥[1]

बौद्ध सिद्धों के समय में कदाचित् 'साखी' शब्द का, उक्त प्रकार से, आप्त-वचन का अर्थ नहीं लिया जाता था। ऐसे पद्यों को वे संभवतः 'उएस' वा उपदेश का नाम देते थे जैसा कि सिद्ध सरहपा के एक दोहे से भी प्रकट होता है।[2] फिर भी साखी रचना की परंपरा कबीर साहब (मृ० सं० १५०५) के समय से अधिक प्राचीन अवश्य रही होगी और इस बात का प्रमाण हमें उनकी रचनाओं में भी मिल जाता है। उदाहरण के लिए—

पद गाएँ मन हरषिया, साषी कह्यां अनंद।
सो तत नांव न जाणियां, गल मैं पड़िया फंध ॥४॥[3]
आधी साषी सिरि कटै, जोर विचारी जाइ।
मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥६॥[4]
हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़े तीर ॥१॥[5]
साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय ॥६६॥[6] इत्यादि।

देखे जा सकते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की रचनाओं का उस समय तक पूरा प्रचार रहा होगा। हो सकता है कि इनकी रचना की परंपरा गुरु

---

१. कबीर-बीजक (हरकसंस्करण), पृ० १२४
२. 'जहि मण पवण ण सञ्चरइ, रवि ससिणाह पवेस।
तहि वढ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस ॥२५॥—('दोहा-कोष', डा० बागची द्वारा संपादित, कलकत्ता, सन् १९३८ ई०)
३. 'कबीर-ग्रंथावली (काशी, प्रथम संस्करण), पृ० ३८
४. वही, पृ० ५५ ५. वही, पृ० ५६ ६. 'कबीर-बीजक', पृ० ९९

गोरख नाथ आदि जोगियों के आविर्भाव काल से आरंभ हुई हो क्योंकि 'खोज' में कभी-कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य-संग्रह भी मिल जाते हैं।[१] ऐसे संग्रहों, में ही 'नामदेव जी की साखी' नाम का भी एक हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध है,[२] और कबीर साहब ने नामदेव का नाम, गोरख की ही भाँति, लिया है।[३] ये साखियाँ अधिकतर उन सिद्धांतों को व्यक्त करती हैं जो उनके रचयिताओं के निजी अनुभवों पर आश्रित रहते हैं और जिन्हें वे इस प्रकार अपनी कसौटी पर पहले से कस चुकने के कारण, साधिकार प्रकट करने की क्षमता रख सकते हैं।[४] ये सूत्रों की भाँति 'अल्पाक्षर', 'असंदिग्ध' एवं 'सारवत्' भी कही जा सकती हैं जिस कारण, इनके छोटी रहने पर भी, इन्हें बहुत ऊँचा एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है।

साखियों की रचना प्रायः 'दोहा' नामक छंद में ही की गई पायी भी जाती है, किंतु कबीर साहब की सभी साखियां केवल इसी रूप में नहीं दीखती; इनमें न केवल सोरठे मिलते हैं, अपितु इनमें दोही, चौपई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पै जैसे छंदों, के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।[५] अतएव, 'साखी' शब्द को हम केवल 'दोहा' का पर्यायवाची नहीं मान सकते और न इसे 'दोहरा' का अर्थ सूचक ठहरा सकते हैं। गो० तुलसीदास ने एक स्थल पर, 'अधम' कवियों के भक्ति-निरूपण की शैली की आलोचना करते हुए, 'साखी' को दोहरे एवं सबदियों से भी पृथक् मानकर कहा है—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि निंदहि बेद पुरान॥[६]

जिसके पाठभेदानुसार 'अधम कवि' की जगह 'भगत कलि' भी दीख पड़ता है, किंतु दोहे की प्रथम पंक्ति इसी रूप में पायी जाती है। इसमें आये

१. 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पहला भाग (का० ना० प्र० सभा) पृ० ३४

२. वही, पृ० ६४। ३. 'कबीर ग्रंथावली' पद १६३, पृ० १४२ एवं पद ३८७, पृ० २१६

४. 'संत काव्य', भूमिका पृ० ३६

५. 'क० ग्रं०', सा० १०, पृ० १२, 'क० बी०', सा० ४४, पृ० ३७२, सा० १५०, पृ० ३६१, सा० ३७, पृ० ३७१, सा० ३४ पृ० ३७१, सा० ४१, पृ० ३७२, सा० २६, पृ० ३६४ तथा 'क० ग्रं०' सा० १, पृ० ५७

६. 'तुलसी' ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, तृतीय संस्करण) पृ० १२१

हुए 'सबदी' नामक काव्य-प्रकार के अंतर्गत रखी जाने वाली रचनाओं के उदाहरण हमें 'गोरखबानी' में मिलते हैं।[1] 'दोहरा' नाम दोहे का हो सकता है जो बहुत पुराना छंद है, 'दोहा' को बहुधा 'दोग्धक' शब्द का रूपांतर कहा जाता है जो उचित नहीं जान पड़ता और, इसीलिए, कुछ लोगों ने इसे 'द्विधा' से बना भी बतलाया है। यह छंद अपभ्रंश भाषा के कवियों के लिए सबसे प्रिय काव्य रूप माना जाता रहा है। संस्कृत में जैसी प्रधानता 'श्लोक' छंद को दी जाती रही तथा प्राकृत में जिस प्रकार 'गाथा' छंद लोक प्रिय रहा उसी प्रकार 'दोहा' वा 'दूहा' के सर्वाधिक प्रयोग अपभ्रंश भाषा में दीख पड़ते हैं। दोहे का सर्वप्रथम उदाहरण हमें महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है जो छठीं शताब्दी की रचना समझा जाता है और वह इस प्रकार है—

मइं जाणिअँ मिअलोअणी, णिस अरु कोइ हरेइ।
जाव णु णवतलि सामल, धाराहरु बरिसेइ ॥८॥

अपभ्रंश को, दोहे के प्रति इतनी आत्मीयता प्रदर्शित करने के ही कारण, कभी-कभी 'दोहा बंध' अथवा 'दूहा विद्या' तक अभिहित किया जाता था। इस छंद के प्रयोग पीछे बौद्ध सिद्धों ने किये और जैन मुनियों ने भी अनेक दूहों की रचना की। 'हिंदवी' के सूफ़ी कवियों ने भी दोहरों को अपनाया। दोहे वा साखी को 'आदि ग्रंथ' में 'सलोक' नाम दिया गया है वह, कदाचित्, इसके छोटा तथा, संस्कृत के श्लोक की भाँति, बहुत प्रसिद्ध होने के कारण है। अन्यथा राजस्थानी भाषा में व्यवहृत होने वाले 'सलोका' के साथ इसका कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। 'सलोका' वा 'सिलोका' को 'रघुनाथ रूपक' में "वचनिका का दूसरा भेद" सिद्ध किया गया है[2] और जो उदाहरण, इसके लिए, दिया गया है वह भी साखी वा दोहे से नितांत भिन्न ढंग का है।

दोहा एक मात्रिक छंद है जो साधारणतः २४ मात्राओं का होता है और जिसके विषम चरणों में १३ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ रहा करती हैं। इसके पहले तथा तीसरे अर्थात् विषम चरणों में 'जगण' से आरंभ नहीं होना चाहिए और इसके दूसरे एवं चौथे अर्थात् सम चरणों में 'लघु' का आना भी आवश्यक है। यदि इसके प्रथम तथा तृतीय चरण 'जगण' से आरंभ होते हैं

---

१. 'गोरखबानी', पृ० १-८३
२. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (वर्ष ४८, अंक ४), पृ० ४२८-६

तो इसे 'चंडालिनी-दोहा' कहा जाता है और इसका प्रयोग दूषित समझा जाता है। दोहे के अनेक भेद होते और उनमें से २३ के उदाहरण 'भानु' जी के 'छन्दः प्रभाकर' ग्रंथ में भी दिये गए हैं। 'दोही' छंद दोहे से भिन्न हैं क्योंकि उसके विषम चरणों में १३ की जगह १५ मात्राएँ आती हैं और, इसी प्रकार 'हरिपद' भी, उसके विषम चरणों में १६ मात्रा होने के कारण, इससे भिन्न ही है। सोरठे और दोहे में केवल इतना ही अंतर दीख पड़ता है कि इसके प्रथम एवं तृतीय चरण ही ११ मात्राओं के होते हैं और दूसरे तथा चौथे में १३ मात्राएँ आती हैं। यह छंद भी २४ मात्राओं का ही होता है और यह वस्तुतः दोहे के उलट देने पर भी बन जाता है। राजस्थान में सोरठे को दूहे से अधिक अच्छा भी कहा जाता रहा है[1]। 'गीता' छंद के अंत में भी, दोहे की भाँति, गुरु लघु आते हैं किंतु उसकी पंक्तियों में, क्रमशः १४ एवं १२ मात्राओं पर विश्राम होने से, उसमें २६ मात्राएँ रहा करती हैं इसी प्रकार 'सार' एवं 'चौपई' छंद भी दोहे से बड़े होते हैं क्योंकि पहले में जहाँ १६ एवं १२ मात्राओं पर विराम होता है वहाँ दूसरे में यह क्रम १५, १५ पर मिलता है। कबीर साहब की साखियों में पाये जाने वाले, दोहे से भिन्न, अन्य छंदों के विषय में भी इसी प्रकार दिखलाया जा सकता है।

कबीर साहब की रचनाओं के 'कबीर-ग्रंथावली' नामक संग्रह के अंतर्गत उनकी सभी साखियों को विविध 'अंगों' के अनुसार विभाजित किया गया है। यह विभाजन 'कबीर-बीजक' अथवा 'आदि ग्रंथ' नामक संग्रहों में नहीं पाया जाता और न इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रथा बहुत पुरानी ही कही जा सकती है। आज तक जो सबसे प्राचीन उदाहरण इस बात का मिलता है वह कदाचित् 'ग्रंथावली' की आधारभूत सं० १५६१ की हस्तलिखित प्रति का ही है जिसे असंदिग्ध नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी पुष्पिका में लिखे गए '१५६१' वाले अंकों के विषय में पीछे से बनाये गए होने का संदेह किया जाता है। अंगों के अनुसार किया गया सबसे पुराना प्रामाणिक वर्गीकरण रज्जबजी द्वारा संपादित 'दादूदयाल की वाणी' वाली साखियों का ही कहा जा सकता है जिसे उन्होंने 'अंगवधू' नाम भी दिया था। संत दादूदयाल की साखियों का उसके पूर्व किया गया संग्रह अंगरहित ही है और वह नैराणां में संभवतः आजतक सुरक्षित है। पता नहीं रज्जबजी ने इस प्रथा को, किन्हीं अन्य उदाहरणों के अनुकरण में, चलाया था अथवा इसे स्वयं आरंभ

---

१. दे० 'सोरठियो दूहो भलो, चल मरवणरी बात', इत्यादि

किया था। किंतु इतना निश्चित है कि यह पीछे बहुत लोकप्रिय हो गई। 'अंग' शब्द के विषय में अनुमान किया गया है कि वह साखीस्वरूप गुरुदेव के शरीर के विविध भागों का परिचायक है। किंतु, इस कथन को यदि हम प्रामाणिक माने तो, फिर उपलब्ध विभिन्न अंगों वाले शीर्षकों में संगति भी बिठायी जा सकेगी। किंतु बात ऐसी नहीं है। इन अंगों की संख्या 'कबीर ग्रंथावली' में ५९ है और अन्य संग्रहों में यह ८४ अथवा इससे भी अधिक की दीख पड़ती है जिसके लिए कोई समुचित समाधान भी नहीं दिया जाता, अतएव, अधिक संभव है कि, 'अंग' शब्द वस्तुतः उन विविध विषयों के लिए व्यवहृत हुआ हो जिनपर कबीर साहब ने समय-समय पर साखियाँ कही होंगी। स्वयं कबीर साहब ने 'अंग' शब्द का प्रयोग अपनी एक साखी में 'लक्षण' के अर्थ में किया है; जैसे,

> **निरबैरी निह-कांमता, सांई सेती नेह।**
> **विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥**[1]

ऐसी दशा में उनकी साखियों की संख्या को निश्चित कर देना भी केवल अनुमान मात्र पर ही निर्भर होगा। 'कबीर ग्रंथावली' की विभिन्न साखियों का अंग विभाजन भी किसी वैज्ञानिक ढंग से किया गया नहीं प्रतीत होता और न कबीर साहब की साखियों के अन्य सभी संग्रहों में इसका ठीक अनुसरण ही किया गया है, क्योंकि एक अंग के शीर्षक में संगृहीत पद्यों को हम किसी अन्य अंग के अंतर्गत भी रख सकते हैं। पीछे के संतों के सवैये, भूलने, अरिल्ल एवं अन्य प्रकार की भी रचनाएँ प्रायः विविध अंगों के अनुसार विभाजित पायी जाती हैं। इसका प्रयोग केवल साखियों तक ही सीमित नहीं हैं।

२. पद

कबीर साहब की रचनाओं में प्रयुक्त एक अन्य प्रकार का काव्य-प्रकार, जो बहुत प्रसिद्ध भी है 'पद' अथवा 'सब्द' है। इसे कहीं-कहीं 'बानी' भी कहा गया है। 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' में इसे 'पद' कहा गया है और पहले में इसके लिए 'वाणी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'कबीर बीजक' में इसे 'सब्द' कहा है, 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' के अंतर्गत ऐसे काव्य-रूपों को, विभिन्न रागों के अनुसार विभाजित भी किया गया है; किंतु 'कबीर बीजक' में ऐसा नहीं किया गया है और न इन तीनों संग्रहों के ऐसे पद्यों का कोई एक निश्चित क्रम ही पाया जाता है। पदों की रचना हिंदी-साहित्य के आदिकाल से ही होती आयी

---

१ 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ४०

है और इसके उदाहरण हमें बौद्ध सिद्धों की चर्यागीतियों में भी मिलते हैं। कहा जाता है कि, उन चर्यागीतियों का चर्यापदों के पहले से ही, वज्रगीतियों की रचना होती आ रही थी, किंतु वे अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी जितनी मिलती हैं उनके साथ यदि चर्यापदों की तुलना की जाय तो पता चल जाता है कि वे ही वस्तुतः ऐसी रचनाओं का मूल आदर्श बनी होंगी। दोनों की रचना अपभ्रंश के प्रचलित छंद के ही अनुसार की गई है, किंतु चर्यापदों में कुछ नवीनता भी आ गई है। उदाहरण के लिए, वज्रगीतियों में जहाँ मात्रा का क्रम १३+१२ का चलता है वहाँ चर्यापदों के अंतर्गत वही केवल ८+७ अथवा ८+८+१२ (अथवा कभी-कभी १० का ही) मिला करता है और पहले में जहाँ अभी तक द्विपदियाँ ही दीख पड़ती थी वहाँ दूसरे में त्रिपदियाँ तक आ जाती हैं। इसके सिवाय वज्रगीतियों में कहीं किसी ध्रुवपद का स्पष्ट पता नहीं चलता, किंतु चर्यापदों में यह उनकी दूसरी द्विपदियों में ही दीख पड़ने लगता है। चर्यापदों को हम विविध रागों के अंतर्गत संगृहीत भी पाते हैं जो वस्तुतः उनके किसी न किसी रूप में गेय होने के ही कारण है।

बौद्ध सिद्धों के उक्त चर्यापदों का रूप इस प्रकार उन गेय पदों के ही समान जान पड़ता है जिन्हें, संगीतज्ञों के अनुसार 'प्रबंध' की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक ऐसे प्रबंध के प्रायः पाँच अंग होते थे जिन्हें क्रमशः उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा एवं आभोग के नाम दिये जाते थे। इनमें से उद्ग्रह सबसे पहले आता था और उसके अनंतर मेलापक को स्थान दिया जाता था जो उद्ग्रह एवं ध्रुव के बीच पारस्परिक मेल वा संबंध स्थापित करता था। इसी प्रकार ध्रुव पूरे प्रबंध वा गीत के लिए अनुपद वा बार-बार दुहराये जाने वाले अंश का काम देता था और अंतरा इस ध्रुव तथा अंत के आभोग का संधि-स्थल बन जाता था तथा इसी कारण, उसे कदाचित् यह नाम भी दिया गया था। आभोग अथवा प्रबंध के अंतिम अंश द्वारा पूरी रचना का आशय मिला करता था और, इसके साथ ही, उसमें बहुधा उसके रचयिता का नाम भी आ जाया करता था। संगीतज्ञों के इस 'प्रबंध' का नाम सादृश्य हमें उन रचनाओं का भी स्मरण दिलाता है जो दक्षिण भारत में बहुत प्रसिद्ध हैं और जिन्हें स्वामी रामानुजाचार्य के दादा-गुरु नाथमुनि (मृ० सं० ६७७) ने सर्वप्रथम, 'नाडायिर प्रबंधम्' (४००० भजनों का संग्रह) के नाम से संगृहीत किया था और जिनका पाठ वहाँ आज भी होता है। वे भजन प्रसिद्ध आळवार भक्तों की रचनाएँ हैं जिनके महत्त्व के कारण उक्त संग्रह कभी-कभी 'तमिळ वेद' तक कहा जाता है। पता नहीं उक्त 'प्रबंधम्'

में संगृहीत सभी भजनों की रचना उपर्युक्त ढंग से हुई है अथवा नहीं, किंतु इतना स्पष्ट है कि पीछे आने वाले भक्त कवियों की ऐसी रचनाएँ उक्त प्रबंध-पद्धति का ही न्यूनाधिक अनुसरण करती हैं और ये बौद्धों के उक्त चर्यापदों से भी बहुत कुछ मिलती हैं। प्रसिद्ध 'गीतगोविंद' के रचयिता जयदेव कवि, विद्यापति एवं चंडीदास आदि के पद लगभग उसी ढंग से ही निर्मित किये गए हैं।[1]

कबीर साहब के पद वा सब्द (शब्द) भी गेय कहे जा सकते हैं और ये प्रायः भजनों में भी सम्मिलित किये जाते हैं। इनके लिए प्रयुक्त 'सब्द' वा 'बानी' शब्दों द्वारा अनुमान किया जा सकता है कि ये उन महापुरुष के मुख से निःसृत वाक्यों के प्रतीक हैं। ये वे रचनाएँ हैं जिन्हें उन्होंने, स्वानुभूति के प्रभाव में आकर, गंभीर उद्गारों के रूप में प्रकट किया होगा; जो, इसी कारण, उनकी साधना अथवा सिद्धि के भी परिचायक कहे जा सकते हैं। साखियों की रचना का लक्ष्य किसी अन्य व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन भी हो सकता है, किंतु पदों के लिए यह आवश्यक नहीं है। ये प्रधानतः, आत्मज्ञान अथवा भक्तिभाव के कारण उमंग में आ जाने पर ही, रचे गये होंगे और, इसीलिए, इनमें गेयत्व का भी गुण आ गया है। आकार के विचार से ये छोटे वा बड़े, प्रायः सभी प्रकार के, हो सकते हैं, किंतु 'ध्रुव' एवं 'आभोग' का इनमें से प्रत्येक में पाया जाना आवश्यक जान पड़ता है। 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत 'ध्रुव' का नाम 'रहाउ' दिया गया दीख पड़ता है जो, कदाचित्, ठहराव का द्योतक है और यह, ध्रुव की ही भाँति, उद्ग्रह के पीछे आता है। किंतु उद्ग्रह एवं ध्रुव के बीच यहाँ कोई मेलापक नहीं पाया जाता और न इसके पदों में केवल पाँच ही अंग होते हैं। यह बात 'कबीर-ग्रंथावली' वाले पदों तथा 'कबीर बीजक' वाले सब्दों में भी नहीं दीख पड़ती और उक्त ध्रुव भी इनमें रचना के आरंभ में ही आ जाता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में ध्रुव के लिए 'टेक' शब्द का प्रयोग हुआ है जो, 'रहाउ' की ही भाँति, रुकावट पड़ने का भाव व्यक्त करता है किंतु 'कबीर-बीजक' में हमें यह टेक भी उपलब्ध नहीं है। 'सब्द' के साथ 'सब्दी' शब्द का भी कुछ साम्य दीख पड़ता है, किंतु 'गोरखबानी' में संगृहीत सबदियों को देखने से पता चलता है यह सादृश्य आकारगत नहीं है। सबदियों में अधिकतर दो ही पंक्तियाँ आती हैं और एकाध सबदियाँ केवल एक पंक्ति की भी है[2]

१. 'संतकाव्य', भूमिका, पृ० ३३-५

२. 'गोरखबानी, सबदी सं० १४२-"भग मुषि ब्यंद अगनि मुषिपारा। जो राषै सो गुरू हमारा", पृ० ४६

और उनमें 'ध्रुव' अथवा 'टेक' को भी कोई स्थान नहीं है।

कबीर साहब के समय में पद गाये जाते रहे होंगे और उन्हें 'गीत' भी कहा जाता रहा होगा जैसा कि स्वयं उनकी भी पंक्तियों द्वारा प्रकट हैं, जैसे—

पद गाएँ मन हरषिया, साषी कह्यां अनंद।
सोतत नांव न जांणियां, गलमैं पड़िया फंध ॥४॥[१]

तथा, तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥[२]

परंतु, इसी प्रकार, 'कबीर-बीजक' की निम्नलिखित पंक्ति में शब्दों एवं साखियों तक का गाया जाना कहा गया है—

साखी सब्दहि गायत भूले, आतम खबरि न जाना॥[३]

जिससे जान पड़ता है कि 'गान' का संबंध सदा शुद्ध संगीत के ही साथ न रहा होगा। 'सबद' शब्द का प्रयोग, 'कबीर-ग्रंथावली' के अंतर्गत प्रायः 'बचन' अथवा 'उपदेश के लिए हुआ है जैसा क्रमशः नीचे की पंक्तियों द्वारा भी स्पष्ट है—

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास॥१॥[४]

तथा, रे तैं जोग जुगति जान्यां नहीं,
तैं गुर का सबद मान्यां नहीं॥[५]

जो हो, कबीर साहब की पद कहलाने वाली रचनाओं के रागों के अनुसार विभाजित होने के कारण, हम उनके संगीतानुसार गेय होने का भी अनुमान कर सकते हैं और बहुत से संगीतज्ञों द्वारा उनका प्रायः गाया जाना भी इसी बात का समर्थन करता है। छंदोनियम के अनुसार विचार करने पर पता चलता है कि एक ही पद के अंतर्गत अनेक प्रकार के छंदों का समावेश कर लिया गया है। उदाहरण के लिए 'कबीर-ग्रंथावली' का पद (सं० १३) दिया जा सकता है जिसमें दोहा छंद है, सरसी है और इनके अतिरिक्त एकाध अन्य छंदों के भी विकृत रूप दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार उसके २१० वें पद में सरसी एवं शुभगीता एक साथ हैं। 'कबीर-बीजक' के ६० वें शब्द में भी हमें 'सार' एवं 'रूपमाला' नामक छंदों के उदाहरण मिलते हैं। कबीर साहब की ऐसी

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ३८   २. वही, पृ० ८६ (पद ५)
३. 'कबीर-बीजक' सब्द ४, पृ० २६   ४. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ६२
५. वही, पद २६, पृ० ६७

रचनाओं में जहाँ केवल एक ही छंद आया हुआ है वहाँ अधिकतर या तो सार है, या रूपमाला है, या ताटंक है अथवा विष्णुपद वा उपमान है। ये रचनाएँ रागों के अनुसार भी भिन्न-भिन्न संग्रहों में एक ही प्रकार विभाजित नहीं जान पड़तीं जिसका कारण उनके एक से अधिक ढंगों से गाये जाने योग्य होना भी कहा जा सकता है।

३. रमैनी

कबीर साहब की रचनाओं में रमैनियों का भी समावेश किया गया है और इनके उदाहरण हमें 'कबीर-बीजक' और 'कबीर-ग्रंथावली' में मिलते हैं। 'आदि-ग्रंथ' के अंतर्गत संग्रहीत रचनाओं में रमैनियाँ नहीं दीख पड़तीं। 'रमैनी' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि यह किसी 'रामणी' शब्द का रूपांतर है और इसका विषय "जीवात्मा की संसरणादिक क्रीड़ाओं का सविस्तर वर्णन" है [1] किंतु यह कथन ठीक नहीं जँचता।

'रामणी' शब्द का 'रमैनी' के रूप में परिवर्त्तित हो जाना साधारणतः संभव नहीं है और इसके अतिरिक्त जो इसका विषय कहा गया है वह भी सीमित सा सा है। 'रामायण' शब्द का क्रमशः 'रमैन' बन जाना तथा उसे अल्पत्त्व बोध कराने के लिए, 'रमैनी' रूप का दिया जाना उतना अस्वाभाविक नहीं है। 'रमैनी' नामक काव्य-प्रकार के विषय में कहा गया है कि यह कबीर संप्रदाय में बहुत पीछे चला है। किंतु 'कबीर-बीजक' की कतिपय पंक्तियों द्वारा पता चलता है कि इसका प्रयोग कबीर साहब के पहले से भी होता आ रहा था और, संभवतः, इसकी रचना का कोई विशेष लक्ष्य भी था; जैसे,

अदबुद रूप जात कै बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी। (रमैनी ४)[2]
जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह रमैनी गाई। (रमैनी ५१)[3]
जो मिलिया सो गुरु मिलिया, सीख न मिलिया कोय।
छः लाख छानबे रमैनी, एक जीव पर होय॥ (साखी २८८)[4]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'रमैनी' शब्द का प्रयोग क्रमशः स्तुति-वर्णन तथा उपदेश-प्रद पद्य के लिए किया गया है। तीसरे उदाहरण से यह भी जान पड़ता है कि रमैनियों की रचना लोकोपकार के उद्देश्य से भी की जाती थी और कबीर-पंथी लोगों में कबीर साहब के लिए प्रसिद्ध भी है कि उन्होंने—

---

१. 'कबीर साहब का बीजक' (सं० बिचारदास, प्र० नागेश्वरबख्श सिंह सं० १६८३), पृ० २८६-६०
२. 'कबीर बीजक,' पृ० २
३. वही, पृ० १७
४. वही, पृ० ११८

सहस छानबे औ छव लाखा।
जुग परमान रमैनी भाखा ॥[1]

रमैनियों की रचना कबीर साहब ने की होगी इस बात के प्रमाण में हम प्रसिद्ध 'भक्तमाल' रचयिता नाभादास की पंक्ति भी उद्धृत कर सकते हैं; जैसे,

हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं वचन सबही के हित की भाखी ॥[2] (छप्पय ६१)

नाभादास जी का रचना-काल प्रायः सं० १६४२ के आसपास ठहराया जाता है। यहाँ 'सबदी' शब्द 'सब्द' की जगह, छंदोनियम के कारण आ गया होगा।

'कबीर-बीजक' में कुल मिलाकर ८४ रमैनियाँ आती हैं और उन्हें ऊपर के क्रमानुसार 'सब्द' एवं 'साखी' के पहले स्थान भी दिया गया है। किंतु कबीर-ग्रंथावली' में रमैनियाँ क्रमशः 'साखी' एवं 'पद' के अनंतर अंत में आयी हैं और संख्या के विचार से ये वहाँ केवल छः ही कही जा सकती हैं। 'ग्रंथावली' की रमैनियों के आरंभ में 'राग सूहौ' शीर्षक भी दिया गया दीख पड़ता है जो इन्हें पदों में समाविष्ट करने की ओर संकेत करता है। इस शीर्षक के नीचे चार पंक्तियाँ दी गई हैं और उनके अंत में 'टेक' भी लिख दिया गया है जिसके अनंतर २० अन्य पंक्तियाँ भी आती हैं। इन पंक्तियों के समाप्त हो जाने पर संख्यासूचक १ का अंक आता है जो संभवतः पहली रमैनी का भी सूचक हो सकता है। किंतु रमैनियाँ वस्तुतः इस रचना के पीछे आती हैं और उनके शीर्षक क्रमशः 'सतपदी रमैणी,' 'बड़ी अष्टपदी रमैणी', 'दुपदी रमैणी,' 'अष्टपदी रमैणी' 'बारहपदी रमैणी' तथा 'चौपदी रमैणी' नाम से है।

'ग्रंथावली' के पृ० २२४ में दी गई पाद टिप्पणी से यह भी पता चलता है कि उसकी प्रति ख० के अंतर्गत, 'रागसूहौ' वाली पूरी रचना के अनंतर, 'ग्रंथ बावनी' मिलती है और उसके संपादक ने, इसे पूरा का पूरा उद्धृत करके, इसके अंत में २ की संख्या भी दे दी है। 'ग्रंथावली' के प्रकाशित मूल्य रूप में यह संख्या 'सतपदी' को दी गई है। 'ग्रंथ बावनी' का एक यत्किंचित् परिवर्त्तित रूप हमें 'आदिग्रंथ' में भी मिलता है जहाँ इसे 'बावन अखरी' का नाम दिया गया है। 'आदि ग्रंथ' के अंतर्गत रमैनियों के नाम से कोई रचना क्यों नहीं आती इसका कारण स्पष्ट नहीं है।

---

१. 'हिंदुस्तानी' (भा० २ अं० ४), पृ० ३७१

२. 'भक्तमाल' (नाभादास), नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृ० १४२

रमैनियों की रचना दोहों, चौपाइयों में की गई पायी जाता है और इनका विषय भी प्रधानतः वर्णनात्मक है। दोहों, चौपाइयों का यह प्रयोग भी हमें अप-भ्रंश भाषा अथवा साहित्य का ही देन समझ पड़ता है यद्यपि इसका नाम वहाँ पर भिन्न है। अपभ्रंश की काव्य-रचना में एक पद्धति 'कड़वकबद्ध' की थी जिसमें साधारणतः पहले 'पज्झटिका' या 'अरिल्ल' छंद की पंक्तियाँ लिखी जाती थीं और पीछे एक 'घता' भी दे दिया जाता था यह 'घता' ध्रुवक का काम करता था जो पदों के ध्रुव का रहाउ से भिन्न वस्तु है। प्रत्येक कड़वक प्रायः आठ 'यमकों' का हुआ करता था और प्रत्येक यमक में दो पद होते थे जो 'पद्धडिया वद्ध' भी कहे जाते थे तथा, चौपाइयों के अधिक प्रचलित होने के पहले इसी का प्रचार था। अरिल्ल छंद वस्तुतः चौपाई का ही पूर्व रूप है और वर्णनात्मक ग्रंथों में अधिकतर उसी का प्रयोग हुआ करता था। स्वयंभू कवि (लगभग सं० ८००) की अपभ्रंश रचना 'पउम चरिउ' (रामायण) के अंतर्गत 'घता' वाले क्रम का प्रयोग प्रायः इसी ढंग का दीख पड़ता है। रमैनी में जहाँ चौपाइयाँ आती हैं वहाँ 'कडवकबद्ध' रचना में अरिल्ल रहा करते थे और इसके दोहे अथवा साखी का स्थान घत्ता को मिला करता था। किसी वस्तु वा घटना का केवल एक ही छंद के प्रयोग द्वारा वर्णन करते समय बीच-बीच में एक अन्य छंद के प्रयोग से विश्राम लेना दोनों की विशेषता है और इसी कारण, इस पद्धति का प्रयोग विशे-षतः लंबी-लंबी कथाओं वाले काव्य-ग्रंथों में ही हुआ है। चौपाई छंद का प्रयोग गुरु गोरख नाथ की समझी जाने वाली रचना 'प्राण संकली' में भी पाया जाता जाता है, किंतु वहाँ पर दोहे नहीं दीख पड़ते। सिद्ध सरहपा के 'दोहाकोष' में जो इस प्रकार का प्रयोग मिलता है उसमें भी किसी क्रम की नियमवद्धता नहीं पायी जाती। इसके सिवाय इसकी भाषा भी अपभ्रंश है। इस प्रकार जहाँ तक पता चलता है कबीर साहब की रमैनी ही वह सर्वप्रथम रचना है जिसमें उक्त क्रम को निभाने की चेष्टा की गई है।[1] इस 'रमैनी' तथा उक्त 'बावनी' में से कौन अधिक प्रामाणिक है अथवा दोनों में से कोई भी एक उनकी वास्तविक रचना है वा नहीं यह दूसरा प्रश्न है।

---

१. मुल्ला दाऊद की प्रेमगाथा 'नूरक चंदा' (लोरक चंदा) अथवा 'चंदा-यन' का रचना-काल हि० सन् ७८१ (सं० १४३६) समझा जाता है और उसकी अभी हाल की उपलब्ध एक अधूरी हस्तलिखित प्रति से जान पड़ता है कि उसके रचयिता ने भी दोहों, चौपाइयों वाली क्रमबद्ध शैली का ही प्रयोग किया होगा।—ले०

'रमैनी' में आने वाले दोनों छंदों में से 'दोहे' का परिचय इसके पहले दिया जा चुका है। 'चौपाई' भी एक मात्रिक छंद है। इसके चार चरण होते हैं जिनमें से प्रत्येक में १६ मात्राएँ होती हैं और इसके दो-दो चरणों को अर्द्धाली भी कहा जाता है। चरणों की अर्द्धाली में तुक का बैठना भी आवश्यक है, किंतु फिर भी उनके अंत में कभी गुरु-लघु नहीं आना चाहिए, एक से अधिक लघु आ जायँ तब भी कोई हानि नहीं। 'अरिल्ल' छंद में भी १६ मात्राएँ होती है, किंतु उसके चरणों के अंत में दो लघु आते हैं अथवा एक मगण (लघु गुरु गुरु) आया करता है। रमैनियों में साधारणतः दोहों के बीच ८ अर्द्धालियाँ आनी चाहिए। किंतु लगभग सभी ऐसी रचनाओं में इसके अपवाद मिल जाया करते हैं। कबीर साहब की रमैनियों में भी यह व्यतिक्रम पाया जाता है। 'कबीर-बीजक' की रमैनिमों में दो साखियों के बीच अधिक से अधिक १३ तथा कम से कम दो अर्द्धालियाँ तक आयी हैं। परंतु 'कबीर-ग्रंथावली' की रमैनियों में यह संख्या अधिक से अधिक ८२ तक पहुँच गई है (दे० 'दुपदी रमैणी) और कम से कम केवल ३ तक आती है। इन रमैनियों को पृथक्-पृथक् 'सतपदी', 'दुपदी', 'अष्ट पदी', 'बारहपदी' और 'चौपदी' के शीर्षकों में रखा गया है जिससे जान पड़ता है कि यह उनके क्रमशः सात, दो, आठ, बारह एवं चार की संख्याओं में होने के कारण है, किंतु उन शीर्षकों में से एक का नाम 'बड़ी अष्टपदी' भी दे दिया है जो, कदाचित् उसमें संगृहीत पंक्तियों के अधिक हो जाने से है। 'कबीर-ग्रंथावली' की रमैनियों के आरंभ में, 'रागसूहौ' के अंतर्गत, आने वाली रचना के अंत में कोई साखी नहीं आती जिस कारण वह रमैनी नहीं है। इसी प्रकार हम, नियमानुसार, 'कबीर-बीजक' की २८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८० एवं ८१ संख्यक रमैनियों को भी शुद्ध रमैनी नहीं कह सकते। कबीर-बीजक में आयी हुई कुल ८४ रमैनियों की चौपाइयों की पंक्ति संख्या ४६० तथा साखियों की १५२ अर्थात् सभी मिल कर ६१२ हैं जहाँ 'कबीर-ग्रंथावली' की रमैनियों की अर्द्धालियाँ ४०३ हैं और उसकी साखियों की पंक्तियाँ केवल ८२ मात्र हैं तथा ये सभी मिलाकर ४८५ तक जाती हैं।

४. बावनी

'कबीर-ग्रंथावली' में दी गई 'बावनी' तथा 'आदिग्रंथ' की 'बावन अषरी' की चर्चा पहले की जा चुकी है। 'कबीर-ग्रंथावली' के 'ग्रंथ-बावनी' में कुल छः पद आते हैं और इसकी एक विशेषता यह है कि इसका आरम्भ दोहे से और अंत चौपाइयों से होता है। इसके सिवाय इसमें एक यह बात भी उल्लेखनीय

है कि इसके पहले और छठे पदों के आदि में एक-एक की जगह दो-दो दोहे दिये गए हैं। इस 'बावनी' में दोहों की कुल पंक्तियाँ १६ हैं और चौपाइयों की अर्द्धालियाँ ६८ तक पहुँचती है। तथा इस प्रकार, इसकी कुल पंक्तियाँ २४ हैं जहाँ 'बावन अषरी' के दोहों की पंक्तियाँ १८ हैं तथा चौपाइयों की ७४ है और इनकी कुल संख्या ६२ तक पहुँच जाती हैं। 'बावनी' नामक काव्य-प्रकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी रचना, हिंदी की वर्णमाला के अक्षरों को क्रमशः ध्यान में रखते हुए की गई है। 'ग्रंथबावनी' के आरंभ में ही कह दिया गया है।

बावन आखिर लोकत्री सब कुछि इनही मांहि।[1]

जिसका 'आदि-ग्रंथ' की 'बावन अषरी' वे अंतर्गत केवल किंचित् रूपांतर ही मिलता है। किंतु दोनों रचनाओं की वर्णमालाओं में कुछ अंतर दीख पड़ता है। उदाहरण के लिये 'बावनी' में जहाँ 'ङ०' तथा 'ञ' के भी लिए 'न' आता है और 'य' के लिए 'ज', 'श' के लिए 'स' तथा 'ख' (क्ष) के लिए भी 'ष' ही आये हैं वहाँ 'अषरी' बहुत कुछ आजकल की प्रचलित वर्णमाला के अधिक निकट जान पड़ती है और उसमें इस प्रकार के उदाहरण कम हैं।

श्री अगरचंद नाहटा ने 'आपणों कविओं' नामक गुजराती ग्रंथ के आधार पर इन बावन अक्षरों को इस प्रकार गिनाया है—

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, रि (ऋ), री (ॠ), लि (ऌ), ली (ॡ), ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य,र,ल, व, श, ष,स, ह, क्ष, त्र

जो, वस्तुतः, ५१ ही ठहरते हैं। इस कारण, संभव है कि उनकी ५२ वीं संख्या की पूर्ति ॐ से आरंभ करके की जाती रही हो। उन्होंने स्वयं भी कहा है कि "जैन रचनाएँ ऊं, न, म, सि, ध (ॐ नमो सिद्ध) के अक्षरो से प्रारंभ होती हैं" और कबीर साहब की 'बावनी' अथवा 'अषरी' में भी 'ओ ऊंकार' 'अथवा' 'ओ अंकार' के प्रयोग आये हैं जिनसे इस अनुमान की पुष्टि का होना संभव है। इस प्रकार की अन्य रचनाएँ 'अखरावट', 'बारह खड़ी', 'कक्कहरा' आदि नामों से भी प्रसिद्ध हैं किंतु उन सभी में कुल ५२ अक्षरों का समावेश नहीं किया जाता। नाहटा जी के अनुसार 'बावनी' नामक काव्य-प्रकार के आविष्कर्ता

---

१. 'मधुकर', (जून, जुलाई, सन् १९४६), पृ० ४६४

जैन कवि ही ठहरते हैं और उन्होंने इस प्रकार की सर्व प्रथम उपलब्ध रचना का नाम किसी पृथ्वीचंद्र द्वारा रचित 'मातृका प्रथमात्तर दोधक' दिया है, जिसके दोहों की संख्या ५८ है और जो लगभग सं० १४०० की लिखित है। परंतु यह रचना केवल दोहों में ही की गई जान पड़ती है और कबीर साहब की 'बावनी' अथवा 'अषरी' से इस बात में भिन्न ठहरती है। नाहटा जी का कहना है कि "बावनी साहित्य के प्रमुख छंद दोहा, सवैया, कवित्त, छप्पय एवं कुण्डलियाँ हैं" और यहाँ भी कदाचित्, कबीर साहब की इस रचना पर ध्यान नहीं दिया गया है।

बावनी-साहित्य की रचनाएँ संत-साहित्य के अंतर्गत भी पायी जाती हैं, किंतु उनकी रचना पीछे की सिद्ध होती है। संत-भीषजन की प्रसिद्ध 'भीष बावनी' सं० १६८३ में लिखी गई थी और उसमें ॐ कार को भी लेकर केवल ५० अत्तर ही आते हैं।[1] कबीर साहब की 'बावनी' में ये केवल ३५ ही हैं। भीषजन वाली रचना में 'अ' से लेकर 'अः' तक स्वर आये हैं और उनमें ऋ, ॠ एवं लृ, ॡ तक सम्मिलित हैं तथा उसमें व्यंजनों का व्यवहार 'ह' तक है। किंतु कबीर साहब की रचना में स्वर नहीं आये हैं आहि, अंत में, 'ह' के अनंतर 'स' एवं 'ष' भी दे दिये गए हैं। इसमें ५२ अत्तरों का आना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता, किंतु, फिर भी कह दिया गया है—

बावन अषिर जोरे आंनि, एको अषिर सक्या न जानि।[2]

'अषरी' में भी केवल ३५ ही अत्तर हैं जिनके रूप अधिक आधुनिक से जान पड़ते हैं। अतएव, संभव है कि 'बावनी' का 'बावन अषरी' की रचना करते समय उसके रचयिता ने अत्तरों की ५२ संख्या पर विशेष ध्यान नहीं दिया हो और किसी प्रचलित रचना पद्धति का अनुसरण मात्र कर दिया हो। इसमें संदेह नहीं कि नागरी लिपि के अंतर्गत १६ स्वर एवं ३६ व्यंजन माने जाते हैं और इनमें ॐ की गणना नहीं की जाती। इसलिए, यदि उन सभी अत्तरों के क्रमानुसार पद्य रचना अभिप्रेत रही तो उनमें से प्रत्येक का आ जाना भी आवश्यक था।[3] यों तो बावनी-साहित्य में बहुत-सी ऐसी रचनाएं भी सम्मिलित की जा

१. 'पञ्चामृत' (संत-साहित्य सुमन माला, जयपुर, सन् १९४८ ई०) पृ० १-२१

२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २२७ (पाद टिप्पणी)

३. 'अषरी' शब्द का अभिप्राय यहाँ किसी वर्णमाला के अत्तरों से न होकर उस अविनाशी (अत्तर) तत्त्व से भी हो सकता है जिनका उन अत्तरों में वर्त्तमान रहना बतलाया गया है। —लेखक

सकती हैं जिनका नामकरण उनके पद्यों की ५२ संख्या के कारण हुआ है; जैसे, भूषण कवि की 'शिवाबावनी' आदि।

५. चौंतीसा

'कबीर-बीजक' में काव्य-रचना का एक प्रकार 'चौंतीसा' नाम का भी है जो वर्ण क्रम के प्रयोग में उपर्युक्त 'ग्रंथ बावनी' का अनुसरण करता है। इसमें कुल ६६ पंक्तियाँ हैं जिनमें से २० के अनंतर, कुछ संस्करणों में, एक साखी आती है। हरक वाले संस्करण में इस-साखी का भी रूप अन्य पद्यों के ही समान है। 'कबीर-बीजक' के इस 'ग्यान चौंतीसा' का पता 'आदिग्रंथ' अथवा 'कबीर-ग्रंथावली' में नहीं चलता, यद्यपि इन तीनों की कुछ पंक्तियों में साम्य भी दीखता है; उदाहरण के लिए—

च चा चित्र रचो बहु भारी, चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी।
जिन्ह यह चित्र विचित्र उखेला, चित्र छोड़ि तैं चेतु चितेला ॥[1]

च चा रचित चित्र है भारी, तजि चित्रै चेतहु चितकारी ॥
चित्र विचित्र इहै अवझेरा, तजि चित्रै चित राखि चितेरा ॥१२॥[2]

च चा रचित चित्र है भारी, तजि विचित्र चेतहु चितकारी।
चित्र विचित्र रहै औडेरा, तजि विचित्र चित राखि चितेरा ॥[3]

में बहुत कुछ समानता है और तीनों का अंतर पाठभेद के ही कारण जान पड़ता है। परंतु 'ग्यान चौंतीसा' की अधिकांश अन्य पंक्तियाँ उन दोनों रचनाओं से नितांत भिन्न प्रतीत होती हैं। इस 'चौंतीसा' में भी स्वरों को छोड़ दिया गया है और ॐ को लेकर केवल व्यंजनों का व्यवहार किया गया है; जैसा, 'ग्रंथ बावनी' एवं 'बावन अषरी' में भी दीख पड़ता है। ॐ का परित्याग कर देने पर इन तीनों ही रचनाओं में वर्णक्रम वाले अक्षरों की संख्या केवल ३४ ही आती है हैं जिस कारण सभी के लिए 'चौंतीसा' नामक सार्थक हो सकता है।[4] "ग्यान चौंतीसा"

---

१. 'कबीर बीजक' चौंतीसा, पृ० ६६ २. 'आदि ग्रंथ' (रागु गउड़ी), पृ० ३४०

३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २२३

४. अपभ्रंश की इस प्रकार की 'कक्का' कही जाने वाली पुरानी रचना 'ह' तक समाप्त हुई है जिस कारण उसमें केवल ३३ अक्षर ही आते हैं। (दे० 'शालिभद्र कक्का'—'हिंदी काव्यधारा' पृ० ४७२-८)

में चौपाई छंद का व्यवहार किया गया दीख पड़ता है किंतु इसके सभी पद्यों में उसका शुद्ध रूप लक्षित नहीं होता। इसकी पंक्तियों को पढ़ने से पता चलता है कि इसमें चौंतीस अक्षरों के पारस्परिक कथोपकथन द्वारा उपदेश देने की चेष्टा की गई है।

प्रसिद्ध है कि असम प्रांत के प्रसिद्ध भक्त कवि शङ्कर देव (सं० १५०६-१६२६) जब अपनी यात्रा में काशी आये थे तो वे यहाँ पर कबीर साहब की 'चौंतीसा' नामक रचना द्वारा बहुत प्रभावित हुए थे और इसके अनुकरण में उन्होंने स्वयं भी 'चातिहा' की रचना की थी। उनके 'चातिहा' की पंक्तियाँ भी क, ख, ग आदि से आरंभ होती हैं और वे संख्या में ३६ हैं।[1] यदि यह सत्य हो तो कबीर साहब की उक्त रचना की प्रामाणिकता पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

६. थिंती

'आदि ग्रंथ' में कबीर साहब की एक रचना 'थिंती' शीर्षक के नीचे भी रखी गई है। 'थिंती' तिथि शब्द का रूपांतर है जिसका अभिप्राय प्रतिपदादि विभिन्न तिथियों से होता है और जिनके अनुसार क्रमशः पंक्तियों की रचना कबीर साहब के पहले से भी होती आई है। 'गोरख बानी' में हमें एक रचना 'पंद्रह तिथि' के नाम से मिलती है जिसमें 'अमावस' से आरंभ करके 'पून्यं' (पूनो) तक सोलह तिथियों का समावेश है। कबीर साहब की 'थिंती' रचना में तिथियों की संख्या तथा उनका क्रम 'बानी' की 'पंद्रह तिथि' के ही समान है। इस प्रकार की किसी रचना का पता 'कबीर ग्रंथावली' में नहीं चलता और न यह 'कबीर बीजक' में ही पायी जाती है। 'आदिग्रंथ' की 'थिंती' का आरंभ एक 'सलोकु' से होता है जो दोहा छंद में न होकर प्रत्येक पंक्ति में १४+१५ के क्रमानुसार आगे बढ़ता है, किंतु पूरी रचना में इसके इस नियम का निर्वाह नहीं है। इस 'सलोकु' के अनंतर वास्तविक 'थिंती' आरंभ होती है जिसकी प्रथम दो पंक्तियों में अमावस के अनुसार चर्चा करके उसके पीछे, पदों जैसा, एक रहाउ लगा दिया गया है।

---

१. Shankardeva—A Study : Har Mohan Das, pp. 115-6 ; also, Assamese Litrature, pp. 21-2 : P. E. N.Series.

'परवा' से 'पूनिउ' तक की तिथियों के क्रम से फिर यह काव्य-प्रकार चलता है और कुल मिलाकर ३६ पंक्तियों में समाप्त हो जाता है। इस रचना का विषय प्रधानतः साधना से संबंध रखता है और इसमें संक्षेपतः प्रायः सभी आवश्यक बातों की ओर किया गया संकेत पाया जाता है। इस 'थिंती' की अंतिम पंक्ति तथा 'बानी' की 'पन्द्रह तिथि' की अंतिम पंक्ति में विचित्र भावसाम्य लक्षित होता है; जैसे,

आदि अंति मधि होइ रहिआ थीर। सुख सागर महि रमहि कबीर ॥१६॥[1]
भया थीर तब आछै धीर। अनंत सिधां श्री गोरष पीर ॥१७॥[2]

७. वार

'आदि ग्रंथ' में उपर्युक्त 'थिंती' के अनंतर कबीर साहब की एक रचना 'वार' शीर्षक में भी दी गई दीख पड़ती है। यह रचना इस संग्रह में, थिंती की ही भाँति 'रागु गउड़ी' के अंतर्गत रखी गई है जहाँ इसी को कुछ पाठभेद के साथ 'कबीर-ग्रंथावली' के 'राग बिलावल' में स्थान मिला है। 'कबीर बीजक' में इसका पता नहीं चलता और न वहाँ कोई अन्य काव्य-प्रकार ही इस क्रम का अनुसरण करता है। 'वार' से अभिप्राय प्रसिद्ध सात वारों से है जिनके नाम, क्रमशः, ले लेकर पूरी रचना समाप्त करने की चेष्टा की गई है। फिर भी, 'आदित' आदि की भाँति, 'शनि' का नाम दिया गया नहीं दीख पड़ता। इस 'वार' नामक रचना में एक बात यह भी उल्लेखनीय यह है कि इसमें 'रहाउ' इसकी प्रथम पंक्ति में आ जाता है। अन्य पदों की रचना, 'आदि ग्रंथ' में, इस ढंग से की गई नहीं जान पड़ती जहाँ कबीर 'ग्रंथावली' के सभी पदों में इसके उदाहरण मिलते हैं। इसमें 'रहाऊ' की जगह 'टेक' दी गई है। इस 'वार' का भी नियम प्रधानतः साधना ही है और यहाँ पर भी उपदेश दान की ही शैली को अपनाया गया है। 'गोरखबानी' में इस प्रकार की रचनाओं को 'सप्तवार' नाम दिया गया है और उसका आरंभ भी एक 'टेक' वाली ही पंक्ति से होता है। इन दोनों रचनाओं में एक विचित्र साम्य इस बात का भी दीख पड़ता है कि इसमें भी केवल 'आदित' से लेकर 'सुक्र' तक के ही वारों के नाम स्पष्ट हैं। शनि का नाम यहाँ पर भी लिया गया नहीं लक्षित होता। इन 'वार' नामक रचनाओं में, अन्य वारों की ही भाँति, शनिवार के लिए दो पंक्तियों की रचना होने पर भी शनि (वा शनिवार) का नाम न लेना रहस्यमय हो सकता है।

८ बसंत

'कबीर-बीजक' के 'बसंत' शीर्षक में १२ रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनमें

---

१. 'आदि ग्रंथ', रागु गउड़ी ७६, पृ० ३४४ २. 'गोरख बानी', पृ० १८३

से सभी एक ही आकार की नहीं हैं। पहले, दूसरे, तीसरे, नवें तथा बारहवें पद्यों में ७-७ पंक्तियाँ हैं, चौथे, पाँचवें तथा छठे में ५-५ हैं। इसी प्रकार, सातवें एवं आठवें में से प्रत्येक में क्रमशः १० तथा ४ हैं। 'आदिग्रंथ' में 'रागु बसंतु' के अनुसार ८ पद संगृहीत हैं और 'कबीर ग्रंथावली' में ऐसे पदों की संख्या १३ तक की है। 'आदिग्रंथ' के रागु बसंतु वाले दूसरे पद एवं 'कबीर ग्रंथावली' के राग बसंत में ११वें पद का ही एक पाठभेद हमें 'कबीर-बीजक' के १०वें बसंत में दिखलायी पड़ता है। अतएव, अनुमान किया जा सकता है कि 'कबीर-बीजक' की अन्य रचनाओं को भी राग बसंत के ही अंतर्गत मान लेना अनुचित न होगा। इन बसंतों के वर्ण्य विषयों में कोई विशेषता नहीं लक्षित होती और वे प्रायः वे ही हैं जो कबीर साहब की अन्य साधारण रचनाओं के हैं।

किंतु 'बसंत' शब्द का प्रयोग होने से हमारा ध्यान सहसा उस प्रसिद्ध काव्य-प्रकार की ओर चला जाता है जिसे 'फाग' की संज्ञा दी जाती आई है। संभवतः 'फागु काव्य' की मौखिक परंपरा भी रही होगी। संस्कृत साहित्य में यद्यपि इसका स्पष्ट रूप नहीं दिखाई देता,फिर भी हर्ष रचित 'रत्नावली' में इसकी झलक मिलती है। फागु काव्यों के अवलोकन से उसकी दो धाराएँ क्रमशः शृंगार रस और शांत रस की मिलती हैं। इनमें से दूसरी धारा अधिकतर जैन साहित्य में उपलब्ध है। कबीर की ऐसी रचना-शैली का स्रोत इसमें ढूँढ़ा जा सकता है। फाग बसंत ऋतु के उत्सवों में गाने योग्य शब्दालंकार पूर्ण अनुप्रासात्मक रचनाएँ हुआ करती थीं। जैन कवियों के अपभ्रंश ग्रंथों के बहुधा नाम तक में 'फागु' शब्द लगा रहा करता था। 'फागु' नाम से प्रचलित इस प्रकार की उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन 'स्थूलिभद्द फागु' समझी जाती है जिसके रचयिता जिन पद्म सूरि सं० १३८९-१४०० में वर्तमान थे। किंतु श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार 'जिनचंद्र सूरि फाग' उससे पूर्ववर्त्ती रचना है जो जैसलमेर के जैन भांडार से प्राप्त हुई है। ये फाग वाली रचनाएँ कदाचित् पहले, दृश्य काव्य के रूप में हुआ करती थीं, किंतु जैन कवियों ने इस नाम का प्रयोग चरित-काव्यों के लिए भी किया और पीछे इस नाम से फुटकल रचनाएँ भी होने लगीं जिनमें, बसंत ऋतु के उल्लास एवं वातावरण के प्रसंग के व्याज से, अनेक प्रकार के विषयों का समावेश हो गया। फाग का ही नाम पीछे होली, धमार, बसंत, आदि में भी परिवर्त्तित हो गया होगा जैसा कि इन सभी के विषय एवं शैली के सादृश्य द्वारा भी सिद्ध होता है।

कबीर साहब की बसंत-संज्ञक रचनाओं में भी हमें उपालंभात्मक बातें

का समावेश दीख पड़ता है। इनकी वर्णन-शैली में गंभीरता की कमी है। इनका छंद सर्वत्र एक ही नहीं है और उसमें चौपाई एवं पद्धरि जैसे कई छंदों का मिश्रित प्रयोग भी पाया जाता है। इन पद्यों की एक विशेषता यह भी है कि ये लोकगीतों जैसे जान पड़ते हैं और इनकी भाषा में भी भोजपुरी का प्राधान्य हैं। फिर भी यदि इन्हें रूपक मानकर इन पर विचार किया जाय तो इनके भीतर हमें स्वानुभूति परक 'नित्य बसंत' एवं साधारण बसंत इन दोनों का भी वर्णन मिल सकता है।

६. चाँचर

'कबीर-बीजक' में हमें चाँचर नाम के भी दो काव्य-प्रकार दीख पड़ते हैं जो पंक्तियों की संख्या एवं छंद-प्रयोग दोनों के अनुसार आपस में भिन्न है। पहले चाँचर में २५ पंक्तियाँ है और दोहा जैसे कई छंदों के द्वारा उसमें माया के कृत्यों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दूसरे चाँचर में २८ पंक्तियाँ हैं। इसमें, मन को संबोधित करते हुए, उसे किसी १३+८ एवं १५+८ मात्राओं वाली दो पंक्तियों के छंद द्वारा चेतावनी दी गई है। प्रति पंक्ति के अंत में 'मन बौरा हो' आया है जो एक प्रकार से टेक का भी काम करता है। इस दूसरे चाँचर को देखकर हमें 'आदि ग्रंथ' के 'रागु गउड़ी' वाले पद ५७ का स्मरण हो आता है जिसमें इस रचना की लगभग ८ पंक्तियाँ थोड़े पाठभेद के साथ आयी हुई दीख पड़ती है।[1] उस पद के प्रथम चरण से लेकर दसवें चरण तक में 'मन बउरारे' का प्रयोग किया गया है। किंतु इसके अनंतर कुछ और भी जोड़ दिया गया है—केवल तीसरे में, कदाचित् उसके रहाउ होने के कारण, ऐसा नहीं हुआ है। चाँचर शब्द का अन्य रूप 'चर्चरी' वा 'चाँचरी' भी है जो नाम संभवतः ऐसे पदों के चर्चरिका नामक ताल की लय में गाये जाने के कारण दिया गया है। चाँचर भी बसंतोत्सव के ही उपलक्ष में गाया जाता है, इसलिए ऐसी रचनाओं का विषय प्रधानतः होली का खेल होना चाहिए; जैसा, 'कबीर-बीजक' के प्रथम चाँचर में दिया भी गया है। चर्चरी के उदाहरण अपभ्रंश में अधिक नहीं मिलते और इसके नमूने में केवल जिन दत्त सूरि की 'चचरी' नामक रचना दी जाती है जिसका छंद कुछ भिन्न है।[2] 'कबीर बीजक'

---

१. 'आदि ग्रंथ', पृ० ३३९

२. कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चौथे अंक भी में अपभ्रंश के कुछ पद्य हैं—लेखक

के पहले चाँचर में माया का होली खेलना दर्शाया गया है और यही इस प्रकार के काव्य-प्रकारों का प्रधान विषय भी समझा जा सकता है।

१०. हिंडोला

'कबीर-बीजक' के अंतर्गत हमें तीन रचनाएँ 'हिंडोला' नाम की भी दीख पड़ती हैं जिनमें कदाचित् सावन के झूले वाले गीतों का अनुकरण है। इस तीनों रचनाओं में से अंतिम दो में केवल ८ ही ८ पंक्तियाँ आयी हैं, जहाँ पहली में इनकी संख्या १६ तक पहुँच जाती है। इस काव्य-प्रकार का विषय वह स्वानुभूति नहीं है जिसका परिचय 'कबीर ग्रंथावली' के १८वें पद में दिया गया है। यहाँ का हिंडोलना 'भरम' का बना हुआ है जो उसके नितांत विपरीत है। 'कबीर-ग्रंथावली' वाले पद में जहाँ योग-साधना के विविध अंगों का वर्णन किया गया है और जहाँ 'राम नाम' का 'कंनिहार' भी दीख पड़ता है वहाँ इन हिंडोलों में हमें ऐसी बातों का कहीं पता नहीं चलता और दोनों में केवल खंभे आदि के रूप साम्य का ही बोध होता है। 'कबीर बीजक' के हिंडोलों में 'रूपमाला' छंद के उदाहरण अधिक मिलते हैं जिसमें २४ मात्राएँ होती हैं और क्रमशः १४ एवं १० पर विश्राम हुआ करता है। किंतु सर्वत्र यही छंद नहीं दीख पड़ता। संगीत शास्त्र के अनुसार हिंडोल नाम का एक राग भी प्रसिद्ध है जिसके लिए बसंत ऋतु अधिक उपयुक्त समझी जाती है, किंतु उससे इसका कोई संबंध नहीं है। यह हिंडोला वस्तुतः उस झूले का वर्णन करता है जिस पर सारी सृष्टि झूलती हुई बतलायी गयी है और जो कवि के अनुसार आवागमन का मूलकारण भी है।

११. कहरा

'कहरा' नाम के एक अन्य काव्य-प्रकार के भी १२ उदाहरण 'कबीर-बीजक' में पाये जाते हैं। इन १२ में से ८ वाँ तथा १२वाँ 'कबीर-ग्रंथावली' में भी क्रमशः पद ३६६ तथा १८७ के रूपों में कुछ पाठभेद के साथ आये हैं और 'आदि-ग्रंथ' के 'रागु विलावलु' के भी पहले पद को हम 'कहरा' ही कह सकते हैं।[१] 'कहरा' शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ बतलाना कठिन है, किंतु कहा जा सकता है कि यह संभवतः, कहरवा के ढंग से गाये जाने के कारण भी ऐसा बन गया होगा। छंदो-नियमों के अनुसार देखने पर जान पड़ता है कि कहरे में ३० मात्राएँ पायी जाती है और १६ एवं १४ पर क्रमशः विराम होता है। परंतु इस नियम का अक्षरशः पालन किया गया नहीं प्रतीत होता और इसकी पक्तियाँ अधिकतर लयानुसार ही

---

१. 'आदि ग्रंथ', पृ० ८५९

चला करती हैं। प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'हो' 'गे' अथवा 'हे' का भी किसी गुरु मात्रा के अनंतर आना आवश्यक है। इसकी भाषा एवं वर्णन-शैली भी, बसंत की ही भाँति, लोकगीतों के अधिक उपयुक्त होती है और कभी-कभी इसकी पंक्तियों के एकाध वाक्य उनके आरंभ में दुहरा भी दिये जाते हैं। इसमें व्यक्त किये गए उद्‌गार प्रायः 'लगते' से हुआ करते हैं; 'कहरा' नाम से कभी-कभी 'ककहरा' का भ्रम हो जाया करता है, किंतु ये दोनों एक दूसरे से नितांत भिन्न प्रकार के काव्य-प्रकार हैं। 'ककहरा' एक प्रकार का 'अखरावट' है।

१२. बेलि

'कबीर-ग्रंथावली' के अंतर्गत दो रचनाएँ 'बेलि' नाम से भी संगृहीत हैं जिनमें से एक ३० पंक्तियों की है और दूसरी केवल १६ पंक्तियों की। इन दोनों की भाषा एवं शैली भी बसंत एवं कहरे जैसी ही साधारण जन सुलभ है और इनकी प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'हो रमैया राम' नामक १० मात्राओं की एक टेक भी आती है। इसमें प्रयुक्त छंद का रूप देखने में 'उपमान' का सा लगता है जिस में क्रमशः १३ एवं १० मात्राओं पर विश्राम हुआ करता है, किंतु यहाँ नियम ठीक नहीं चलता। बेलि नाम से कुछ काव्य-प्रकार राजस्थानी में मिलते हैं जिनमें से 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' बहुत प्रसिद्ध है। उस रचना के प्रायः अंत में कहा गया है कि वह वेलि का वल्ली (लता) ऐसी है जिसका बीज (मूल स्रोत) भागवत ग्रंथ है और वह कवि पृथ्वीराज के मुख वाले थाँवले में बोया गया इत्यादि[२] जिससे प्रतीत होता है कि यह 'वेलि' शब्द भी वल्ली का ही रूपांतर होगा तथा तदनुसार, इसका भी शाब्दिक अर्थ 'लता' ही होना चाहिए। परंतु कबीर-बीजक की इन रचनाओं के आधार पर 'वेलि' शब्द का यह अर्थ करना युक्ति संगत नहीं जान पड़ता। 'कबीर-ग्रंथावली' में, कबीर साहब की साखियों के अंतर्गत, एक अंश 'वेली कौ अंग' के शीर्षक में भी संगृहीत है और वहाँ 'वेलि' शब्द वल्ली वा लता के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा यही बात उसके १६३वें पद में भी दीख पड़ती है जहाँ गुरु गोरखनाथ द्वारा लगायी गई 'रामगुन वेलडी' का परिचय दिया गया है। किंतु 'कबीर बीजक' की इन दोनों बेलियों में, इस प्रकार की बातों की ओर विशेष ध्यान न देकर, केवल वेलि नाम के किसी प्रचलित काव्य-प्रकार का अनुसरण मात्र ही किया गया है।

१३. बिरहुली

'कबीर-बीजक' में एक विचित्र काव्य-प्रकार 'बिरहुली' नामक आया है

---

१. देखिये उसका २९१ वाँ पद्य

जिसके अन्य उदाहरण बहुत कम उपलब्ध होते हैं। स्व० शिवव्रत लाल ने इसे 'पूरब में गाया जाने वाला एक राग' बतलाया है[1]। किंतु यह प्रचलित नहीं जान पड़ता। 'बिरहुली' शब्द का अर्थ विरह वाली वा 'विरहिणी' प्रतीत होता है। पूरी रचना १२ पंक्तियों की है और प्रत्येक पंक्ति में दो चरण 'बिरहुली' से समाप्त होने वाले आये हैं। प्रत्येक चरण में कुल १७ मात्राएँ हैं और यही क्रम बना रहता है। रचना की दो-तीन पंक्तियों में 'बैतल साँप' के डँसने तथा उसके विष के साधारण मंत्रों द्वारा उतर न सकने की चर्चा की गई है जिसके कारण कुछ लोग अनुमान करते हैं कि 'बिरहुली' नाम की कोई मंत्र-विद्या भी रही होगी। किंतु इसके लिए कोई आधार नहीं बतलाया जाता। कबीर साहब की 'बिरहुली' नामक रचना अपने आकार-प्रकार एवं लयादि में किसी ऐसे लोकगीत का अनुसरण करती है जिसकी परंपरा आज प्रचलित नहीं है। इसका बिरहुली नामकरण, इसमें उस शब्द के बार-बार आने के ही कारण किया गया जान पड़ता है। बिरहुली से अभिप्राय यहाँ जीवात्मा से है जिसे परमात्मा का वियोग कष्टदायक प्रतीत हो रहा है और जिसे संबोधित करके यहाँ सृष्टि एवं माया संबंधी बातें समझाई जा रही हैं।

१४. विप्रमतीसी

'कबीर-बीजक' की एक अन्य विलक्षण रचना 'विप्रमतीसी' नाम से मिलती है जिसका विषय ब्राह्मणों की दुर्बुद्धि का विस्तृत परिचय मात्र है। इसमें चौपाइयों की ३० अर्द्धालियाँ हैं और इसके अंत में एक साखी द्वारा ब्राह्मणों को उनके न समझने पर दुतकार देने का आदेश दिया गया है। ब्राह्मणों की ऐसी आलोचना कबीर साहब की अन्य रचनाओं में भी पायी जाती है किंतु यहाँ पर वह एक विशेष प्रकार शैली में की गई है। वर्ण्य विषय के सीमित होने के कारण 'विप्रमतीसी' नाम किसी विशिष्ट काव्य-प्रकार का नहीं हो सकता और इसीलिए इसके अन्य उदाहरण भी कदाचित् बहुत कम ही मिलेंगे। अभी तक हमें इस नाम की केवल, परशुराम देवनिर्मित 'विप्रमतीसी' नाम की एक रचना मिलती है जो सं० १६६७ में लिखी गई थी और जो वस्तुतः 'कबीर-बीजक' की 'विप्रमतीसी' का ही एक भिन्न संस्करण मात्र है। 'विप्रमतीसी' नाम का शुद्ध रूप यदि 'विप्रमतीसी' मान लिया जाय तो कहा जा सकता है कि इसके अंत का 'तीसी' शब्द इसकी अर्द्धालियों की ३० संख्या का सूचक रहा होगा और,

---

1. 'बीजक' (उलथा, टीका, व्याख्या, आदि) भाग २, पृ० १२१

द्विरुक्ति के कारण, इसके 'ति' का क्रमशः लोप हो गया होगा 'विप्रमतीसी' में चौपाइयों के अनंतर साखी के क्रम को पाकर हम इसे किसी रमैनी का अंश भी ठहरा सकते हैं।

इस प्रकार, कबीर साहब की रचनाओं के उपर्युक्त तीन संग्रहों के अंतर्गत हमें काव्य-प्रकारों के विभिन्न उदाहरण मिलते हैं। इनके 'सब्दों', 'साखियों' तथा 'रमैनियों' का नामकरण धार्मिक भावनाओं के अनुसार किया गया जान पड़ता है। यह किसी ऐसी परंपरा की ओर संकेत करता है जिसका आरंभ, संभवतः कबीर साहब के पहले से हो चुका होगा तथा इनके कुछ रूप, उनके जीवन-काल में प्रचलित भी रहे होंगे। 'सब्दों' के मूलरूप 'गीत', 'गीति', 'पद' वा 'प्रबंध' कहे जाते थे और इसी प्रकार साखी वाले काव्य-प्रकार का भी पूर्वनाम प्रधानतः 'दोहा,' 'दूहा' वा 'दोहरा' था। रमैनियों के लिए प्रयुक्त होने वाले किसी ऐसे नाम का पता नहीं चलता, किंतु इतना प्रायः निश्चित है कि इनके जैसे छंद-मिश्रण द्वारा वर्णन करने की प्रथा अपभ्रंश काल में भी प्रचलित थी। ये तीनों काव्य-प्रकार तत्कालीन कवियों की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों अर्थात् क्रमशः निजी भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, तथ्यों के संक्षिप्त कथन तथा सामान्य बातों के विशद् वर्णन से संबंध रखते थे और इन्हीं तीन प्रकार के साहित्यिक प्रकारों की उन दिनों प्रधानता भी थी। कबीर साहित्य के अन्य कई काव्य-प्रकार वस्तुतः प्रचलित लोक-गीतों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका वर्गीकरण एक अन्य ढंग से भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'बसंत' 'चाँचर' एवं 'हिंडोला' वाली रचनाएँ, किसी ऋतु विशेष विषयक भावना की दृष्टि से लिखी गई हैं और 'कहरा', 'बेली' तथा 'बिरहुली' भी किसी न किसी ऐसी ही विशेषता की परिचायक हैं। शेष रचनाओं में हमें धार्मिक साहित्य की कतिपय रूढ़िगत रचना पद्धतियों का अनुसरण दीखता है। 'बावनी' एवं चौंतीसा' में जहाँ वर्णमाला के क्रम का निर्वाह करने का प्रयत्न है वहाँ 'थिंती' एवं 'वार' में 'क्रमशः तिथियों तथा दिनों के नामानुसार दैनिक साधना पद्धति का निर्देश किया गया है। फिर भी ये सभी रचनाएँ उपर्युक्त तीनों काव्य-प्रकारों में से ही किसी न किसी के अंतर्गत समाविष्ट की जा सकती हैं। संभव है कि कबीर साहब ने मूलतः केवल उन तीन काव्य-प्रकारों में ही रचना की हो और संग्रह-कर्त्ताओं ने पीछे कुछ को भिन्न-भिन्न शीर्षकों में रख दिया हो। उन तीन काव्य-प्रकारों में से भी 'रमैनी' नाम की रचनाओं का पहले कबीर साहब के पदों के रूप में रहा होना भी सर्वथा असंभव नहीं है।

कबीर साहब की भाषा एवं रचना-शैली

कबीर साहब की रचनाओं के संबंध में विभिन्न परंपराओं के बने रहते उनकी भाषा के विषय में अंतिम निर्णय कर लेना सरल नहीं है। जिन लोगों ने इस ओर प्रयत्न किया है उन्होंने अधिकतर अपने अनुमान का आधार उसी रचना-संग्रह को बनाया है जिसकी ओर उनका विशेष ध्यान गया है और, ऐसे संग्रहों की भाषाओं में बहुत कुछ अंतर पाये जाने के कारण, उनमें आपस में स्वभावतः मतभेद भी दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए 'कबीर बीजक' की भाषा के विषय में लिखने वालों का कहना है कि वह "बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आस-पास की बोली है"[1] अथवा "इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है,"[2] और, 'आदि ग्रंथ' में आयी हुई कबीर-कृतियों को भी ध्यान में रखते हुए, "कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिंदी का रूप लिये हुए"[3] ठहराया गया है अथवा कबीर को "अवधी का प्रथम संत कवि"[4] कहा गया है। इसी प्रकार जिन लोगों ने प्रधानतः 'कबीर-ग्रंथावली' पर विचार किया है उन्होंने उसकी भाषा को या तो "पंचमेल खिचड़ी"[5] का नाम दिया है अथवा स्पष्ट शब्दों में कह डाला है कि "कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसा ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसा कि ढोलामारू-काव्य के कर्त्ता को"[6] तथा किसी-किसी को "'कबीर-ग्रंथावली' की भाषा में पंजाबीपन अत्यधिक"[7] दीख पड़ा है। इसके सिवाय अन्य लोगों का ऐसा भी कहना है कि "कबीर की रचना में हमें मुख्यतः ब्रजभाषा मिलती है लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिंदी

---

१. रेवरेंड अहमदशाह : 'दि बीजक ऑव् कबीर', पृ० २६
२. विचारदास शास्त्री : 'बीजक-विरल टीका', पृ० ४३
३. डा० रामकुमार वर्मा : 'संत कबीर' प्रस्तावना, पृ० १७
४. डा० बाबूराम सक्सेना : 'दक्खिनी हिंदी', पृ० ३२
५. डा० श्याम सुन्दर दास : 'कबीर-ग्रंथावली' प्रस्तावना, पृ० ६७
६. सूर्यकरण पारीक : 'ढोला मारूरा दूहा' प्रस्तावना, पृ० १६८
७. डा० रामकुमार वर्मा : 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ३७

का कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खड़ी बोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में मिलता है"[१] अथवा "वह हिंदी (हिंदुस्थानी) तथा ब्रजभाषा का एक मिश्रित रूप है।"[२] अतएव, ऐसे विभिन्न मतों के बीच संगति बिठाने के उद्देश्य से, कभी-कभी इस प्रकार का भी अनुमान करना पड़ गया है कि "कबीर की मूल वाणी का बहुत कुछ अंश उनकी मातृ-भाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था", किंतु "उनके पदों का पछाँह की साहित्यिक भाषाओं में रूपांतर"[३] कर दिया गया।

'कबीर-बीजक' में एक साखी संगृहीत है, जिसमें कहा गया कि हमारी बोली पूरब की है, हमें कोई लख नहीं पाता। हमें वही लखता है जो धुर पूरब का रहने वाला है इसलिए कुछ लोगों को यह कहने का भी आधार मिल गया है कि कबीर साहब ने स्वयं अपनी भाषा को 'पूर्वी' की संज्ञा दे डाली है। परंतु, उक्त साखी में आये हुए कतिपय शब्दों पर यदि ध्यानपूर्वक विचार जाय किया तो, ऐसे कथन की प्रामाणिकता में हमें संदेह भी होने लगता है। साखी का पाठ इस प्रकार है —

बोली हमरी पूरब की, हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥१९४॥[४]

जिसके अंश 'पूरब की' को समझते समय हमारा ध्यान उसके 'लखै' एवं 'धुर पूरब' की ओर भी गये बिना नहीं रहता। 'धुर' शब्द का अर्थ एकदम दूर अथवा 'नितांत प्रारंभिक' हुआ करता है और 'लखना' उस पहचानने के लिए कहा जा सकता है जो 'लक्षणों द्वारा किये गए न्यूनाधिक अनुमान' पर आश्रित हो, किंतु, इसी साखी का अर्थ उपर्युक्त ढंग से करने पर, इन दोनों में से किसी शब्द का भी उपयोग समुचित नहीं जान पड़ता। उस दशा में 'धुर पूरब' किसी ऐसे स्थान वा प्रदेश को सूचित करने लगता है जो जहाँ कहा जा रहा होगा वहाँ से किसी नितांत पूर्वी छोर पर पड़ता होगा और वहाँ की भाषा ऐसी विचित्र होगी जिसके कारण कबीर साहब की उक्ति और भी रहस्यमयी बन जाती होगी तथा उन्हें समझ पाना कठिन हो जाता होगा। परंतु उनकी 'बोली' अर्थात्

---

१. डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या : 'भारत की भाषाएँ', पृ० ६०
२. वही : 'भारतीय आर्य भाषा और हिंदी', पृ० १९८
३. डा० उदय नारायण तिवारी : 'कबीर की भाषा', (हिंदी अनुशीलन, प्रयाग वर्ष २ अंक ३) ४. 'कबीर बीजक' (हरक संस्करण) पृ० १०९

उनके कथन की भावना में इतनी विलक्षणता के अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है। 'कबीर बीजक' की ही पाँचवी 'रमैनी' की

पूरब दिसा हंस गति होई, है समीप सँधि बूझै कोई।[1]

पंक्ति से स्पष्ट है कि 'पूरब' शब्द से यहाँ क्या अभिप्राय हो सकता है। इस पंक्ति के 'पूरब दिसा', द्वारा उस पहिले की मौलिक स्थिति की ओर संकेत किया गया है, जिसमें जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अंतर की अनुभूति नहीं रहती। वह दशा सहज साधना से ही उपलभ्य है, किंतु उसके लिए कोई विरले पुरुष समर्थ हो पाते हैं। उस दशा के लिए 'दिसा' वा 'देस' का प्रयोग औरों ने भी किया है। मुस्लिम सूफ़ी कवि शाह बरकत उल्लाह 'पेमी' (सं० १७१७-८६) ने भी अपने एक दोहे में कहा है—

हम बासी वा देस के, हाँ न पाप न पुन्न।
विदिसा दिसा न होत है, 'पेमी' सुन्नै सुन्न ॥५४॥[2]

और फिर उन्होंने अपने एक अन्य दोहे में उपर्युक्त 'धुर पुरब' का भी प्रयोग कर दिखाया है; जैसे,

हम पूरब के पुरबिया, जात न पूछे कोय।
जात पांत सो पूछिये, धुर पूरब का होय।[3]

अतएव, कबीर साहब की ऊपर उद्धृत साखी का अर्थ, आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा जिस दशा में वह कुछ इस प्रकार हो सकता है—'हमारा कथन मौलिक दशा से संबंध रखता है जिस कारण हमें कोई समझ नहीं पाता; हमारी बातें वही समझेगा जिसे उसका अनुभव भी हो चुका हो।'

कबीर साहब की रचनाओं के उपलब्ध प्रामाणिक संग्रहों में भाषा-वैविध्य के अनेक उदारहण पाये जाते हैं। हम यहाँ पर क्रमशः 'कबीर बीजक', 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' में से प्रत्येक से भिन्न-भिन्न भाषाओं के दो-दो उदाहरण दे रहे हैं —

'कबीर बीजक'

(१) तेहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटि के रहहु सनाथा।[4]

---

१. 'कबीर बीजक', पृ० ३ २. 'पेम प्रकाश' (दिल्ली, सन १८४३ ई०), पृ० १२
३. 'पेम प्रकाश', पृ० ४ ४. 'कबीर बीजक' (हरक संस्करण), पृ० २४

(२) मगहर मरै मरन नहिं पावै, अंते मरैं तौ राम लजावै ।[1]
(३) फूल भल फूलल मालिनि भल गांथल ।
फुलवा बिनसि गैल भौंरा निरासल ।[2]
(४) दाँत गैल मोर पान खात, केस गैल मोर गंग नहात ।[3]
(५) अपनपौ आपुही बिसरयौ ।[4]
(६) धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यौ ।[5]
(७) चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस ।[6]
(८) यह मन चंचल चोर है, यह मन सुद्ध ठगार ।[7]
(९) रामनाम जिन चीन्हियाँ, झीना पंजर तासु ।[8]
(१०) साहू सेती चोरिया, चोरां सेती सूध ।
तब जानहु जीयरा, मार परेगी तूझ ।[9]

आदि ग्रंथ

(१) कहि कबीर भजु सारिंग पानी ।
राम उदकि मेरी तिषा बुझानी ॥[10]
(२) काकी मात पिता कहु काको कवन पुरुष की जोई ।[11]
(३) अब मन जागत रहुरे भाई ।[12]
(४) आनद मूलु सदा पुरषोत्तमु, घटु बिनसै गगनु न जाईले ।[13]
(५) कबीर जगमहि चेतियो जानिकै, जगमहि रहिउ समाइ ।[14]
(६) कबीर कारनु सो भइउ, जो कीनो करतार ।[15]
(७) कबीर कसउटी राम की, झूठा टिका न कोइ ।[16]
(८) कबीर तूं तूं करता तूं हुआ, मुझमें रही न हूं ।[17]

---

१. 'कबीर बीजक', पृ० ६४ २. वही, पृ० ५१ ३. वही, पृ० ८१
४. वही, पृ० ५५ ५. वही, पृ० ६५ ६. वही, पृ० ६६
७. वही, पृ० १०० ८. वही, पृ० ६७ ९. वही, पृ० १०५
१०. 'गुरु ग्रंथ साहिबजी', रागु गउडी १, पृ० ३२३
११. वही, रागु आसा ६, पृ० ४७८
१२. वही, राग गउडी ७३, पृ० ३३९ १३. वही, रागु गौंड, पृ० ८६९
१४. वही, सलोकु ६४, पृ० १३६६ १५. वही, सलो० १२३, पृ० १३७१
१६. वही, सलो० ३३, पृ० १३६६ १७. वही, सलो० २०४, पृ० १३७५

(९) पेवकड़ै दिन चारिहै, साहुरड़ै जाणा।
अंधा लोकु न जाणई मूरखु ऐ आणा।[१]
(१०) आवन जाना हुकमु तिसैका, हुकमै बूझि समावहिंगे।[२]
(११) एक ज्योति एका मिली, किम्बा होइम होइ।[३]
(१२) कबीर चुगै चितारै भी चुगै, चुगि चुगि चितारे।[४]

'कबीर-ग्रंथावली'

(१) जस तू तस तोहि कोई न जान।[५]
(२) तैसैं नाचत मैं दुख पावा।[६]
(३) त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल,
तब हमारौ नांउ रांम राई हो।[७]
(४) नां हम जीवतमुव न ले मांहीं।[८]
(५) घर जाजरौ वलींडौ टेढौ औलौती अरराइ।[९]
(६) लेट्यो भोमि बहुत पछितानौं, लालचि लागौ करत घनीं।[१०]
(७) करणी किया करम का नास।[११]
(८) आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जीऊंगा,
गुरु के सबद में रमि रमि रहूँगा।[१२]
(९) क्या जाणौं उस पीवकूँ कैसें रहसी रंग।[१३]
(१०) बीछडियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यों काचली भुवंग।[१४]
(११) लूण विलग्गा पाणियां, पांणी लूंण बिलग्ग।[१५]
(१२) भिस्त न मेरे चाहिये बाझ पियारे तुझ।[१६]

---

१. 'गुरु ग्रंथ साहिबजी', रागु गउडी ५०, पृ० ३३३
२. वही, रागु मारू ४, पृ० ११०१ ३. वही, रागु गउडी ५५, पृ० ३३५
४. वही, सलो० १२३, पृ० १३७१ ५. 'कबीर-ग्रंथावली,' पद ४७, पृ० १०३
६. वही, पद ७८, पृ० ११३ ७. वही, पद ५०, पृ० १०४
८. वही, पद ३३१, पृ० २०० ९. वही, पद २२, पृ० ९६
१०. वही, पद ९६, पृ० ११९ ११. वही, पद ३२९, पृ० २००
१२. वही, पद ३३१, पृ० २०० १३. वही, सा० १६, पृ० २०
१४. वही, सा० ९, पृ० २१ १५. वही, सा० १६, पृ० १३
१६. वही, सा० ७, पृ० १९

इनमें से 'कबीर बीजक', 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर-ग्रंथावली' वाले उक्त उदाहरणों में से प्रत्येक के (१) एवं (२) अवधी भाषा का (३) एवं (४) भोजपुरी का (५) एवं (६) ब्रजभाषा का और (७) एव (८) खड़ी बोली का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसी प्रकार, प्रथम दो के (६) एवं (१०) तथा तीसरे के (११) एवं (१२) पंजाबी भाषा के हैं। केवल दूसरे के (११) एवं (१२) और तीसरे के (६) एवं (१०) को हम राजस्थानी भाषा के उदाहरण में दे सकते हैं।

कबीर साहब की रचनाओं के उक्त संग्रहों में बहुत से ऐसे पद्य आये हैं जो, उनमें से दो अथवा तीनों में भी, प्रायः एक समान दीख पड़ते हैं और जो कुछ अंतर उनमें लक्षित होता है वह केवल पाठभेद का ही नहीं है, अपितु वह भाषा विषयक भी है। इसके उदाहरण में हम कबीर साहब का एक पद क्रमशः 'कबीर बीजक,' 'आदि ग्रंथ' और 'कबीर-ग्रंथावली' से उद्धृत कर रहे हैं—

कबीर बीजक[1]

फिरहु का फूले फूले फूले।
जब दस मास अउँध मुख होते, सो दिन काहे भूले॥
ज्यौं माखी सहतै नहि बिहुरै, सोंचि सोंचि धन कीन्हा।
मूये पीछे लेहु लेहु करैं सभ, भूत रहन कस दीन्हा॥
जारे देह भसम होई जाई, गाड़े माटी खाई।
काचे कुंभ उदक ज्यौं भरिया, तनकी इहै बड़ाई॥
देहरि लै वर नारि संग है, आगे संग सुहेला।
म्रितक थान लौं संग खटोला, फिरि पुनि हंस अकेला॥
राम न रमसि मोह के माते, परेहु कालवसि कूवा।
कहहिं कबीर नल आपु बँधायो, ज्यौं ललनी फर्म सूवा॥

आदि ग्रंथ[2]

जब जरीऐ तब होइ भसम तनु, रहै किरम दल खाई।
काची गागरि नीरु परतु है, इआ तन की इहै बड़ाई॥१॥
काहे भईआ फिरतै फुलिआ फुलिया।
जब दस मास उरध मुष रहता, सो दिनु कैसे भूलिआ॥ रहाउ॥
जिउ मधु माषी तिउ सठोरि रसु, जोरि जोरि धनु कीआ।

---

१. पद ७३, पृ० ५४ . २. रागु सोरठि, पद २, पृ० ६५३

मरती बार लेहु लेहु करीऐ, भूतु रहन किउ दीआ ॥२॥
देहुरी लउ बरी नारि संग भई, आगै सजन सुहेला।
मरघट लउ सभु लोगु कुटंबु भइउ, आगै हंसु अकेला ॥३॥
कहतु कबीर सुनहु रे प्रानी, परे काल ग्रस कूआ।
झूठी माइआ आपु बंधाइआ, जिउ नलनी भ्रमि सूआ ॥४॥

कबीर-ग्रंथावली[1]

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥टेक॥
जौ जारै तौ होइ भसम तन, रहत क्रम ह्वै जाई।
काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकौं कौन बड़ाई ॥
ज्यूं माषी मधु संचि करि, जोरि जोरि धन कीनो।
मूयें पीछैं लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनूं ॥
ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तब लगि संग सुहेलौ।
मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखहु हंस अकेलौ ॥
रांम न रमहु मदनं कहा भूले, परत अंधेरैं कूवा।
कहै कबीर सोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनी का सूवा ॥

एक ही पद्य के इन तीनों पाठों में सबसे उल्लेखनीय अंतर क्रियापदों की विभिन्नता में दिखलाई पड़ता है जो इस प्रकार है—

'कबीर बीजक'	'आदिग्रंथ'	'कबीर-ग्रंथावली'
फिरहु	फिरतै	फिरत
फूले, भूले	फुलिआ, भुलिआ	फूल्यौ, भूल्यौ
कीन्हा, दीन्हा	कीआ, दीआ	कीनो, दीनूं
करैं	करीऐ	करि
कहहि	कहतु	कहै

इनके रूपों में स्पष्ट भेद है जो इनकी क्रमशः अवधी, पुरानी खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा की विशेषताओं को सूचित करता है। यह बात इन तीनों पाठों के एकाध संज्ञा शब्दों अथवा संयोजकों द्वारा भी उदाहृत की जा सकती है, जैसे 'कबीर बीजक' वाले 'सुहेला' तथा 'अकेला' शब्द 'आदिग्रंथ' में तो जैसे के तैसे रह गए हैं, किंतु 'कबीर-ग्रंथावली' में उनका रूप क्रमशः 'सुहेलौ' तथा 'अकेलौ'

---

१. पद २४१, पृ० १६९-७०

हो गया है और पहले का 'कस' दूसरे में 'किउ' तथा तीसरे में 'क्यूं' बन गया है तथा, इसी प्रकार, ऐसा अंतर क्रमशः 'का', का है एवं 'कत' में भी दृष्टिगोचर होता है। अन्य प्रकार के पाठ भेद 'अउंध' के 'उरध' होने तथा 'गाड़े माटी खाई' के क्रमशः 'रहै किरम दल खाई' और 'रहत कृम ह्वै जाई' अथवा 'उदक ज्यौं भरिया' के क्रमशः 'नीरु परत है' और 'उद्यक भरि राख्यौ' हो जाने आदि में दीख पड़ते हैं और वे पद्य की कतिपय पंक्तियों के इधर-उधर रख दिये जाने में भी देखे जा सकते हैं। किंतु भाषा-विषयक अंतर का पता लगाते समय इन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता जिस कारण यहाँ इनका उल्लेख आवश्यक नहीं है।

कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं के प्रामाणिक समझे जाने वाले संग्रहों में, इस प्रकार, न केवल विभिन्न भाषाओं की कृतियाँ मिलती हैं, अपितु उनमें एक ही कृति के भाषानुसार प्रस्तुत कर दिये गए अनेक रूपांतर भी पाये जाते हैं। इन रूपांतरों के लिए कहा जा सकता है कि, वास्तव में, इनमें से एक ही कोई कबीर साहब की मूल रचना कहा जायगा और दूसरे उसके आधार पर बना लिये गए होंगे। परंतु प्रश्न यह है कि उसके मौलिक रूप की पहचान किस प्रकार की जाय और यह बिना कबीर साहब की भाषा के विषय में अंतिम निर्णय किये संभव नहीं है। कई लेखकों ने, इस विषय पर अपना मत प्रकट करते समय, उस भाषा को कतिपय भाषाओं की 'मिश्रित' कहकर ही छोड़ दिया है, किंतु स्व० रामचंद्र शुक्ल ने उसे 'पंचरंगी मिली-जुली भाषा' बतलाकर एक 'सधुक्कड़ी' नाम भी दिया है। उनका कहना है कि 'कबीर बीजक' की साखियों की भाषा "सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली" है जहाँ उसकी रमैनियों एवं पदों में "काव्य की ब्रजभाषा" एवं "पूरबी बोली का भी व्यवहार है"।[1] वे अनुमान करते हैं कि कबीर साहब को यह भाषा नाथपंथियों से मिली होगी जिनके पंथ का प्रचार राजस्थान तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा और जिन्होंने, मुसल्मानों को भी अपनी बानी सुनाने के उद्देश्य से, उनमें दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली का भी सम्मिश्रण कर दिया। इस कृत्रिम भाषा का रूप वा "ढांचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था" जहाँ परंपरागत साहित्य की भाषा का "ढांचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था।"[2] स्व० शुक्लजी का यह कथन सत्य के बहुत

---

१. रामचंद्रशुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० ६८

२. वही, पृ० २२

निकट पहुँचता जान पड़ता है क्योंकि कबीर साहब अपनी भावधारा तक के लिए नाथपंथियों के ऋणी कहे जा सकते हैं। डा० बड़थ्वाल द्वारा संपादित 'गोरख-बानी' के देखने से पता चलता है कि कबीर साहब ने नाथपंथियों की केवल शब्दावली तक ही नहीं अपनायी है प्रत्युत उन्होंने अपनी रचनाओं के अंतर्गत उनके कुछ काव्य तथा एक प्रायः पूरा पद तक सम्मिलित कर लिया है।[1]

परंतु फिर भी, इतना कह देने मात्र से भी, हमें कबीर साहब की भाषा के विषय में पूरा समाधान नहीं होता। कबीर साहब के ऊपर नाथपंथी जोगियों के साहित्य एवं बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों की रचनाओं तक का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है। कबीर-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश इसके प्रमाण में उद्धृत किया जा सकता है और उसे उनकी साहित्यिक परंपरा में स्थान दे देना तक अनुचित नहीं कहा जा सकता। किंतु क्या कबीर साहब की साखियों में ही ऐसी बातें नहीं पायी जातीं जिनका संबंध इस प्रकार के साहित्य से किसी प्रकार भी नहीं जोड़ा जा सकता ? कबीर साहब की रचनाओं में हमें जो वैष्णव धर्म एवं सूफ़ी साधना की बातें मिलती हैं और उनकी पारिभाषिक शब्दावली तक उपलब्ध होती है वे नितांत भिन्न हैं। ऐसे स्थलों पर हमें कदाचित् ही उस कृत्रिम भाषा के उदाहरण मिल सकें जिसे स्व० शुक्लजी ने 'सधुक्कड़ी भाषा' का नाम दिया है। यह अवश्य है कि प्रेम एवं विरह संबंधी कबीर-कृतियों में कहीं-कहीं राजस्थानी साहित्य की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की गई जान पड़ती हैं जो अन्य कारणों से भी संभव है और जिस प्रकार केवल उन्हीं के कारण हम कबीर साहब की भाषा को राजस्थानी नहीं कह सकते उसी प्रकार यह 'सधुक्कड़ी' भी नहीं हो सकती। स्व० शुक्लजी का 'सधुक्कड़ी भाषा' शब्द वस्तुतः एक रचना शैली विशेष के ही लिए प्रयुक्त कहा सकता है; वह किसी भाषा विशेष का नाम नहीं हो सकता। अतएव, कबीर साहब की भाषा के विषय में विचार करते समय, हमें उसका प्रयोग विशेषतः वहीं करना चाहिए जहाँ उन्होंने उक्त जोगियों की परंपरा का स्पष्ट अनुसरण किया हो। कबीर साहब की सारी रचनाओं की भाषा का मिश्रित

---

१. 'गोरख बानी', पृ० ७३ (अंजन छोड़ि निरंजन रहै), पृ० १०६ (उनमनि तांती बाजन लागी यहि विधि तृष्नां षांडी) तथा पृ० १०६-८ (पूरे पद १७) के लिए क० ग्रं०क्रमशः पृ० २०२ (अंजन छाड़ि निरंजन लागै), पृ० १५४। (सुषमन तंती बाजण लागी इहि विधि त्रिष्णां षांडी) तथा पृ० १४२ (लगभग पूरा पद १६३) आदि

जान पड़ना अथवा उनमें विभिन्न शैलियों का भी दीख पड़ना, केवल उसी एक कारण से, संभव नहीं था और न वह किसी प्रकार की कृत्रिमता का परिणाम था। उनकी भाषा के सम्मिश्रण का मूल कारण ढूँढ़ने के लिए हमें उनके समय तक प्रचलित प्रमुख रचना-शैलियों पर एक दृष्टि डालनी होगी।

जिस समय कबीर साहब (मृ० सं० १५०५ का) आविर्भाव हुआ था उस समय तक ब्रजभाषा का आधिपत्य अभी नहीं जम सका था। पश्चिम की ओर डिंगल का बोलबाला था और उसके उत्तर लहंदी एवं पंजाबी के साथ-साथ हिंदवी में भी रचनाएँ की जा रही थीं। ब्रजभाषा उन दिनों अधिकतर पिंगल कहला कर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था। ब्रजभाषा के पूरब की ओर कोसली अथवा अवधी थी जिसे 'पूर्वी हिंदी' का भी नाम दिया गया और उसके भी पूरब भोजपुरी एवं बिहारी बोलियाँ प्रचलित थीं। इनमें से ब्रजभाषा, अवधी एवं भोजपुरी का प्रचार दक्षिण की ओर क्रमशः बुंदेलखंड, बघेलखंड एवं दक्षिणी बिहार तक था, किंतु हिंदवी अपने मूल स्थान अर्थात् दिल्ली से हरियाना तक के क्षेत्र से उठकर सुदूर दौलताबाद और गुलबर्गा तक जा चुकी थी। ब्रजभाषा की प्रमुख विशेषता उसके संज्ञा शब्दों तथा विशेषणों के ओकारांत होने और उसके सर्वनामों के 'त', 'व', 'मा', 'ज', 'क' द्वारा सिद्ध होने में दीख पड़ी जहाँ हिंदवी अथवा खड़ी बोली में उक्त शब्द अकरांत होकर प्रचलित थे और उसके सर्वनामों का भी रूप क्रमशः 'तिस्', 'उस्', 'इस्', 'जिस्', 'किस्' को लेकर बना था। हिंदवी को अपना स्वरूप निर्धारित करने में मुस्लिम आगंतुकों की भाषा तुर्की, फ़ारसी आदि से भी सहायता मिली थी और जिस प्रकार ब्रजभाषा एवं राजस्थानी का मेलजोल था उसी प्रकार इसका संबंध पंजाबी आदि के साथ जुड़ा हुआ समझ पड़ता था। पश्चिमी हिंदी के उक्त अकारांत अथवा ओकरांत संज्ञा शब्दों तथा विशेषणों के रूप पूर्वी हिंदी तथा भोजपुरी में अकारांत अथवा व्यंजनांत हो जाते हैं और, इसी प्रकार, उनके संबंध वाचक सर्वनाम 'जो' 'सो' तथा प्रश्नवाचक 'कौन' के रूप पूर्वी हिंदी में तथा भोजपुरी में क्रमशः 'जे', 'जवन', 'से', 'तवन' तथा 'के', 'कवन' बनकर दीखते हैं। इन दोनों भाषाओं में से भी भोजपुरी की प्रवृत्ति अधिकतर बिहारी बोलियों का ही अनुसरण करने की ओर है। क्रियापदों में उक्त सभी अंतर और भी स्पष्ट हो गए हैं।

राजस्थान की डिंगल एवं पिंगल नामक दोनों भाषाएँ आपस में कतिपय समानताओं के रहते हुए भी, बहुत भिन्न हैं। ये दोनों क्रमशः गुर्जरी अपभ्रंश एवं शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हैं और दोनों के व्याकरण एवं छंद-शास्त्र तक भिन्न-

भिन्न पाये जाते हैं। कबीर साहब के आविर्भावकाल तक निर्मित पिंगल रचनाएँ दीख पड़ती हैं, किंतु डिंगल में उस समय तक बने हुए बहुत से फुटकर पद्य मिलते हैं और कुछ वचनिकाएँ भी उपलब्ध हैं जिनमें विभिन्न नरेशों अथवा महापुरुषों के जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओं के वर्णन किये गए हैं। पिंगल भाषा की प्राचीन समझी जाने वाली 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'विजयपाल रासो' जैसी रचनाओं का निर्माण-काल पीछे का सिद्ध किया जाता है।[1] पहले की ऐसी रचनाओं में हम जैन कवि धर्मसूरि के 'जम्मूस्वामी रासा', विनयचन्द्र सूरि के 'नेमिनाथ चउपई' तथा अम्बदेवकृत 'संघपति समरा रास', जैसे ग्रंथों के नाम ले सकते हैं जिनमें या तो जैनी महापुरुषों की जीवन-कथाओं के प्रशंसात्मक उल्लेख मिलते हैं अथवा जैनधर्म की उपदेशात्मक बातें संगृहीत हैं। जिन नाथपंथी जोगियों का राजस्थान एवं पंजाब की ओर अपने मत का प्रचार करना बतलाया जाता है उनकी भाषा शुद्ध पिंगल नहीं है। उसमें पंजाबी एवं 'हिंदवी' अर्थात् पुरानी खड़ी बोली आदि का भी सम्मिश्रण है जैसा उपर्युक्त 'गोरखबानी' में संगृहीत पद्यों द्वारा भी स्पष्ट है। अन्य इस प्रकार के उदाहरण अभी तक फुटकल रूप में ही पाये जाते हैं और इनमें से, कबीर साहब के समय तक के समझे जाने वाले, कुछ इस ढंग के हैं—

(१) यह संसार कुवधि का खेत, जब लगि जीवे तब लगि चेत।
आँख्याँ देखै, कान सुणै, जैसा वाहै वैसा लुणै ॥ (जलंधरनाथ)

(२) रावल ते जे चालै राह, उलटी लटरि समावै माँह।
पंचतत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतिष देव ॥ (घोड़ाचोली)

(३) मारिवा तौ मन मीर मारिवा, लूटिवा पवन भँडारं।
साधवा तौ पंच तत साधिवा, सेइवा तो निरंजन निराकारं ॥
(चौरंगीनाथ)

(४) सगौ नहीं संसार, चित नहिं आवै बैरी।
नृभय होइ निसंक हरिष में हास्यौ कणेरी ॥ (कणेरी पाव)

(५) चरपट चीर चक्र मन कंथा, चित्त चमाऊ करना।
ऐसी करनी करो रे अवधू, ज्यूँ बहुरि न होई मरना ॥
(चरपटनाथ)

---

१. मोतीलाल मेनारिया : 'राजस्थान का पिंगल साहित्य', पृ० २३ एवं २५

(६) देवल भए दिसंतरी, सब जग देख्या जोइ ।
नादी बेदी बहु मिलै, भेदी मिलै न कोइ ॥ (देवलनाथ)

(७) पाताल की मीडकी अकास जंत्र बावै ।
चंद सूरज मिलै तहाँ गंग जमुन गीत गावै ॥ (गरीबनाथ)

इन अवतरणों के रचयिताओं में से चौरंगीनाथ और घोड़ाचोली को गुरु गोरखनाथ का गुरुभाई कहा जाता है। जलंधरनाथ को उनके गुरु मछंदरनाथ का गुरुभाई ठहराकर कणेरीपाव को उनका शिष्य बतलाया जाता है जिस कारण इन जोगियों का समय ११ वीं शती से पहले है। इसी प्रकार चरपटनाथ गहनीनाथ (सं०१२८०-१३३०) के गुरुभाई कहे गए हैं और देवलनाथ को उनका समकालीन समझा गया है तथा यह भी अनुमान किया गया है कि गरीबनाथ का समय सं० १४४२ के आसपास रहा होगा।[1]

कबीर साहब के समय तक बहुत से मुस्लिम सूफ़ियों ने भी हिंदी में पद्य रचना आरंभ कर दी थी। इनका प्रचार-कार्य अधिकतर पंजाब से लेकर दिल्ली, उत्तर प्रदेश एवं बिहार तक उत्तरी भारत की ओर था और दक्षिण में दौलताबाद और गुलबर्गा आदि तक पहुँच चुका था। इनकी रचनाएँ प्रधानतः 'हिंदवी' में मिलती हैं, किंतु उनमें पंजाबी आदि कतिपय अन्य भाषाओं का भी सम्मिलन पाया जाता है। इनकी पंक्तियों को पढ़ते समय यह भी पता चल जाता है कि उन पर फ़ारसी, अरबी जैसी विदेशी भाषाओं का भी प्रभाव बहुत स्पष्ट था। कबीर साहब के इन पूर्ववर्ती एवं समकालीन सूफ़ी कवियों में से कुछ की उपलब्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) जली याद की करना हरघड़ी, यक तिल हूजूर सों टलना नईं।
उठ बैठ में याद सों शाद रहना, गवाहदार को छोड़ के चलना नईं॥[2]

—शेख़ फरीदुद्दीन शकरगंज (सं० १२३०-१३२५), पाकपत्तन

(२) सजन सकारे जायँगे और नैन मरैंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कभी न होय॥[3]

—शेख़ शरफुद्दीन बू अली कलंदर (मृ० सं० १३८०)

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भाग ११-अंक ४)—'हिंदी कविता में योगप्रवाह' पृ० ३९८ तथा ४००-२

२. वही, पृ० ३६०, ३६६ व ४०१-२

३. डा० बाबूराम सक्सेना : 'दक्खिनी हिंदी', पृ० ३१

(३) गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, रैन भई चहुँदेस ॥[१]
—अमीर ख़ुसरो (सं० १३१०-८२), दिल्ली

(४) तन मन ओझर तुझ बिन, कयसु कह्या मलान।
तै घर आवैं अजिर ना जिन्ह घर साईं नान ॥[२]
—हिसामुद्दीन मानिकपुरी (मृ० सं० १५०६)

(५) काला हंसा निरमला बसे समंदर तीर।
पंख पसारे बिख हरे, निरमल करे सरीर ॥[३]
—शेख़ शरफ़ुद्दीन अहमद मुनीरी (मृ० सं० १४३७), राजगृह (बिहार)

कबीर साहब के आविर्भाव-काल के पहले 'दक्खिनी हिंदी' में भी कुछ रचनाएँ हो चुकी थीं। गुलबर्गा के सर्वप्रथम सूफ़ी गद्य लेखक बंदानवाज़ गेसू दराज़ का समय सं० १३७५ से १४७६ तक बतलाया जाता है और उसका पोता अब्दुल हुसेनी उनका समसामयिक ठहरता है। बंदानवाज़ की रचनाएँ 'मीराजुल आशक़ीन', 'हिदायतनामा' तथा 'रिसाला सेहवारा' एवं हुसेनी का ग्रंथ 'निशातुल इश्क़' उसी भाषा में लिखे गए हैं।

दक्षिण की ओर, उन दिनों तक, प्रचलित हिंदी के बहुत से उदाहरण महाराष्ट्र के महानुभावों तथा संतों की रचनाओं में भी मिलते हैं। महानुभाव पंथ के प्रवर्त्तक चक्रधर (मृ० सं० १३३१) ने कदाचित् कोई ग्रंथ नहीं लिखा था, किंतु उनकी फुटकल बानियों की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित रूप में उपलब्ध हैं जिनसे उनकी दक्खिनी हिंदी के प्रयोग का यत्किंचित् आभास मिल जाता है; जैसे,

सुती बंधी स्थिर होई जेणे तुम्ही जाई।
सो परो मोरो वैरी अणता काई ॥[४]

इसी प्रकार उनके पट्टशिष्य नागदेवाचार्य की बहन उमाम्बा की भी एक रचना लगभग वैसी ही भाषा में मिलती है—जैसे,

नगर दूर हो भिच्छा करो हो वापुरे मोरी अवस्थालो।

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भाग २), पृ० ३२४
२. Current Studies (Patna College), May 1953, p. 11.
३. डा० मुहम्मद खां शीरानी : 'पंजाब में उर्दू', (लाहौर), पृ० १९६
४. 'भारती' (वर्ष १, अंक २), ग्वालियर, पृ० १२१

जिह्रा जावों तिह्रा आप सरिसा को ऊन करी मोरी चिंतालो ॥
ह्राट चौह्राटा पड़ रहूँ मांग पंच घर भिच्छा।
वापुड लोक मोरी अवस्था कोऊ न करी मोरी चिंतालो ॥[1]

महाराष्ट्र के वारकरी संतों में सबसे प्रसिद्ध ज्ञानेश्वर (सं० १३३२-५३) की भी एक हिंदी कविता निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है—

सोई कच्चा वे, नहीं गुरू का बच्चा।
दुनिया तजकर खाक रमाई, जाकर बैठा बनमों,
खेचरि मुद्रा वज्रासनमों, ध्यान धरत है मनमों।
तीरथ करके उम्मर खोई, जागे जुगति मों सारी।
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना।
सद्‌गुरु की कृपा भई जब, आपहि आप पिछाना ॥[2]

इसके सिवाय ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (सं० १३२६-१४०७) भी स्वयं एक प्रसिद्ध संत हो गए हैं, जिनकी चर्चा कबीर साहब ने भी की है। इनकी अनेक हिंदी रचनाएँ सिखों के 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं और वे अन्यत्र भी पायी जाती हैं। संत नामदेव तथा महानुभाव के कृष्णमुनि ने अपने-अपने मतों का प्रचार उत्तर की ओर पंजाब प्रांत तक किया था और अपने उपदेश हिंदी भाषा द्वारा ही दिये थे। नामदेव की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

माइ नं होती बापु न होता, करमु न होतो काइआ।
हम नहीं होते तुम नहीं होते, कवनु कहांते आइआ ॥१॥
राम कोई न किसही केरा। जैसे तरवर पंषि बसेरा ॥रहाउ॥ इत्यादि

संत नामदेव के एक साथी त्रिलोचन थे जिनका जन्म सं० १३२४ में हुआ था। इनकी भी कुछ रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में पायी जाती हैं और उनमें से एक की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अंतर मलि निरमलु नहीं कीना, बाहरि भेष उदासी।
हिरदै कमलु घटि ब्रह्म न चीन्हा, काहे भइआ संनिआसी॥१॥
भरमें भूली रे जैचंदा। नहीं नहीं चीन्हिआ परमानंदा ॥रहाउ॥[3]

जिनके द्वारा उनके समय में प्रचलित हिंदी का रूप स्पष्ट हो जाता है।

---

१. भारती, पृ० १२२
२. 'गुरु ग्रंथ साहिबजी', रागु रामकली, ३, पृ० ९७३
३. वही, रागु गूजरी १, पृ० ५२५

कबीर साहब के पहले, और लगभग उन्हीं की भाषा के प्राचीन एवं अविकसित रूप का व्यवहार करने वाले, कतिपय संत पूर्व एवं पश्चिम में भी हुए थे और उनकी भी एकाध रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संगृहीत मिलती हैं। इन संतों में से जयदेव १३ वीं शताब्दी में वर्तमान थे। इनके लिये प्रसिद्ध है कि ये 'गीत-गोविंद' के रचयिता से अभिन्न हैं, किंतु एक दूसरे मत के अनुसार ये उड़ीसा प्रांत के बतलाये गये हैं। इनकी एक रचना में भी हमें प्रायः उसी हिंदी का उदाहरण मिलता है जो, इनके अनंतर, अन्य संतों द्वारा व्यवहार में आई। जैसे,

चंद सत भेदिआ, नाद सत पूरिआ, सूरसत षोडसादतु कीआ।
अबलु बलु तोडिआ, अचल चलु थापिआ,
अघहु घड़िआ तहा अपिउ पीआ ॥१॥
मन आदि गुण आदि वषाणिआ।
तेरी दुविधा द्रिसटि संमानिआ ॥रहाउ॥[1] इत्यादि

इसी प्रकार किन्हीं पश्चिमी प्रदेशों के निवासी संत सधना एवं संत बेनी की भी रचनाएँ उस भाषा के उदाहरण में दी जा सकती हैं। ये दोनों ही संत संभवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में वर्तमान थे संत सधना एवं संत बेनी की कतिपय पंक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

सधना—

त्रिप कंनिआ कै कारनै, इकु भइआ भेषधारी।
कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
तब गुन कहा जगत गुरा, जउ करम न नासै।
सिंघ सरन कत जाईऔ, जउ जंबुकु ग्रासै ॥रहाउ॥[2] इत्यादि

बेनी—

तनि चंदनु मसतकि पाती, रिद अंतरि करतल काती।
ठग दिसटि बगा लिव लागा, देषि बैसनो प्रान मुषभागा ॥१॥
कलि भगवत बंद चिरामं, क्रूर दिसटि रतानिसि वादं ॥रहाउ॥[3]
इत्यादि

१. 'गुरुग्रंथ साहिबजी' वही, रागु मारू १, पृ० ११०४
२. वही, रागु बिलावलु १, पृ० ८५८
३. वही, रागु प्रभाती १, पृ० १३५०

इसके सिवाय कबीर साहब के गुरु कहे जाने वाले स्वामी रामानंद तथा उनके गुरु भाई समझे जाने वाले संत सेन, संत पीपा जी, संत रैदास आदि की भी कतिपय रचनाएँ उक्त 'आदि ग्रंथ' में ही संग्रहीत मिलती हैं और उनकी भाषा से भी तुलना करने पर बहुत अंतर नहीं दीख पड़ता। वास्तव में इन जैसे तत्कालीन संतों की भाषा तथा उपर्युक्त नाथपंथी जोगियों की भाषा में कोई विलक्षण असमानता नहीं है और न इनके साथ तुलना करने पर हमें उक्त सूफ़ियों की भाषा ही इनसे बहुत भिन्न प्रतीत होती है। प्रायः सभी में मिश्रित पुरानी 'हिंदवी' के प्रयोग आते हैं। यह संभव है कि ऐसी रचनाओं के मूल पाठों में कुछ न कुछ परिवर्तन आ गये हों किंतु इनकी भाषा के सामान्य ढाँचे में अधिक अंतर नहीं जान पड़ता।

कबीर साहब के इन पूर्ववर्त्ती एवं समसामयिक संतों, सूफ़ियों अथवा नाथ-पंथियों में से अधिकांश की काव्य-रचना का उद्देश्य शुद्ध धर्म प्रचार था इनमें से बहुत कम ऐसे रहे जिन्होंने अपनी इस प्रकार की पंक्तियों को किसी साहित्यिक उद्देश्य से भी लिखने का प्रयत्न किया। ये अपने मतों की व्याख्या अथवा निरू-पण करते समय, बहुधा पद्यमयी रचनाओं का भी व्यवहार करना आवश्यक समझते थे और इसी पद्धति का विशेष प्रचार था। तदनुसार सभी ने कतिपय फुटकर पद्यों की रचना कर डाली जो आज तक कहीं न कहीं संग्रहीत पाये जाते हैं। सूफ़ियों तथा जैनधर्म के प्रचारकों की कुछ ऐसी प्रबंध रचनाएँ भी पायी जाती हैं जिनमें, प्रेमगाथा एवं चरित्र-गान के व्याज से, अनेक सांप्रदायिक बातों की चर्चा की गई है, किंतु ये कम हैं। कबीर साहब के पूर्ववर्त्ती जैन कवियों की ऐसी कृतियों की भाषा पर अधिकतर अपभ्रंश एवं पछाँही बोलियों का प्रभाव दीख पड़ता है। सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं का निर्माण फ़ारसी साहित्य में प्रचलित मस-नवी पद्धति का अनुसरण करता है किंतु उसके पर्याप्त उदाहरण भी नहीं मिलते। कबीर साहब के समय से पहले इस प्रकार की प्रेमगाथा के लिखने वाले मुल्ला-दाऊद कहे जाते हैं, जिन्होंने अपनी 'चंदायन' की रचना सं० १४३६ में की थी। परंतु अभी तक उसकी कोई पूरी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है और जो उसका अंश मिला है वह भी आजतक प्रकाश में नहीं आ सका है। फिर भी मुल्ला-दाऊद की उक्त रचना की भाषा का प्राचीन अवधी होना बतलाया जाता है और उनके परवर्त्ती सूफ़ी कवियों ने भी अधिकतर उसे ही अपनाया है।

अवधी भाषा का प्रचार कबीर साहब के निवासस्थान काशी से कुछ ही दूर पश्चिम की ओर था और उनकी अपनी बोली पश्चिमी भोजपुरी अथवा 'बना-

रसी बोली' के बहुत से प्रयोगों पर उसका प्रभाव कम नहीं था। अभी कुछ दिन हुए कन्नौज के गाहरवार नरेश गोविंद चंद्र (राज्यकाल सं० ११७१-१२१२) के समकालीन पण्डित दामोदर विरचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक एक अधूरा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। उसकी रचना संस्कृत भाषा की कारिकाओं में हुई है, किंतु उनकी वृत्तियों द्वारा तत्कालीन कन्नौज से काशी तक के भूभाग की बोली के उदाहरण, उक्तियों के आधार पर दिये गये हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि इन उक्तियों में ईस्वी सन् की १२ वीं शती के पूर्वार्द्ध से लेकर १३ वीं के चतुर्थ चरण तक की भाषा का रूप सुरक्षित है।[1] अतएव, कबीर साहब की अपनी भाषा का भी पूर्व रूप उससे अधिक भिन्न नहीं रहा होगा तथा जो कुछ अंतर हमें उनकी रचनाओं में मिल सकते हैं वे उसके विकास क्रम के ही कारण संभव हुए होंगे जिस बात को तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सिद्ध भी किया जा सकता है। कबीर साहब के समकालीन अथवा कुछ ही परवर्त्ती किसी कवि ईश्वरदास की एक अवधी रचना भी मिली है जिसका नाम 'सत्यवतीकथा' है और जिसका निर्माण काल सं० १५५८ है। इसमें मथुरा नगर के राजा की कन्या सत्यवती का उपाख्यान है जिसे, अपने पिता के रुष्ट हो जाने पर, 'रितु-वर्ण' नामक एक कोढ़ी राजकुमार की सेवा करनी पड़ी थी और जिसने अपने सत्याचरण द्वारा उसे अच्छा करके फिर उससे विवाह भी कर लिया था। इसकी रचना दोहों-चौपाइयों में हुई है और इसकी कई पंक्तियों को पढ़ते समय हमें 'कबीरबीजक' की रमैनियाँ स्मरण हो आती हैं।[2]

इसी काल के लगभग रची गई दो सूफ़ी-कवियों की भी प्रेम-गाथाओं के नाम लिये जा सकते हैं जिनमें से एक दक्खिनी हिंदी के कवि निज़ामी की 'कदम राव व पदम' है और दूसरी शेख़ कुतबन की 'मिरगावति' है। निज़ामी अब्दुल्ला द्वितीय बहमनी (राज्य काल सं० १४९१-१५१४) का समकालीन था और उसकी प्रेमगाथा अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। शेख़ कुतबन की 'मिरगावति' की भी अभी तक केवल खंडित प्रतियाँ ही मिलती हैं, किंतु जितना अंश उप-लब्ध है उससे उसके रचनाकाल का सं० १५६० होना तथा उसकी कथा का सारांश भी विदित हो जाता है। इस रचना की भी भाषा अवधी है, किंतु इसमें

---

१. 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', के A study of the New Indo-Aryan Speech etc. अंश का पृ० १

२. हिंदुस्तानी (प्रयाग, सन् १९३७ ई०), पृ० ८४-१००

भी, 'सत्यवती-कथा' की ही भाँति, अन्य भाषाओं के प्रयोग मिल जाते हैं शेख़-कुतबन का तो इसमें यह भी कहना है—

चतुर सुजान भाषा सब जाने, ऐस न देखूं कोए।

और फिर वह इस प्रकार भी कहता है—

खट भख अहही ऐहो मद्ध। पंडित बिन बूझत होइ सिद्ध ॥[1]

जिससे जान पड़ता है कि उस कवि ने इस रचना में छः भाषाओं का प्रयोग किया होगा। किंतु उपलब्ध प्रतियों में इस प्रकार के स्पष्ट लक्षण नहीं दीख पड़ते और न समझ पड़ता है कि उसकी ये छः भाषाएं कौन-कौन सी हो सकती हैं। इसलिए संभव है, इस कवि ने भी यहाँ पर 'खट भख' का प्रयोग उसी प्रकार किया हो जिस प्रकार 'पृथ्वीराजरासो' के निम्नलिखित 'श्लोक' में किया गया पाया जाता है—

उक्ति धर्म विशालस्य। राजनीति नवं रसं॥
षट् भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया ॥२५॥[2]

जहाँ पर स्पष्ट है कि 'षट् भाषा' से अभिप्राय छः भाषाओं का नहीं, अपितु विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य के वर्ण्य विषयों से है।[3]

इसके सिवाय यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर साहब के आविर्भावकाल के पहले तथा उसके पीछे तक विभिन्न भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया जाना अथवा एक ही रचना के अंतर्गत उसके विविध पद्यों में विभिन्न भाषाओं का आ जाना एक साधारण सी बात रही। कवियों की कृतियों में जहाँ विभिन्न भाषाओं के क्रियापद, कारक चिह्न तथा संयोजक शब्द तक अनायास एक साथ आ जाते हैं वहाँ प्रांतीय भाषाओं अथवा बोलियों की रचनाओं के बीच-बीच में संस्कृत, फ़ारसी आदि की पंक्तियाँ भी घुसेड़ दी जाती हैं और इसे कदाचित्, किसी प्रकार का दोष भी नहीं माना जाता। इसके उदाहरण बहुधा उन्हीं कवियों की रचनाओं में मिलते हैं जिन्हें दोनों प्रकार की भाषाओं पर अच्छा अधिकार था जिस कारण वे यातो इस प्रकार की मिश्रित पंक्तियाँ केवल मनोरंजन मात्र के लिए लिखते थे अथवा हिंदी से भिन्न भाषा वाले अंश को अधिक प्रामाणिक सा समझते थे। प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो ने कुछ

---

१. 'सूफ़ी काव्य संग्रह', पृ० ६७ २. 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो', पृ० ४

३. कुछ लोगों ने "षड्भाषा" में संस्कृत, प्राकृत, साहित्यिक अपभ्रंश तथा तीन प्रांतों की बोलियों को सम्मिलित किया है।—लेखक

'दोसख़ुने' लिखे थे जिनका आधा अंश फ़ारसी का है तो आधा हिंदी का, किंतु दोनों का उत्तर किसी एक ही शब्द द्वारा दिया जा सकता है; जैसे,

शिकारी राचे मी बायद,
मुसाफ़िर, को क्या चाहिए ?[1]

प्रश्नों का उत्तर 'दाम' शब्द द्वारा दिया गया है जिसका अर्थ फ़ारसी में 'जाल' होता है और हिंदी में 'द्रव्य' वा 'मूल्य' हुआ करता है। इसी प्रकार उन्होंने कुछ ऐसी पंक्तियाँ भी लिखी हैं जिनका एक अर्द्धांश फ़ारसी में तथा दूसरा हिंदी में होने पर भी, दोनों के सम्मिलित अर्थ में भाव वैषम्य नहीं आता। जैसे,

जेहाल मिसकीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराय नैना बनाए बतियां।[2]

अर्थात् आँखें बचाकर और बातें बनाकर इस गरीब की दशा को न भूल जाओ। दूसरे प्रकार के उदाहरणों में हम शाह बर्कत उल्लाह का यह दोहा दे सकते हैं—

'मन अरफ़ रब्बः' कोऊ, 'कल्लालि सानुः' होय।
यह गत कासों कह सके, गूंगे को गुड़ सोय॥[3]

अर्थात् जिस किसी ने अपने आपको पहचान लिया वह गूंगी जबान का हो गया, उस दशा का वर्णन वह कैसे कर सकेगा जो गूंगे के गुड़ के समान है। इस दोहे के 'मन अरफ़ रब्बः' तथा 'कल्लालि सानुः' वाक्य अरबी भाषा के हैं जिनका प्रयोग प्रसंगवश कथन को महत्त्व देने के लिए, किया गया है। प्रबंध काव्यों में कभी कभी पूरे पद्यों का भी दूसरी भाषा में निर्मित होना पाया जाता है जैसा गो० तुलसीदास के 'राम चरित मानस' में दीख पड़ता है। 'मानस' के 'उत्तर कांड' में जहाँ कागभुशुंडि एवं गरुड़ का संवाद है वहाँ, भक्ति साधना की अव्यर्थता दिखलाते समय संस्कृत में कागभुशुंडि द्वारा निम्नलिखित श्लोक भी कहला दिया है—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽति दुस्तरं तरन्ति ते॥[4]

कबीरसाहब फ़ारसी जैसी किसी अन्य भाषा से कदाचित् अभिज्ञ नहीं थे और अभी तक किसी ने उनके लिए ऐसा दावा भी नहीं किया है। किंतु उनकी 'आदि-ग्रंथ' में संगृहीत एवं 'कबीर-ग्रंथावली' में भी आयी हुई रचनाओं के बीच कतिपय

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भाग २), पृ० ३१६
२. वही, पृ० ३२४ ३. 'पेम प्रकाश' पृ० २९
४. 'राम चरितमानस' (सभा संस्करण), पृ० ५६३

फ़ारसी भाषा की पंक्तियाँ दीख पड़ती हैं। उदाहरण के लिए 'आदिग्रंथ' के 'वेद कतैब इफ़तरा भाई,' इत्यादि वाले रागु तिलंग (१) के पद की निम्नलिखित पंक्ति फ़ारसी भाषा की है—

असमान म्याने लहंग दरिआ गुसल करदन बूद।[1]

और यह 'कबीर-ग्रंथावली' के २५८ वें पद में भी आती है। 'ग्रंथ' का उक्त पूरा पद 'ग्रंथावली' के २५७ वें पद से अधिक मिलता-जुलता है, किंतु इसमें वह पंक्ति नहीं दिखलाई पड़ती। उस पद की अन्य कई पंक्तियाँ भी फ़ारसी भाषा द्वारा प्रभावित जान पड़ती हैं जो बात 'ग्रंथावली' के २५७ वें पद में भी लक्षित होती है। परंतु इसका पंक्ति २५८ वाँ पद नितांत विलक्षण है। ऐसा लगता है कि 'ग्रंथ' की उक्त पंक्ति को ही केंद्र बनाकर 'ग्रंथावली' के इस पद की अन्य पंक्तियाँ रच ली गई हैं। फिर भी वह फ़ारसी की पंक्ति कहाँ से आ गई इसका पता नहीं चलता। इसका अपने ही रूप में आकर कबीर साहब की समझी जाने वाली रचना में स्थान पा जाना और फिर इसके कारण अन्य पंक्तियों का भी रूपांतर होकर, पूरे पद का ही किसी फ़ारसी भाषा की रचना सा प्रतीत होने लगना एक ऐसा प्रश्न है जिसका समाधान उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर सरल नहीं। अतएव, जान पड़ता है कि कबीर साहब की रचनाओं का संग्रह करने वालों ने भ्रमवश उसमें ऐसी पंक्तियाँ भी जोड़ दी हैं जिनसे उपर्युक्त परंपरा का पालन हो जाय।

कबीर साहब की जीवनचर्या से हम परिचित नहीं है और न इस संबंध में हमें अभी तक वैसी प्रामाणिक सामग्री ही उपलब्ध हो सकी है। केवल अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने उपदेश स्वभावतः आसपास में प्रचलित बोलियों के ही माध्यम से दिये होंगे और अपने कथन को अधिक आकर्षक अथवा प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से, उन्होंने उसके बीच-बीच में स्वनिर्मित पद्यों के भी प्रयोग कर दिये होंगे। संभव है, वे कभी-कभी पहले अपने पदों का गान भी कर लेते हों और तब उनकी व्याख्या के व्याज से अपना प्रवचन देने लग जाते हों। ऐसे पदों वा अन्य पद्यों का भी ठीक उनके भाषणों की ही भाषा में निर्मित होना अनिवार्य न था और उनकी रचना करते समय वे उस समय की किसी भी ऐसी प्रचलित परंपरा का अनुसरण कर सकते थे जो उनके लिए सुगम हो तथा जो उनके श्रोताओं के लिए अपरिचित भी न जान पड़े।

---

१. 'गुरु ग्रंथ साहिब,' पृ० ७२८

उनकी पद्य-रचना का यह क्रम प्रधानतः उनके उपदेश-कार्य का ही अंग था और एक की भाषा का बहुत कुछ दूसरे के अनुरूप होना अधिक संभव था।

किंतु कबीर साहब के बहुत से पद्य ऐसे भी अवश्य होंगे जिन्हें उन्होंने कभी-कभी अपनी स्वानुभूति के प्रभाव में आकर, निजी उद्‌गारों के रूप में प्रकट कर दिया होगा और जो, इसी कारण, भाव-सौंदर्य एवं भाषा-लालित्य की भी दृष्टि से, साहित्यिक रचनाओं की कोटि में आ सकते हैं। यह भी संभव है कि कभी-कभी उन्होंने कुछ ऐसे पद्यों को भी प्रस्तुत किया हो जो दूसरों के रहे हों, किंतु जो ऐसे अवसरों के लिए उपयुक्त ठहरते हों और उन पर किसी साहित्यिक परंपरा की छाप भी लगी हो। परंतु किसी भी ऐसी दशा में उनका प्रमुख उद्देश्य किसी साहित्यिक रचना का निर्माण करना नहीं था और न उन्होंने कोई प्रबंध काव्य ही लिखा। हमारे सामने इस समय उनकी केवल उपर्युक्त प्रकार की ही रचनाएँ संगृहीत पायी जाती हैं और इन्हीं के आधार पर उनकी भाषा का निर्णय करना पड़ता है।

कबीर साहब की ये समस्त रचनाएँ यदि आज अपने मूल रूपों में मिलती होतीं तो हम उनकी भाषा के विषय में पूरी दृढ़ता के साथ निश्चय कर पाते। परंतु जान पड़ता है कि उनके मुख से निःसृत होने के अनंतर इनका प्रचार क्रमशः दूर-दूर तक होता गया है और तदनुसार इन पर बाहर के विविध रंग भी चढ़ते गए हैं। काशीपुरी जैसे स्थान से जहाँ उनके उपदेश अधिक संख्या में दिये गए, श्रद्धालु यात्रियों ने इन रचनाओं को सुदूर पंजाब, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र तक प्रचलित कर दिया और अधिकतर मौखिक रूप में ही होने के कारण, वे सर्वत्र न्यूनाधिक प्रभावित भी होती गईं। इस प्रकार के परिवर्तनों का आ जाना उस दशा में भी संभव था जब कबीर साहब ही ऐसे प्रदेशों में जाकर वहाँ स्वयं उपदेश दे सकते थे और उन स्थानों के निवासी उन्हें, अपनी-अपनी समझ के अनुसार, कंठस्थ अथवा लिपिबद्ध कर ले सकते थे और फिर उनकी स्मृति के अनुसार ही उनका संग्रह भी किया जा सकता था। पंजाब, राजस्थान एवं महाराष्ट्र के उपलब्ध संग्रहों की रचनाओं के विषय में हम ऐसा ही अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत कबीर साहब की जो रचनाएँ उत्तर प्रदेश के अन्य भाग बिहार तथा मध्यप्रदेश जैसे स्थानों तक पहुँची हैं उन पर इस प्रकार के परिवर्तन बहुत कम दीख पड़ते हैं। यहाँ के निवासियों की बोली प्रधानतः ब्रज, अवधी अथवा भोजपुरी ही होने के कारण, उनके द्वारा इस प्रकार का हेरफेर किये जाने की संभावना बहुत कम समझी जा

सकती है। इस संबंध में यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि इन्हीं प्रांतों में कबीर-पंथी आंदोलनों का भी अधिक प्रचार होता आया है जिस कारण यहाँ उनका सुरक्षित रहना भी संभव था। यहाँ पर जहाँ केवल कुछ पाठभेद हो सकते थे और क्षेपकों की संख्या में वृद्धि हो सकती थी वहाँ उनका सर्वथा रूपांतरित हो जाना भी असंभव नहीं था।

अतएव, इसमें संदेह नहीं कि कबीर साहब की रचनाओं की मूल भाषा में एक से अधिक प्रचलित बोलियों का सम्मिश्रण रहा होगा और इसके अनुपात का अनुमान हम, सामान्यतः, ऐसी अन्य रचनाओं के भी आधार पर कर सकते हैं जिनके कुछ उदाहरण इसके पहले दिये जा चुके हैं। कबीर साहब के समय तक मत-प्रचार का कार्य अन्य लोग भी करते आ रहे थे और उनके उपदेशों की भाषा एक सामान्य रूप ग्रहण करती आ रही थी। अपने मूलस्थानों से दूर-दूर तक जाकर धर्मोपदेश करने वाले अधिकतर उसी का व्यवहार करते थे। बाहर से आने वाले, तथा, विशेषतः फ़ारसी-अरबी से ही अभिज्ञ, सूफ़ियों के लिए तो वह, कदाचित् एक मात्र माध्यम बन चुकी थी। इस देश के निवासी धर्मोपदेशक तक, अपने-अपने क्षेत्रों में काम करते समय, इससे सहायता लिये बिना नहीं रह पाते थे। इस मिश्रित भाषा में 'हिंदवी' अथवा पुरानी खड़ी बोली का अंश अधिक रहता था और उसके अतिरिक्त उसमें पूर्वी हिंदी, ब्रज तथा पछाँही बोलियाँ तक मिली-जुली रहती थीं। कबीर साहब के अति निकट की साहित्यिक भाषा पूर्वी हिंदी अथवा अवधी थी जिसका प्रयोग उन्होंने अधिकतर अपनी रमैनियों में किया है। उनकी रचनाओं के उपलब्ध संग्रहों में से 'कबीर बीजक' तथा 'आदि ग्रंथ' की भाषा को हम अधिक महत्त्व दे सकते हैं; 'कबीर ग्रंथावली' में रूपांतरों की अधिक संभावना है। कबीर साहब की भाषा का पता लगाते समय हमें क्षेपकों के कारण भी बहुत कठिनाई झेलनी पड़ती है और उनकी संख्या तीनों में ही कम नहीं जान पड़ती।

कबीर-साहित्य के कुछ परंपरागत पारिभाषिक शब्द

कबीर-साहित्य के अंतर्गत बहुत से ऐसे कठिन शब्द आते हैं जिनके कुछ-न-कुछ विशेष अर्थ होते हैं जिन्हें जाने बिना प्रायः काम नहीं चलता। इनमें से कतिपय ऐसे हैं जो किसी गूढ़ अर्थ के लिए प्रतीकवत् प्रयुक्त हुआ करते हैं और इनके प्रयोग अधिकतर उलटवाँसियों में पाये जाते हैं। परंतु उनसे कम संख्या ऐसे शब्दों की भी नहीं जो बौद्धों के सिद्ध साहित्य एवं हिंदुओं तथा नाथों के योग-साहित्य की विशेष परंपराओं के अनुसार बहुत दिनों से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, किंतु जिनका, कबीर साहब ने, अपने नये ढंग से भी, प्रयोग कर दिया है। कबीर साहब की रचनाओं में ऐसे शब्दों के कभी-कभी विभिन्न रूप भी दीख पड़ते हैं जिनके कारण केवल प्राचीन परंपराओं से ही परिचित पाठकों को भ्रम हो जाने की आशंका रहती है और, उनके कभी-कभी अन्य वैसे ही शब्दों के पर्यायवत् प्रयुक्त समझ पड़ने के कारण, प्रायः साधारण पंक्तियों का भी अभिप्राय जान पाना कठिन हो जाया करता है और अनेक सुंदर बानियाँ नीरस पद्यों का सा रूप ग्रहण कर लेती हैं। हम यहाँ पर केवल थोड़े से ही ऐसे शब्द देने की चेष्टा करेंगे और उनके अर्थों के क्रमिक विकास पर ध्यान दिलाते हुए कबीर-साहित्य में आ गई उनकी विशेषताओं का भी उल्लेख करेंगे। कबीर साहब की रचनाओं में पाये जाने वाले ऐसे शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनका प्रयोग सदा पूरी सावधानी के साथ नहीं किया गया है और उनका ठीक-ठीक एवं सर्वथा उपयुक्त अर्थ न समझ पाने का बहुत कुछ कारण इस बात पर भी निर्भर है।

कबीर-साहित्य के अंतर्गत पाये जाने वाले ऐसे शब्दों के प्रत्येक प्रयोग का यहाँ उद्धृत किया जाना आवश्यक नहीं जान पड़ता। यहाँ पर केवल थोड़े से ही प्रयोग विषय का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से लिये जाँयगे। आशा है कि केवल उनके भी आधार पर मूल प्रश्न को समझने तथा उसका समाधान करने का काम पूरा हो जा सकता है। कबीर साहब की पंक्तियाँ अधिकतर 'कबीर ग्रंथावली' तथा 'आदिग्रंथ' से ली गई हैं। इसी कारण, उनके ही पाठों के अनुसार उन पर विचार भी किया गया है। विषय अत्यंत गूढ़ है और मतभेद की गुंजायश का बना रहना भी स्वाभाविक है, इसलिए किसी अंतिम निर्णय के लिए वैसा आग्रह भी नहीं किया जा सकता।

(१) अजपाजाप

अजपाजाप को कभी-कभी सहज जाप भी कहते हैं और यह नामस्मरण की उस पद्धति के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें सभी प्रकार के बाह्य साधन जैसे स्पष्ट वा अस्पष्ट नामोच्चारण, माला का फेरना, अंगुलियों पर नामो का गिनना आदि छोड़ दिये जाते हैं और जिसकी अंतःक्रिया आप से आप होती चलती है। बौद्ध सिद्धों की साधना-पद्धति में अपने श्वासों को निरुद्ध करके 'चंडाग्नि' प्रज्वलित की जाती थी और उसमें एवं' बीजाक्षर को ध्यान में ग्रहण करके इस प्रकार साधना किया करते थे जिसमें यह शब्द प्रत्येक श्वास प्रश्वास में स्वतः निकलने लग जाय। इसे वज्रयोग साधना का 'वज्रजाप' कहा करते थे। इसमें तांत्रिक बीजार्थ तथा हठयोग दोनों का समन्वय हो जाता था और नामस्मरण का परंपरागत विधान भी आ जाता था। नाथ पंथियों ने पीछे इसी को 'अजपा जाप' का नाम दिया और श्वास निरोध के अनंतर मन को शून्य में केंद्रित करते हुए 'एवं' के स्थान पर 'सोहम्' का ध्यान किया। कहा गया कि यही 'सोहम्' क्रमशः शब्द-ज्योति में परिवर्तित होकर शून्य के अंधकार को दूर कर देता है और परमतत्त्व के रूप में भी प्रकट हो जाता है। कबीर साहब ने इस 'सोहम्' का परित्याग नहीं किया, किंतु इससे अधिक ध्यान उन्होंने 'राम' शब्द की ही ओर दिया। इसे 'सहज जप', भी कहा गया। यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि सिद्धों ने अपने 'एवं' बीजाक्षर की अंतिम परिणति का रूप 'णिरक्खर' (निरक्षर) में भी दिखलाया था जिसका भाव कबीर साहब ने, निःशब्द अथवा पूर्णरूप से मौन रह कर जप करने में, स्वीकार किया और यही 'आपा में आप के समाने' की भी दशा थी।

अजपा जाप का वास्तविक महत्त्व, इस प्रकार, नामस्मरण तथा जप की साधना के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि में निहित है। वैष्णवों का नामस्मरण तथा गुणगान अपने इष्टदेव के सान्निध्य की अनुभूति के लिए किये जाते थे और योगियों के जप विधान तथा बौद्ध तांत्रिकों के वज्रजाप का भी ध्येय यही था कि इसके द्वारा उनके साधक, शिव एवं शक्ति अथवा प्रज्ञा एवं उपाय के सम्मिलन की स्थिति का अनुभव प्राप्त कर सकें। बड़े-बड़े मंत्रों को 'सोहम्' अथवा 'एवं' के बीजाक्षर का रूप देकर उनपर अपने चित्त को केंद्रित करने का अभिप्राय भी यही था। नाम अथवा बीजाक्षरों की उपयोगिता केवल इसी बात में थी कि वे हमारे चित्त के पूर्णतः एकाग्र तथा हमारे लक्ष्य में केंद्रित होने का साधन बन सकें। गुरु गोरखनाथ एवं कबीर साहब ने इस बात की ओर सदा

ध्यान दिलाया है। अजपाजाप की साधना किसी अनभ्यस्त साधक के वश की बात नहीं थी। इसमें केवल ऐसे साधकों को ही सफलता मिल सकती थी जिनका ध्यान शब्दों अथवा अक्षरों को दुहराने से कहीं अधिक उपर्युक्त अनुभूति पर ही रहा करता था। जो, इसी कारण, जपसाधना के मौलिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही सजग और सचेष्ट रहा करते थे।

(२) अनहद नाद

अनहद नाद वा अनाहत नाद नाम विशेषतः उस विचित्र ध्वनि के लिए दिया जाता है जो मानव शरीर के भीतर आप से आप उठती रहा करती है। समाधिस्थ योगियों को इस बात में प्रतीति रहती है कि वे अपने भीतर एक प्रकार की मधुर ध्वनि को श्रवण करते हैं। संत लोग भी इस प्रकार की ध्वनि में पूरी आस्था रखते हैं और इसके साथ सदा तल्लीनता का अनुभव करने का भी प्रयत्न किया करते हैं।

कहते हैं कि यह 'नाद' वा शब्द मानव शरीर (पिंड) के अंतर्गत वस्तुतः उस शब्द का प्रतिनिधित्व करता है जो विश्व(ब्रह्मांड) में व्याप्त है। युरोप के प्राचीन दार्शनिकों को इस व्यापक नाद के अस्तित्व में विश्वास था और वे इसे Music of the Spheres (विश्व का मधुर संगीत) कहते थे। इस संगीत को श्रवण करने की शक्ति किसी विरले में ही पायी जाती है क्योंकि मनुष्य की सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग प्रायः बंद रहा करता है। ऐसे बद्ध जीव के मन की वृत्ति बहिर्मुख रहने के कारण वह जगत् के अंतस्तल एवं निखिलब्रह्मांड में ध्वनित अखंड नाद को सुन नहीं पाता। पिंड में स्थित नाद भी केवल उन साधकों के ही अनुभव में आया करता है जिनकी कुंडलिनी के जाग्रत होने पर उनका प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। फिर भीतर के छहों चक्रों तथा तीनों ग्रंथियों का क्रमशः भेदन कर अंत में स्थिर हो जाता है। सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग वाले छहों चक्र नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा के नामों द्वारा अभिहित होते हैं, उनके स्थान क्रमशः गुदा के पास, मेढ के पास, नाभिदेश, हृदयदेश, कंठदेश एवं भ्रूमध्य समझे जाते हैं। वे क्रमशः चार, छः, दस, बारह, सोलह एवं दो दलों से संपन्न कमल पुष्पों के रूप में दीख पड़ते हैं तथा इन्हीं में से अनाहत में ब्रह्म ग्रंथि, विशुद्ध में विष्णु ग्रंथि तथा आज्ञा में रुद्रग्रंथ के अवस्थान भी माने जाते हैं। प्राणवायु के उपर्युक्त ढंग से ऊपर पहुँचते ही वह ध्वनि पहले समुद्र वा मेघ के गर्जन जैसी सुन पड़ती है और फर भेरी, शंख, घंटा, आदि के शब्दों सी जान पड़ती हुई,

किंकिणी, वंशी, वीणा अथवा भ्रमर गुंजन जैसी मधुर हो जाती है और आज्ञा चक्र के अनंतर प्राण एवं मन का नाद में लय हो जाया करता है। ऐसी दशा में तीनों नितांत स्थिर भी हो जाते हैं और "नादासक्त चित्त में फिर किसी विषय की आकांक्षा नहीं रह जाती।" कबीर ने अपनी एक साखी द्वारा इस बात का वर्णन इस प्रकार किया है—

पंषि उडानीं गगन कूं, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान॥ २१॥[1]

इस 'सर' वा शब्द का प्रमुख स्थान वह उर्द्ध्वस्थित 'गगन' (आसमान) जान पड़ता है जिसे शून्य का भी नाम दे दिया जाता है और जहाँ शीर्षस्थान में सहस्रदल कमल नीचे की ओर विकसित पाया जाता है।

परंतु गुरु गोरखनाथ ने इस 'अनहद नाद' के सुनाई पड़ने की स्थिति का वर्णन एक दूसरे ढंग से भी किया है जिसका समर्थन कबीर साहब की पंक्तियों द्वारा भी होता है। योगियों का कहना है कि उपर्युक्त सहस्रदल कमल के मध्य स्थित किसी चंद्राकार विंदु के आधार से एक प्रकार का मंद स्राव भी होता रहता है जिसे 'अमृत' वा 'महारस' कहते हैं। यह निम्न स्थान की ओर प्रवाहित होता हुआ क्रमशः मूलाधार चक्र के निकटवर्त्ती किसी सूर्याकार स्थान तक आकर सूख जाता है। यदि अभ्यास द्वारा इसे ऊपर ही रोक लिया जाय और इसका रसास्वादन किया जाय तो इससे शरीर को अमरत्व तक मिल सकता है। अभ्यास द्वारा इसे ऊपर ही रोक लेना, निम्न स्थित सूर्य को चंद्र तक लाकर दोनों का सम्मिलन करा देने से, संभव होता है जिसे दूसरे शब्दों में नाद एवं विंदु का मिलन भी कहा जाता है। गोरख नाथ का कहना है—

अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिम के घरि सूर।
नाद कै घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूर॥ ५४॥[2]

अर्थात् जब अमृत का स्राव बीच में ही रुक जाता है और इस प्रकार, निरंतर उसके प्रवाहित होते रहने के कारण अमावस के चंद्रमा का सा मलिन बना यह चंद्र भी एक बार पूर्णिमा के चंद्रमा सा पूर्ण एवं स्वस्थ प्रतीत होता है। उसके घर सूर्य का निवास भी हो जाता है तो, वह झिलमिल करने लगता

---

१. 'क० ग्रं०', पद २१, पृष्ठ १४, पद ७, पृ० ६० भी
२. 'गोरखबानी', पृ० २०

है। ऐसी दशा में नाद में विंदु का भी समावेश हो जाता है और अनहद नाद की तुरी बजने लग जाती है। यही स्थिति साधक के लिए आत्मोपलब्धि की भी है। कबीर साहब कहते हैं—

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।[1]

अर्थात् हे अवधू, नाद में विंदु के स्थिर होते ही गगन में अनहद का शब्द उठता है और तब,

अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार॥[2]

फिर, इसी प्रकार, जब

ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि बिराजै॥[3]

कबीर साहब वाले अनहद नाद की यह विशेषता है कि यह उनके भक्त हृदय की तृप्ति के लिए 'जगत गुर' की 'कींगरी' का शब्द[4] तथा 'हरि की कथा'' के[5] भी रूप ग्रहण कर लेता है।

(३) अमृत

अमृत जिसके मूल स्रोत सहस्रदल चक्र स्थित, चंद्रमा का वर्णन अभी 'अनहद नाद' के प्रसंग में किया गया है महारस भी कहलाता है। योगियों के यहाँ इस अपूर्व रस का नाम 'अमर बारुणी' भी प्रसिद्ध है जो तांत्रिक अनुष्ठानों के अवसर पर प्रयोग में आने वाली वारुणी का स्मरण दिलाता है। वज्रयानी सिद्धों में इसके पान की प्रथा निषिद्ध नहीं थी, किंतु सिद्ध सरहपा ने इससे कहीं अधिक महत्त्व 'सहजरस' अथवा 'नैरात्म्य ज्ञान' को दिया था। वे वारुणी के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के 'रस रसायण' के संबंध में भी प्रायः एक ही प्रकार की विरुद्ध धारणा रखते थे। शैव योगियों में जो सोमवादी थे उन्होंने भी बाह्य रसायण को उमा एवं शिव के संयोग का प्रतीक ठहराया था, किंतु दूसरे लोगों ने महत्त्व नहीं दिया। गुरु गोरख नाथ का अधिक ध्यान उक्त, देहस्थ चंद्र से चूने वाले अमृत की ही ओर गया। योगियों का कहना था कि अमृत स्राव की उपलब्धि खेचरी मुद्रा के अभ्यास द्वारा की जा सकती है और इसकी सहायता से अजरामरत्व का लाभ उठाया जा सकता है। संत कबीर साहब ने भी इस अमृत

---

१. 'क० ग्रं०', पद १६६ पृ० १५४ २. वही, पद ३२८ पृ० १९६
३. वही, पद १७३, पृ० १४६
४. वही, पद ११५३, पृ० १३७-८ ५. 'आदि ग्रंथ', रागु आसा ३१

स्राव का वर्णन अपनी कतिपय पंक्तियों द्वारा किया है और बतलाया है कि इसका पान बिना किसी प्याले की सहायता से ही किया जा सकता है।

परंतु कबीर साहब की साधना का लक्ष्य नाथ पंथियों जैसा अपने शरीर को अजरामर बनाने की ओर नहीं था जिस कारण उन्होंने योगियों की साधना में अत्यंन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण चंद्रस्राव से लाभ उठाने का उपदेश नहीं दिया। अपनी रचनाओं द्वारा वे हमारा ध्यान अधिकतर 'हरि रस', 'रामरस' वा 'प्रेमरस' जैसे उस अपूर्व 'रसायण' की ओर आकृष्ट करते रहे जिसका आधार भक्ति रस था। उनका स्पष्ट कहना था कि उनके द्वारा निर्दिष्ट राम 'रसाइन' 'प्रेमरस' से अभिन्न है और वही पीते समय उन्हें अधिक स्वादिष्ट भी प्रतीत होता है। उस 'रामरस' के 'प्रेमरस' होने के ही कारण उसका पान करना सबके लिए सुलभ नहीं, क्योंकि इसमें प्राणों की बाजी तक लगानी पड़ जाती है। इसके लिए जब अपना सिर समर्पित किया जाता है तभी अपने उद्देश्य की सिद्धि हो पाती है और जब यह रस अपने भीतर भिन जाता है तो उसकी 'खुमारी' भी नहीं जाती।

राम रसाइन प्रेमरस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवरण दुलभ है, माँगै सीस कलाल ॥२॥
कबीर भाठी कलाल की बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ ॥३॥
हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूं न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥४॥[1]

इसी प्रकार के 'राम अमल' में माते हुए साधक को उन्होंने 'अविगतरत' एव 'जीवन्मुक्त' भी ठहराया है।[2] इस रामरस का पान कर चुकने वाले के विषय में उन्होंने बतलाया है कि इसका स्वाद एक बार पा लेने पर वह अन्य किसी भी रस को सदा के लिए भूल जाता है।[3]

परंतु इस 'अमृत' वा 'महारस' को 'प्रेम रस' के रूप में परिवर्तित कर देने पर भी कबीर साहब उक्त 'चंद्रस्राव' को पूर्णतः विस्मृत नहीं कर देते। जहाँ-जहाँ पर उन्होंने अपने 'रामनाम के रस' के तैयार करने की चर्चा की है वहाँ-वहाँ पर उन्होंने इसकी भावना को भी जीवित रखा है। अतएव, कभी-कभी उनके वर्णनों द्वारा भ्रम उत्पन्न हो जाने का भी अवसर आ जाता है। उनकी कुछ

---

१. 'क० ग्रं०', पृ० १६
२. वही, सा० ६, पृ० १७ ३. वही, पद ७९, पृ० १११

बातें स्पष्ट नहीं हो पातीं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनका लक्ष्य सदा नाम-स्मरण को ही महत्त्व देने का रहता है और इस प्रकार इनके 'महारस' तथा नाथ-पंथियो के 'अमृत' में महान् अंतर है।

(४) उन्मनि

'उन्मनि' के लिए योग साधना-संबंधी ग्रंथों में प्रायः 'मनोन्मनी' शब्द का भी प्रयोग किया गया है और वहाँ पर यह 'समाधि' का पर्यायवाची भी है। यह शब्द उस अवस्था की ओर निर्देश करता है जब मन एवं प्राण दोनों एक हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप मन में स्थिरता भी आ जाती है। मन को कभी-कभी ११वीं इंद्रिय भी कहा जाता है और इसे उनका राजा होना भी बतलाया गया है। अतएव, मन के ऊपर अपना शासन करने वाला साधक अपने सभी इंद्रियों को स्वभावतः अपने वश में कर लेता है। बौद्ध सिद्धों ने तो सविषय मन को ही जगत् की संज्ञा दी थी। इसी प्रकार, निर्विषय हो गए हुए मन को सहज दशा में पहुँचा हुआ और मुक्त ठहराया था। इस मन को निर्विषयी बनाने के लिए ही वे इसके 'संशोधन' अथवा 'मारण' की साधना किया करते थे जिसे कभी-कभी 'अमनसिकार' भी कहा जाता है। मन के महत्त्व को गुरु गोरखनाथ ने भी भलीभाँति समझा था और इसकी साधना की ओर पूरा ध्यान दिया था। 'गोरखबानी' (पृ० १६) की एक सबदी (५१) से पता चलता है कि यह अवस्था "प्राणों को नियंत्रित करके उन्हें अपने वश में लाने पर ही उपलब्ध होती है। उस समय ब्रह्मरंध्र में बिना सूर्य वा चंद्रमा के ही प्रकाश हो उठता है और अनहद नाद की तुरी भी बजने लग जाती है।" "कुंभक द्वारा वायुभक्षण करके नवों द्वारों को रोक देने तथा छठे-छमासे कायाकल्प भी करते रहने से 'उन्मनी योग' की सिद्धि हो जाती है" (स० ५२) सूर्य एवं चंद्र का मिलन भी तभी हो जाता है।

कबीर साहब ने भी 'उनमनी' का प्रयोग 'उनमनी ध्यान' के रूप में करके उसे समाधि की ही एक दशा की ओर संकेत किया है। ('उनमनी ध्यान घट भीतर पाया' (क० ग्रं०, पद १७, पृ० ६४) और इस स्थिति में आ जाने पर मग्न होकर 'रस' पीने की भी चर्चा की है (वही, पद ७२ पृ० ११०)। परंतु अन्यत्र (क० ग्रं०, पृ० २२४) उन्होंने संन्यासी को 'उन्मन' रहने वाला कहकर इस शब्द का विशेषण की भाँति भी प्रयोग कर दिया है। इसके सिवाय इन्होंने 'उनमन' अथवा 'उनमन्न' के ऐसे भी प्रयोग किये हैं जिनसे प्रतीत होता है ये उनके द्वारा परमतत्त्व की ओर संकेत कर रहे हैं। ('क० ग्रं०', सा० १५ एवं १६, पृ० १३ जिसका स्पष्टीकरण उसी के (पद २०३, पृ० १५८) से भी हो जाता है—'जब

मैं इनमन उनमन जांनां' आदि)। परंतु ऐसे स्थलों पर यह भी संभव है कि कबीर साहब ने परमात्मतत्त्व को केवल 'मन' की ही संज्ञा दी हो और उसके पहले 'उन' जोड़ दिया हो। ये कहते भी हैं कि "कहैं कबीर मन मनहि समानां, तब आगम निगम झूठ करि जानां" (क०ग्रं०, पद ३७, पृ० १००) और इसके पहले वाले एक पद (३३) में ये उस 'मन' को खोजने का भी उपदेश देते हैं जिसे सनक सनंदन जैदेव तथा शिव विरंचि आदि तक नहीं जान सके और जो 'अकल-निरंजन' भी है। कबीर साहब ने अपनी एक साखी द्वारा इस प्रकार भी कहा है

मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥६॥[1]

अर्थात् जब तक हम अपने मन को पूर्णतः समर्पित नहीं कर देते तब तक हमें उस मन की उपलब्धि नहीं हो पाती। हमारी निष्ठा 'उनमन' के प्रति वैसी ही होनी चाहिए जैसी उस अंडे की होती है जिसे अलल पक्षी आकाश में देता है, किंतु जिससे, उसके वहाँ से नीचे की ओर आते समय, बच्चा निकल कर फिर आकाश की ओर ही उड़कर चला जाता है। भाव यह कि हमारे मन को 'उनमन' के प्रति सदैव उन्मुख रहना चाहिए चाहे हम संसार के बीच जिस किसी काम में भी न लगे रहें।

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार, हमारी एक अपनी मनोवृत्ति ही 'उनमुनि रहनी' की हो जानी चाहिए। कबीर साहब के इस भाव को व्यक्त करने वाला एक पद उनके पूर्ववर्ती संत नामदेव की भी रचनाओं में आता है जिसमें अपने मित्र त्रिलोचन को संबोधित करते हुए वे कहते हैं—"हे त्रिलोचन, अपने नन्हें बच्चे को पालने में पौढ़ा कर कार्य में व्यस्त रहने वाली माता सब कुछ करती हुई भी अपना चित्त सदा उस बालक में ही लगाये रहती है, उसी प्रकार, हमारा मन रामनाम द्वारा सदा बिंधा रहना चाहिए।" कुछ ऐसे ही भाव व्यक्त करने वाले दो सलोक (दोहे) 'आदि ग्रंथ' में प्रश्नोत्तर के रूप में भी आये हैं जिनमें त्रिलोचन के पूछने पर कि "हे नामदेव, तुम धंधे में क्यों लगे हो, राम नाम की ओर अपना चित्त क्यों नहीं लगाते?" संत नामदेव ने बतलाया है, "हे त्रिलोचन, मुख द्वारा रामनाम का स्मरण करते रहो, किंतु हाथ-पैर को सदा काम में लगाये रहकर चित्त को निरंजन में लीन रखो"। कबीर साहब के नाम से प्रचलित "संतो, सहज समाधि भली" से आरंभ होने वाले एक प्रसिद्ध

---

१. 'क० ग्रं०', पृ० २८

पद की अंतिम पंक्तियों में कहा गया है कि 'सहज समाधि' एवं 'उन्मुनि रहनी' एक ही है—

> शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन वचन का त्यागी।
> ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
> कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट करि गई।
> सुख दुख के इक परे परम पद तेहि में रहा समाई॥

जान पड़ता है कबीर साहब ने कुछ ऐसे ही भाव को व्यक्त करने के लिए 'मन', 'उनमन', 'उन्मुनि' तथा 'उनमन्न' जैसे उपर्युक्त शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया है और 'मन' शब्द जहाँ परमतत्त्व का वाचक समझ पड़ता है वहाँ भी, कदाचित् वह वैसी स्थिति का ही बोधक है।

(५) खसम

'खसम' शब्द, संभवतः, सिद्ध साहित्य में ही सर्व प्रथम मिलता है और इसका अर्थ (ख=आकाश, शून्य+सम=समान) शून्यवत् है। कहते हैं कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी 'आकाशवत् सर्वगतश्च पूर्णः' जैसा, प्रयोग मिलता है, किंतु वहाँ 'खसम' शब्द नहीं है। सिद्धों ने 'खसम' शब्द का प्रयोग शून्यवत् व्यापक एवं अत्यंत उज्वल मन के लिए किया है जो उसकी शून्यावस्था अथवा सहजावस्था का बोधक है। मन की यह स्थिति उस समय होती है जब वह नितांत निर्विषय और निरवलंब हो जाता है। योगियों ने भी इस प्रकार के समाधिस्थ मन का वर्णन शून्योपम अथवा गगनोपम कह कर किया है और बतलाया है कि उस समय वह द्वैताद्वैतादि वा नित्यानित्यादि की दशा से परे रहा करता है। नाथपंथियों ने ऐसे 'गगनोपम' का विशेषण नाद स्वरूपी ब्रह्म को भी दिया था, किंतु, सिद्धों की भाँति, उन्होंने 'खसम' शब्द का प्रयोग नहीं किया। सिद्धों ने जहाँ पर शून्य स्वभाव का मानवीकरण किया है वहाँ वे 'खसम' शब्द को पतिवत् मानते हुए से भी प्रतीत होते हैं, किंतु ऐसा स्पष्ट नहीं है।

कबीर साहब ने 'खसम' शब्द का प्रयोग अधिकतर पति के ही लिए किया है और जान पड़ता है कि यह अरबी शब्द 'खसम' के कारण है। एक स्थल पर (पद १०२, पृ० १२१ क० ग्रं० में) उन्होंने संसारी जीव को उपदेश देते हुए बतलाया है कि तुम खसम=परमात्मा के प्रति उत्तरदायी बनो। इसी प्रकार अन्यत्र (आ० ग्रं०, गउडी ३३ में) भी वे कहते हैं कि वही परमात्मतत्त्व ही सब कुछ है, यदि वह नहीं चाहे तो अन्य कोई भी रक्षक नहीं हो सकता। वे एक अन्य पद (आ० ग्रं०, गउडी ७५) में यह भी कहते हैं कि

खसमहि जाणि खिमाकरि गहै ।
तौ होइ निरवऔ अखै पद लहै ॥

किंतु केवल इसी प्रकार के प्रयोग सर्वत्र करते हुए नहीं जान पड़ते । वे निम्न-लिखित पद में वे 'खसम' शब्द को जीव के लिए प्रयुक्त करते हुए दीख पड़ते हैं । जैसे,

भाई रे चूंन बिलूंटा खाई,
बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ।।टेक।।
सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जांनैं भेव ।
खसम निपूतौ आगणि सूतौ, रांड न देई लेव[1] ॥ इत्यादि

अर्थात् अरे भाई, मन विकृत हो गया और जीव इस बात को समझ नहीं पाया कि काया सबके लिए हानिकारक बन गई है । अज्ञानी जीव अचेत पड़ा रह गया और मनसा ने इतनी दुष्टता की कि उसके मन को लीन होने से रोक लिया ।

(६) गगन और शून्य

कबीर-साहित्य के अंतर्गत 'गगन' एवं 'शून्य' शब्दों के प्रयोग, इनके कई रूपों में और कई बार हुए हैं । 'शून्य' शब्द, 'विष्णु सहस्र नाम' के अनुसार भगवान् के नामों में से एक है और स्वामी शंकराचार्य ने इसका कारण उनका "सर्वविशेष राहित्यात् शून्यवत् शून्यम्" बतलाया है । कहते हैं कि उनके गुरु स्वामी गौडपादाचार्य ने भी अपनी 'माण्डूक्योपनिषद' की प्रसिद्ध कारिकाओं में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है । वेदांत दर्शन के अनुसार यह शब्द 'निखिल सत्ता' का भी बोधक माना जा सकता है और यह कदाचित्, उस तत्त्व के अनिर्वचनीय होने के ही कारण है । बौद्धों की विचारधारा में इस शब्द को अधिक महत्त्व उस समय से मिलने लगा जब से नागार्जुन के शून्यवाद का प्रचार हुआ । शून्यवाद के आधार पर जो इस शब्द की परिभाषा बतलायी गई वह भी तत्त्वतः, इसके शून्य तत्त्व के अनिर्वचनीय होने की ओर ही, संकेत करता है । नागार्जुन का कहना था कि शून्य को न तो 'शून्य' कह सकते हैं और न उसे 'अशून्य' कह सकते हैं । इसी प्रकार, उसे 'शून्याशून्य' अथवा 'न शून्य' और 'न अशून्य' भी कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह इन चारों से विलक्षण है । फिर भी विज्ञानवाद ने इसे क्रमशः परमार्थ सत्ता का भी रूप प्रदान करने की चेष्टा की, यद्यपि उसके अनुसार की गई हुई इसकी व्याख्या भी उतनी स्पष्ट और

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ८१, पृ० ११२

सुनिश्चित नहीं थी। वज्रयानी सिद्धों ने पीछे इसी तत्त्व को 'महासुख' की भी संज्ञा दे दी और यह एक प्रकार की केवलावस्था का भी द्योतक मान लिया गया।

योगियों तथा नाथपंथियों के यहाँ इस शब्द के अर्थ में और भी अधिक विकास हुआ। यह न केवल देशकालातीत ब्रह्म वाचक समझा गया, प्रत्युत इसके द्वारा उस विचित्र स्थान विशेष को भी सूचित किया जाने लगा जिसे 'ब्रह्मरंध्र' कहा जाता है। 'हठयोग प्रदीपिका' के देखने से तो यहाँ तक पता चलता है कि यह वहाँ पर कभी सुषुम्ना नाड़ी तथा कभी अनाहत चक्र के पर्याय सा भी मान लिया जाता था। गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने इसके साथ 'नाद' तत्त्व का भी समावेश कर दिया जो उनकी प्रसिद्ध सबदी

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै, ताका नाँव धरहुगे कैसा ॥१॥[1]

द्वारा प्रकट होता है और इसके द्वारा पीछे नाद से सृष्टि के आविर्भावादि पर भी विचार किया जाने लगा। वास्तव में शून्य ही इनके यहाँ आकर सभी कुछ दीख पड़ने लगा और गुरु गोरखनाथ ने यहाँ तक कह दिया,

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर॥२३१॥

तथा "गगन मंडल मैं सुनि द्वार" (स० १७६) कहकर इसका स्थान भी निर्दिष्ट कर दिया। उन्होंने "अरध-उरध विचि धरी उठाई, मधि सुनि मैं बैठा जाई" (स० ७८) कहकर बतलाया कि "श्वासोच्छ्वास के बीच, 'केवल कुंभक' की क्रिया द्वारा, उस द्वार तक पहुँचा जा सकता है और, चंद्र एवं सूर्य का मिलन होते ही, वहाँ पर अमृत का निर्झर भी झरने लग जाता है (स० ५५)। इसप्रकार नाथ-पंथियों के अनुसार शून्य का महत्त्व और भी अधिक बढ़ता हुआ जान पड़ा और उसका संबंध 'गगन' के साथ भी स्पष्ट हो गया। 'गगन' शरीर के भीतर का वह आकाशवत् अंतराल बन गया जिसमें ज्योतिर्मय तत्त्व का प्रकाश दीख पड़ता है और जहाँ से 'अनहद' की ध्वनि भी सुन पड़ती है।

कबीर साहब की रचनाओं में हमें 'शून्य' एवं 'गगन' प्रायः एक दूसरे के पर्याय से लगते हैं और उन्हें नाथपंथियों वाले अर्थ भी दिये गए हैं, यद्यपि 'शून्य' अधिकतर परमतत्त्व की ओर संकेत करता प्रतीत होता है और 'गगन' किसी अपूर्व स्थान विशेष का सूचक सा लगता है। कबीर साहब ने अपने एक

---

१. 'गोरख बानी', पृ० १　२. वही, पृ० ७३

पद (क० ग्रं०, पद १५०, पृ० १३७) में जहाँ 'विवेक प्रलय' जैसा वर्णन किया है वहाँ बतलाया है—"जिस प्रकार स्वर्ण के अनेक भूषण गलाये जाकर फिर स्वर्ण रूप धारण कर लेते हैं और जैसे नदी के तरंग में मिलकर जल उसके साथ एकाकार हो जाता है उसी प्रकार पंचतत्त्व भी कर दूसरे में मिलते चले जायँगे और लोक एवं वेद दोनों से ही पृथक् जाकर, हम शून्य में लीन हो जायँगे—हंस हंस में मिल जायगा।" परंतु जहाँ-जहाँ पर उस तत्त्व का ज्योति के रूप में वे वर्णन करते हैं वहाँ-वहाँ पर वे 'गगन' का प्रयोग अकेले न करके उसके आगे 'जोति' भी लगा देते हैं जिससे 'गगन के भीतर अनुभव में आने वाली जोति' का भाव स्पष्ट है। (क० ग्रं० पद २०२ पृ० १५७ और पद ३२५ पृ० १९८)। फिर भी वे जिस प्रकार 'गगन मंडल' शब्द का प्रयोग 'गगन मंडल आसण किया' (क० ग्रं०, सा० ३, पृ० १७६) तथा 'गगन मंडल घर कीजै' (वही, पद ७०, पृ० ११०) आदि में करते हैं उसी प्रकार वे 'शून्यमंडल' का भी प्रयोग 'सुनिमंडल मैं घर किया' (वही, पद १५४, पृ० १३८) तथा 'सुनि मंडल मैं धरौ धियान' (वही, पद ३२६, पृ० १९८) आदि में करते दीख पड़ते हैं जिनमें ये दोनों शब्द पर्यायवाची से बन जाते हैं। इसके सिवाय 'आदि ग्रंथ' में जहाँ वे (आसा, १८ के अंतर्गत) गगन को एक 'नगरी' के रूप में व्यवहृत करते हैं वहाँ 'शून्य' को वे (क० ग्रं०, सा० ८, पृ० १३ में) 'सुन्नि सिषर गढ़' बतलाते हैं और फिर उसी पृष्ठ पर 'सुन्नि' में स्नान करने का भी उल्लेख करते हैं (दे० सा० ११) और इसी बात को पीछे (सा० ३२, पृ० १५ में) में भी दुहरा देते हैं।

कबीर साहब ने 'सहज शून्य' के रूप में भी शून्य को आदितत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त किया और कहा—

> सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ।
> कहि कबीर हउ ताका सेवक, जिनि यहु बिरवा देखिआ[1]।

जिससे प्रकट होता है कि उन्होंने इसे एक अपूर्व तरुवर का रूपक देकर समझाया; किंतु फिर उन्होंने इसे ही अन्यत्र (क० ग्रं०, सा० ३, पृ० १८ में) 'गंगा एवं यमुना का मध्यवर्त्ती लय का घाट' भी कहा और उसे इस प्रकार किसी ऐसे 'मठ' की ओर संकेत किया जो उनके लिए 'चौथा पद' था। यह 'सहज सुंनि' वही परम तत्त्व अथवा ब्रह्म का पद था जो 'गगन मंडल' अर्थात् सहस्रार स्थित ब्रह्मरंध्र में वर्तमान है और जिसके प्रति 'नेहरा' वा भावभगति का भी वे वर्णन करते हैं—

---

1. 'संत कबीर', पृ० १८१

'सहज सुंनि को नेहरौ, गगन मंडल सिरिमौर ।'[1]

फिर भी जान पड़ता है कि लोगों ने जब इस 'शून्य' के महत्त्व का दुरुपयोग करना आरंभ किया और इसे देव लोक जैसा समझा जाने लगा तो इसके प्रति वैसी श्रद्धा नहीं रह गई और केवल 'शून्य' की भक्ति की निःसारता दिखलाने के लिए 'कबीर बीजक' में कहा गया

मनमथ मरै न जीवई, जीवहिं मरन न होय ।
सुन्य सनेही राम बिनु, चलै अपनपौ खोय ।।

(७) नाद और विंदु

नाद एवं विंदु की कल्पना, योगियों द्वारा सृष्टि का मूलतत्त्व ठहराने के संबंध में, बहुत पहले से होती आई है । 'नाद', शब्द का पर्याय होने के कारण, वह तत्त्व है जिसके द्वारा अव्यक्त व्यक्त के रूप में आया और सृष्टि का क्रम आगे बढ़ा । वही नाद मानव शरीर के भीतर भी व्यष्टि रूप में वर्तमान है और योगी को उसकी अनुभूति, अपनी साधना के पूर्ण हो जाने पर, हुआ करती है । इस नाद से ही ज्योति का भी आविर्भाव होता है । यह नाद हमारे भीतर परमात्मतत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और इसे 'शिव' का नाम भी दिया जाता है । इसके विपरीत 'विंदु' उस 'शक्ति' का परिचायक शब्द है जिसके शिव के साथ मिलन को प्रत्येक साधक अपना अभीष्ट समझा करता है । इस 'विंदु' को योगियों ने कभी कभी जीवतत्त्व भी कहा है और अन्यत्र उसे जीवशक्ति के रूप में 'वीर्य' का भी पर्याय माना है । 'विंदु' की साधना, इसी कारण, ब्रह्मचर्य की साधना का भी एक दूसरा नाम है और योगियों ने इसे बहुत महत्त्व प्रदान किया है । वज्रयानी बौद्ध सिद्धों ने इस प्रकार की साधना को उपेक्षा की दृष्टि से देखा था और इसे एक दूसरे ढंग से अपनाया था । परंतु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने अपने कायासाधन की दृष्टि से इसे फिर पूरा महत्त्व दिया और इसकी साधना उनके यहाँ अनिवार्य समझी गई । गुरु गोरखनाथ ने नाद में लय पाने की सिद्धि के विषय में कहा है कि वह किसी विरले को ही प्राप्त हो पाती है, किंतु जो इसे साध लेता है वह 'सिद्ध' भी हो जाता है ।

नाद नाद सब कोइ कहै । नादहिं ले को बिरला रहै ।
नाद बिंद है फीकी सिला । जिहिं साध्या ते सिधैं मिला ।।१८१।।[2]

---

१. 'क० ग्रं०', पद १८, पृ० ६४ २. 'गो० बा०', पृ० ६१

इसी प्रकार उन्होंने विंदु की साधना के संबंध में भी कहा है और इसमें भी किसी विरले का ही सफल होना माना है। वे ऐसी साधनाओं के समय किसी आध्यात्मिक अनुभूति का भी होना आवश्यक मानते हैं और कहते हैं कि उसके बिना स्थिरता नहीं आ सकती; जैसे,

ब्यंद ब्यंद सबकोइ कहै। महा ब्यंद कोइ बिरला लहै।
इह ब्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देखो कंध ॥२३७॥[1]

'महाविंदु, को उन्होंने यहाँ पर ब्रह्मतत्त्व ही मान लिया है (जैसे, अन्यत्र पद ५, पृ० १०० में भी ये "सक्ति रूपी रज आछै, सिव रूपी व्यंद" कहते हैं।)

कबीर साहब ने 'विंदु' को उत्पत्ति का मूल कारण माना है (दे० क० ग्रं०, पद ४१, पृ० १०१, पद ५७, पृ० १०६ तथा पद २४०, पृ० १६६) और एक अन्य पद (३३० पृ० २००) की एक पंक्ति द्वारा बतलाया है वह 'काजी' जरामरण से मुक्त हो जाता है जो 'विंदु' का क्षरण स्वप्न में भी नहीं होने देता। इसी प्रकार नाद एवं विंदु दोनों का ही एक साथ प्रयोग करते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा है जिससे समझ पड़ता है कि वे इन्हें, कदाचित् सृष्टि का उपादान मानते थे। जैसे—

नाद नांही ब्यंद नांही, काल नहीं काया।
जब तैं जल ब्यंब न होते, तब तूंहीं रांम राया ॥[2]

तथा, जहां नाद न ब्यंद दिवस नहीं,
राती नहीं नर नगर नहीं कुल जाती।
कहै कबीर सरब सुखदाता, अविगत, अलख, अभेद बिधाता ॥[3]

परंतु इसके साथ ही वे, नाथपंथी योगियों की भाँति, नाद एवं विंदु के मिलन की साधना का भी वर्णन करते थे। उनका कहना था कि जब नाद में विंदु का लय हो जाता है तभी गगन के अंतराल में अनहद की ध्वनि सुन पड़ने लगती है। इसे बिना अनुभव किये व्यर्थ भटकते रहना ठीक नहीं।

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहिं देखै नेड़ा, ढूंढत बनबन डोलै ॥[4]

उनकी धारणा है कि चाहे नाद में विंदु का जाना कहो चाहे विंदु का नाद में

---

१. 'गो० बा०', पृ० १७
२. 'क० ग्रं०', पद २१९ पृ० १६२
३. वही, पद २१७, पृ० १८९
४. वही, पद १६६, पृ० १२४

लय होना बतलाओ; यह निश्चय है कि इन दोनों के सम्मिलन द्वारा ही हमें परमात्म तत्त्व की अनुभूति होती है; जैसे

नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिले गोब्यंद[1]।

नाथपंथी योगियों तथा कबीर साहब के दृष्टिकोणों में केवल यही अंतर प्रतीत होता है कि पहले जहाँ ज्ञान की ओर अधिक झुकते है वहाँ दूसरे का आदर्श भक्तियोग है।

(८) निरंजन

'निरंजन' शब्द भारतीय दार्शनिक एवं योगपरक साहित्यों में अनेक बार आया है और इसका प्रयोग यहाँ के भक्ति-साहित्य में भी होता रहा है। इसका शब्दार्थ 'अंजनरहित' है, किंतु अंजन क्या है इस विशेष प्रश्न का उत्तर सब कहीं एक ही समान दिया गया नहीं जान पड़ता। 'निरंजन' शब्द जहां निर्गुण ब्रह्म का वाचक है वहाँ तो यह सभी प्रकार के गुणादि से परे का अर्थ बतलाता है और किसी पहुँचे हुए महापुरुष को भी उसी के अनुसार 'मायारहित' ठहराता है। किंतु कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग एक रूढ़ि वाचक संज्ञा की भाँति भी होता रहा है और वहाँ पर यह किसी विशेष वर्ग वा संप्रदाय के लोगों का इष्टदेव भी समझा जाता आया है। राजस्थान तथा उड़ीसा में भी इस नाम के आधार पर स्थापित निरंजनी संप्रदाय चलते रहे हैं जो 'निरंजन' को अपना आराध्य मानते तथा उसकी उपासना करते आए हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' जैसे योग-संबंधी ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग अधिकतर शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त ब्रह्म के लिए हुआ है, यद्यपि यह कभी-कभी विशेषण सा भी प्रयोग में आया है। सिद्धों के साहित्य में इसके प्रयोग पर उनके शून्य संबंधी धारणाओं का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। बंगाल में किसी समय प्रचलित धर्म संप्रदाय के अंतर्गत यह धर्मराज का ही एक अन्य नाम सा लगता था और उस देवता के संबंध में अनेक विचित्र कथाएँ भी प्रचलित थीं। नाथपंथी योगियों के यहाँ यह 'ज्ञान निरंजन' का वाचक था जिस कारण उनकी सिद्धि का होना इस तत्त्व के साक्षात्कार पर निर्भर समझा जाता था और वे स्वयं भी निरंजन हो जाते थे। (शिवसंहिता १-६८ ताथा २-४८) फलतः 'निरंजन भी नाथपद का ही एक पर्याय बन गया था। गुरु गोरखनाथ ने निरंजन को "सर्व व्यापीक सुषमन अस्थूल" (गो० बा०, सबदी १११, पृ० ३९) बतलाया है और उसे "पिता बोलिये निरंजन निराकार" (वही, स० २०२, पृ० ६७) तथा "सुंनि निरंजन

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ३२९, पृ० १९८

आपै आप" (वही, स० २३१, पृ० ७३) भी कहा है। किंतु अपने एक पद की अंतिम पंक्ति में वे यह भी बतला देना चाहते हैं कि

मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि नैं थानं ॥१६॥

अर्थात् इस पद के अंतर्गत मैंने अपने गुरु मत्स्येंद्र नाथ की कृपा से 'निरंजन सिद्धि' के स्थान की चर्चा की है।

इस प्रकार 'निरंजन' शब्द नाथपंथी योगियों के यहाँ ब्रह्मरंध्र तथा ब्रह्मरंध्र में अवस्थित नाद स्वरूपी निर्गुण ब्रह्म का भी बोधक समझा जाने लगा था। कहा जाता है कि इसका एक प्रयोग पाशुपत नामक शैव संप्रदाय की दार्शनिक शब्दावली में होता था जहाँ पर यह 'मायाविशिष्ट अशरीरी जीव' का बोधक था। किंतु पीछे उस संप्रदाय की ही एक शाखा ने इस शब्द का प्रयोग क्रमशः, माया अथवा अज्ञान के सूचक किसी अलौकिक व्यक्ति के लिए भी, करना आरंभ कर दिया। प्रसिद्ध है कि इस शाखा के अनुयायियों का अधिक प्रचार महाराष्ट्र देश की ओर अधिक था और इसने उधर के प्रचलित कबीरपंथ को भी बहुत प्रभावित किया।

फिर भी स्वयं कबीर साहब के समय तक उपर्युक्त संप्रदाय के किसी ऐसे प्रभाव का पता नहीं चलता। इनकी उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओं में इसका कोई संकेत नहीं है। कबीर साहब ने 'निरंजन' शब्द का व्यवहार करते हुए प्रायः नाथपंथ एवं भारतीय दार्शनिक साहित्य का ही अनुसरण किया है। उन्होंने 'निरंजन' को 'राम' की ही भाँति अथवा उसी के रूप में अपने ध्यान का लक्ष्य बनाने का उपदेश दिया है (आ० ग्रं०, गउडी १८) तथा यह भी बतलाया है कि 'महारस' की अनुभूति के लिए निरंजन को जानकर उन्हें अपने चित्त में ला रखना भी आवश्यक है (आ० ग्रं०, गउडी १२७)। 'निरंजन' को 'राम' का ही एक अन्य नाम बतलाते हुए कबीर साहब ने उस नाम की सार्थकता की ओर भी संकेत किया है और कहा है कि जो कुछ हमें इस दृश्यमान जगत् में दीखता है वह सभी अंजन है और निरंजन इससे न्यारा है। वे कहते हैं कि ॐकार से लेकर सारी सृष्टि, ब्रह्मादि देवता, वेद, पुराण, भक्तिभाव, दान-पुण्य एवं तीर्थादि सभी इस अंजन के अंतर्गत आते हैं (क० ग्रं०, पद ३३६, पृ० २०१) उन्होंने निरंजन को ही एकमात्र 'सार' तत्त्व भी ठहराया है और उसी को जानकर विचार करने का परामर्श दिया है। (वही, पद ३३७, पृ० २०२)। उनके अनुसार

१. 'गो० बा०', पृ० १११

इस 'अंजन' शब्द का वास्तविक अभिप्राय 'माया' अथवा सांसारिक विषयादि से जान पड़ता है, क्योंकि वे

'अंजन मांहि निरंजन रहियै, बहुरि न भवजल पाया।

भी कहते हैं जिससे अनासक्त जीवन का बोध होता है।

कबीर साहब ने 'निरंजन' शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के लिए करते समय उसके निर्गुण एवं निराकार होने की ओर भी ध्यान दिलाया है। वे कहते हैं—

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया॥

और इसके आगे यह भी सूचित करते हैं कि वह अनादि एवं अनिर्वचनीय भी है (क० ग्रं०, पद २१६, पृ० १६२)। वे इस निरंजन को ही उस 'अलह' का भी सूचक ठहराते हैं जो हिंदू एवं मुस्लिम दोनों के ही धर्मों के लिए एक विलक्षण तत्त्व है और जो, वस्तुतः, स्वयं उनका भी उपास्य है(वही, पद ३३८, पृ० २०२)। उनका कहना है कि जब मेरा मन 'उनमन्न' अर्थात् परमतत्त्व में लग गया तो मैंने उस 'निरंजन राइ' को बिना चंद्रमा के ही छिटकी हुई चाँदनी में, प्रत्यक्ष किया (वही, सा० १५, पृ० १३) यहाँ पर उस निरंजन को इन्होंने 'अलख' भी कहा है जिसकी पूरी व्याख्या इनकी 'बड़ी अष्टपदी रमैणी' के अंतर्गत दी हुई मिलती है। ('क० ग्रं०', पृ० २३०)। 'निरंजन' शब्द का प्रयोग वे एक स्थल पर 'अलह' के विशेषण के रूप में भी करते हुए, दीख पड़ते हैं (क० ग्रं०, पद ३२७, पृ० १६६)। अन्यत्र, इसी प्रकार, वे इसे 'राम' के लिए प्रयुक्त करते हैं (वही, पद ३४५, पृ० २०४) और ऐसा लगता है कि वे दोनों शब्द भी, वस्तुतः, उनके आराध्य परमतत्त्व के ही वाचक हैं।

परंतु कबीर साहब द्वारा किया गया इस शब्द का सबसे अधिक मनोंरंजक प्रयोग वहाँ पर हुआ है जहाँ उन्होंने इसे 'मन' का विशेषण माना है। उस 'मन' के विषय में उनका कहना है कि "उसे सनक सनंदन, जयदेव तथा नामदेव जैसे बड़े-बड़े भक्त तक नहीं जान पाये, उसकी 'गति' का परिचय शिव, विरंचि तथा नारद जैसे ज्ञानियों तक को नहीं प्राप्त हो सका और न इस शरीर के भीतर उस 'मन' का अनुभव ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण अथवा शेष तक भी कर पाये। उसका भेद कुछ थोड़े से अंशों में केवल शुकदेव मुनि को मिला था और उसमें लीन होकर गुरु गोरखनाथ, भर्तृहरि तथा गोपीचंद आनंदित रहा करते हैं।

१. 'आ० ग्रं०', गउडी ४६

वह 'मन' सारे शरीर में अखंड रूप से व्याप्त है और वह निरंजन अर्थात् माया रहित भी है जिस कारण कबीर भी उसमें ही लीन हो रहा है।" (क० ग्रं०, पद ३३, पृ० ६६)। इसमें संदेह नहीं कि यह मनस्तत्त्व भी, वास्तव में, उस परमतत्त्व का ही बोधक है और उसकी उपलब्धि, अपने इस मन को उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर देने पर ही, संभव है (क० ग्रं०, सा० ६, पृ० २८) जिसकी चर्चा उन्होंने अनेक स्थलों पर अन्य प्रकार से भी की है। कबीर साहब ने, इसी प्रकार, 'निरंजन' शब्द को सच्चे 'राम नाम' रूपी 'सबद' का भी विशेषण माना है और बतलाया है कि इस कच्चे शरीर के लिए वही सबसे बड़ा आधार है। (क० ग्रं०, पद १४२, पृ० १३४)

(६) सहज

'सहज' भी एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग न केवल योग साहित्य एवं सिद्धों के साहित्य में हुआ है, अपितु इसके आधार पर संप्रदाय भी चल पड़े हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह शब्द चीनी भाषा के 'ताओ' का सस्कृत रूपांतर है और ताओ चीन देश के एक प्रसिद्ध संप्रदाय को सूचित करता है। चीन के ताओ धर्म (Taoism) के प्रमुख प्रचारक लाओत्से नाम के एक महा पुरुष थे जो लगभग महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। कहते हैं कि ईसा की सातवीं शताब्दी के आसपास असम के किसी राजा ने इस धर्म के एकाध ग्रंथों का चीनी से संस्कृत अनुवाद कराया था। यह भी प्रसिद्ध है कि भारतवर्ष के मद्रास प्रांत की ओर कई भग अथवा भोग नाम का एक इस धर्म का अनुयायी भी कभी आया था जिसने उधर अपना प्रभाव डाला। 'ताओ' शब्द की व्याख्या साधारणतः 'स्वाभाविक प्रवृत्ति मूलक मार्ग' के रूप में की जाती है जो सिद्धों की सहज विषयक धारणा के भी अनुकूल है। परंतु इस बात के लिए कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर 'सहज' शब्द को केवल ताओ द्वारा ही प्रभावित मान लिया जाय। कुछ लोगों ने हिंदुओं के प्रसिद्ध ग्रंथ 'विष्णु पुराण' के अंतर्गत भी 'सहज' शब्द का लगभग इसी रूप में अस्तित्व पाया है और वह लगभग ४०० ई० की रचना है ऐतिहासिक तथ्य जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि यह शब्द कम से कम सिद्धों के समय से बहुत अधिक प्रचलित रहा है और उन्होंने इस पर बहुत लिखा भो है। सिद्धों ने इसका प्रयोग स्वाभाविकता के अर्थ में ही न करके इसके आधार एक प्रकार की साधना का भी नामकरण किया है।

कुछ लोगों का अनुमान है कि स्वाभाविक आचरण में अर्थ के इस शब्द

से मिलता-जुलता कोई प्रयोग 'अथर्व वेद' में भी मिलता है जहाँ पर व्रात्यों की चर्चा की गई है और जहाँ उन्हें विधि-निषेधों की अधिक परवा न करने वालों के रूप में चित्रित किया गया है। बौद्ध सिद्धों एवं शैव योगियों ने इसका प्रयोग न केवल किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अर्थ में किया, अपितु उन्होंने इसका आशय किसी एक ऐसी साधना में भी लिया जिसमें क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय तथा शिव एवं शक्ति के सम्मिलन की कल्पना की जाती है। इसके सिवाय सिद्धों ने जहाँ 'सहज तत्त्व' में शून्य की धारणा को भी प्रश्रय दिया वहाँ नाथपंथी योगियों ने उसमें सहज ज्ञान का भी अस्तित्व माना। सिद्धों के लिए 'सहज तत्त्व' भाव तथा अभाव दोनों से परे हैं और सरहपा के अनुसार उसकी स्थिति का महत्त्व निर्वाण से भी अधिक है।

'सहज छड्डि जे णिव्वाण भाविउ।
णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ॥'[1]

सहज की स्थिति में उनके अनुसार 'समरसता' की स्थिति का भी आ जाना अनिवार्य है जो 'महासुख' की उपलब्धि के समान है। इस सहज की प्राप्ति के विषय में गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि "जहाँ सूर्य एवं चंद्र के उदय लिये बिना ही ब्रह्म ज्योति का प्रकाश हो जाता है वहाँ की स्थिति में सहज ज्ञान का आनन्द मिलता है।"

जिहि घर चंद सूर नहि ऊगै, तिहिं घरि होसि उजियारा।
तिहां जे आसण पूरौ तौ,सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनीं॥[2]

कबीर साहब ने 'सहज' शब्द तथा इसके आधार पर बने हुए अनेक शब्दों के प्रयोग में यथास्थल सिद्धों एवं नाथपंथियों दोनों का अनुसरण किया है, किंतु, अपनी रचनाओं में, वे किसी भी स्थल पर अपनी निजी धारणाओं के प्रतिकूल नहीं गये हैं। सिद्धों के शून्यवत् सहज तत्त्व को यद्यपि उन्होंने नाथ-पंथियों के समान किसी अनिर्वचनीय निर्गुण तत्त्व के समान ही स्वीकार किया है फिर भी अपनी सहज साधना में उन्होंने ज्ञान से कहीं अधिक भक्ति का ही पुट दिया है और इस प्रकार इस तत्त्व को किसी अपूर्व रहनी में भी ढालकर उसे अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध कर दिया है। यहाँ पर, इस संबंध में, एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि 'सहज' को लगभग स्पष्ट ही उन्होंने उसके मौलिक

---

१. सरहपाद का दोहाकोष २. 'गो० बा०', पृ० ६०

अर्थ 'स्वाभाविक' में ही लिया है और, उसी के अनुसार, जहाँ-जहाँ पर उन्होंने 'सहजि' वा 'सहजै' का प्रयोग किया है वहाँ-वहाँ पर उनका अर्थ 'स्वभावतः' करना ही अधिक युक्ति-संगत होगा। इस शब्द का पारिभाषिक रूप में प्रयोग करते समय भी वे इस बात को, कदाचित्, कहीं भी नहीं भूल सके हैं।

'सहज' को सहजतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व के लिए प्रयोग करते समय कबीर साहब उसके 'ज्ञान' को पूरा महत्त्व देते जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि "आत्म विचार आरंभ करने के पहले सहज के ज्ञान का प्राप्त कर लेना आवश्यक है" (क० ग्रं० पद २५, पृ० ९६) "ऐसे योगी विरले ही मिलेंगे जिन्हें सहज तत्त्व का 'निरंतर' ज्ञान हो" (वही, पद १६३, पृ० ४२) तथा "कबीर सहजतत्त्व को समझकर ही राम का भजन करता है" (वही, पद ११५ पृ० १२५) वे 'सहज धुनि' (सहजध्वनि) के रूप में इसे अनहद का समानार्थक समझते हैं (वही, पद १५५, पृ० १३८) और 'सहजवेलि' शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते हैं जैसे वे इसके द्वारा मायातत्त्व और उसके विविध व्यापारों की चर्चा कर रहे हों (वही, पद १६३, पृ० १४२) 'सहज' के साथ 'रूप' को भी जोड़कर उन्होंने 'हरि' नामक परमतत्त्व का एक सुंदर विशेषण दे दिया है (वही, पद ६, पृ० ६०)। कबीर साहब ने 'सहज समाधि' शब्द का व्यवहार अनेक स्थलों पर किया है और उसे न केवल एक साधना मात्र के ही रूप में दिखलाया है (वही, पद १५०, पृ० १३७ तथा पद १६६, पृ० १४३), अपितु उसके द्वारा सुखपूर्वक रहने (वही, पद ६ पृ० ८६) तथा परमपद में रम कर सो जाने का भी उल्लेख किया है (वही, पद ४, पृ० ८८) उन्होंने 'सहज' की स्थिति का परिचय देते हुए बतलाया है कि उस दशा में हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियाँ उसका अनुभव करती रहती हैं (वही, सा० २, पृ० ४२)। वह स्थिति 'सहजसुख' की भी दशा बतलायी गई है (वही, पद १५ पृ० ६३ तथा पद १५५ पृ० १३८)। इस सुख की प्राप्ति के लिए जिस पद विशेष में लीन होने की चर्चा है उसे 'सहजसुनि' (सहजशून्य) का नाम दिया गया जान पड़ता है। उसकी ओर पद ६६ (पृ० १०६) में संकेत किया गया है तथा उसकी वास्तविक स्थिति 'गंगा जमुना' के मध्यवर्ती स्थान में (वही, सा० ३ पृ० १८) तथा 'गगन मंडल' के शीर्षस्थान पर निर्दिष्ट किया गया है (वही, पद १८ पृ० ६४)।

कबीर साहब ने इस 'सहज' शब्द का प्रयोग करते समय इसे किसी वस्तु के स्वभावगत गुणदोष का भी समानार्थक माना है। वे एक स्थल पर कहते हैं—

अमिरत लैलै नीम सिचाई। कहत कबीर वाको सहज न जाई ॥[1]

वे 'सहज' के साथ 'भाइ' (भाव) को जोड़कर उसे ('स्वभावतः') के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं (वही, पद ३००, पृ० १६० तथा पद ३७७, पृ० २१३) और इसी प्रकार, इसके साथ 'सील' (शील) शब्द को लगाकर एक 'सहजसील' शब्द भी बना लेते हैं जो उसके 'मत' का 'सार' निर्धारित करता है (वही, सा० २, पृ० ६३)। अतएव, कबीर साहब की साधना को भी 'सहजयोग' कहा जा सकता है जिसके द्वारा वे 'राम नाम सहजैं ल्यौ लाई' सिद्ध कर लेते हैं।

(१०) सुरति और निरति

'सुरति' और 'निरति' दो ऐसे शब्द हैं जिनका महत्त्व संत-साहित्य के अंतर्गत बहुत बढ़ गया है, किंतु जिनका पुराने साहित्य में पता नहीं चलता। दोनों का एक साथ प्रयोग नाथ-साहित्य में पहले पहल दीख पड़ता है और केवल 'सुरति' की ओर कुछ संकेत सिद्ध साहित्य में भी उपलब्ध है। 'सुरति' और 'निरति' इन दोनों की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद जान पड़ता है और यह अधिकतर कुछ पंक्तियों के अर्थ में भ्रम हो जाने के कारण है। 'सुरति' को कुछ लोगों ने 'स्रोत' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप समझा है और वे कहते हैं कि 'स्रोत' शब्द यहाँ पर 'चित्त प्रवाह' का द्योतक है। किंतु आश्चर्य की बात है कि इस निश्चित अर्थ में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द कहीं देखने में नही आता। 'सुरति' के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति का बोधक शब्द है और इस अभिप्राय के प्रयोग बहुत से मिल भी सकते हैं किंतु इसके संबंध में कोई नाथों वा सिद्धों की पारिभाषिक परंपरा नहीं दीखती। स्वयं कबीर साहब ने ही, इस शब्द का प्रयोग, एकाध स्थलों पर इस रूप में किया है जैसा उनके पद ८२ (पृ० ११४) तथा पद ३६० (पृ० २१७) से जान पड़ता है। ऐसे प्रयोग साधारण हैं जिनमें किसी प्रकार की पारिभाषिकता के ढूँढने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कबीर साहब ने 'सुरति' के प्रयोग, इसी प्रकार, श्रुति अर्थात् वेदों के लिए भी किया है जैसा कि उनके पद ४७ (पृ० १०३) तथा पद ५३ (आ० ग्रं० गउड़ी) से भी प्रकट है। वहाँ पर उन्होंने इस शब्द के साथ 'सुमृति' का भी प्रयोग किया है जो 'स्मृति' अर्थात् स्मृतिग्रंथों का सूचक है। इस शब्द से मिलते जुलते एक दूसरे शब्द 'सूरति' का भी उन्होंने प्रयोग किया है जो 'आकार' का परिचायक है (क० ग्रं०, पद ६३, पृ० १०८) और ठीक 'सुरति' के ही रूप में

1. 'आ० ग्रं०', आसा २०

इसका प्रयोग अन्यत्र 'सौंदर्य' के लिए किया है जिस के उदाहरण उसी ग्रंथ के पद ४२ (पृ० १०२) तथा पद ४६ (पृ० १०३) में देखे जा सकते हैं। ऐसे स्थलों पर यह शब्द पारिभाषिक नहीं है जिस कारण इसका अर्थ समझ लेने में कोई अड़चन नहीं दीख पड़ती।

जब हम कबीर साहब द्वारा प्रयुक्त अनेक 'सुरति' अथवा 'सुरति' और 'निरति' दोनों को एक साथ, पारिभाषिक रूपों में, पाते हैं तो कठिनाई बढ़ती है। हम इसके लिए पहले उस सिद्ध-साहित्य को लेते हैं जिसके बहुत से शब्द ढलकर संत-साहित्य में आये हैं, किंतु वहाँ भी भ्रम बना ही रह जाता है। सरहपा ने 'सुरति' जैसा मिलता जुलता एक शब्द अपने 'सुरअविलास' में रखा है जिसका अभिप्राय सुरत अथवा रति = प्रेम की क्रीड़ा हो सकता है। इसी प्रकार सिद्ध कण्हपा ने भी अपने 'सुरअबीर' में सुरत = प्रेम के ही वाचक शब्द का व्यवहार किया है। किंतु कबीर साहब के अनुसार 'सुरति' का अर्थ, उस 'सुरअ' अर्थात् सुरत = रति का प्रेम की दृष्टि से, लगाना उनकी किसी भी पंक्ति में समीचीन नहीं है। कबीर साहब की रचनाओं के पीछे काम करने वाली प्रेरणा की खोज करते समय सिद्धों के साहित्य से कहीं अधिक हमें नाथ-साहित्य पर आश्रित रहना उचित ठहरता है। गुरु गोरखनाथ की उपलब्ध रचनाओं में 'सुरति' एवं 'निरति' दोनों का एक साथ प्रयोग भी मिलता है। 'गोरख-बानी' में सम्मिलित किये गए 'मछींद्र गोरख बोध' ग्रंथ में एक स्थल पर गुरु गोरखनाथ तथा उनके गुरु मत्स्येंद्र नाथ की बातचीत से पता चलता है कि 'सुरति' शब्द 'सोचित' अथवा 'सुचित' अर्थात् शब्दोन्मुख चित्त के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'निरति' उस दशा को सूचित करता है जो निरवलंब की स्थिति है। जैसे,

मछिंद्र—अवधू सबद अनाहद सुरति सोचित (सुचित)।
निरति निरालंभ लागै बंध दुबध्या मेटि सहज मैं रहै।
ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ॥८४॥[1]

इसके पहले वाली सबदी (८२) में 'सुरति सुषि' शब्द का प्रयोग भी इसी भाव से अर्थात् सुरति को शब्दोन्मुख रखने की ही दृष्टि से किया गया जान पड़ता है। इस बात का स्पष्टीकरण इस रचना की सबदी (१०८) से भी हो जाता है जहाँ 'सुरति' को 'साधिक' तथा 'सबद' को 'सिधि' के रूप में बतलाया गया है। वहाँ पर भी स्पष्ट हो जाता है कि 'निरति' की दशा इन दोनों अर्थात् 'शब्द' एवं

---

१. 'गो० बा०', पृ० १९६

'सुरति' के अंत में एक रूप हो जाने पर ही आती है। जान पड़ता है कि नाथ पंथ में इसी की साधना को कभी-कभी 'शब्द-सुरति जोग' कहा जाता था और संत-साहित्य में वही आज भी 'सुरत शब्द योग' के नाम से प्रसिद्ध है जिस कारण इस विषय में, बहुत कम भ्रम रह जा सकता है। यहाँ पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि इस रचना की ११८ वीं सबदी में 'सुरति सो फिरया' कहकर 'सुरति' के वस्तुतः उन्मुख रहने की ही ओर संकेत किया गया है।

इस प्रकार यदि 'मछींद्र गोरष बोध' में उपर्युक्त प्रकार से ही अर्थ दिया गया है और वह नाथ पंथ की परंपरा के अनुसार भी ठीक है तो, कबीर साहब की पंक्तियों का अर्थ समझने में भी हमें उससे बहुत सहाय मिल सकती है। कबीर साहब की निम्नलिखित साखियों का भाव उस दशा में यही हो सकता है कि परमतत्त्व का परिचय उपलब्ध करते समय हमारा मन 'निरति' अर्थात् निरवलंब स्थिति में आ जाता है—

सुरति समांणीं निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार ॥२२॥
सुरति समांणीं निरति मैं, अजपा मांहै जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, यूं आया मांहै आप ॥२३॥[1]

यदि इस बात को ध्यान में रखा जाय तो हमें उस 'जगथैं न्यारा जोगी' का भी 'भेष' समझ पाने में उतनी अड़चन नहीं जान पड़ती जिसकी 'सुरति' ही 'सिंगी' का काम करती है और जिसकी 'निरति' उसकी 'मुद्रा' बन जाया करती है। जिस प्रकार योगियों की 'सिंगी' का उपयोग उसे नाद का माध्यम सिद्ध करने के लिए है उसी प्रकार इस चित्त वाली सिंगी को भी 'शब्द' का माध्यम वा साधन बनाया जा सकता है। उस दशा में 'निरति' के साथ' 'सुरति' के मिलकर एकाकार हो जाने पर पूर्ण सिद्धि की मुद्रा आप से आप आ जा सकती है। 'सुरति' का सदा शब्दोन्मुख रहा करना वैसे 'जोगी' का वास्तविक परिचय दिलाने के लिए आवश्यक है क्योंकि बिना उसके 'निरति' की मुद्रा असंभव सी है। 'मुद्रा' शब्द को यहाँ पर योगियों के कानों में पहने जाने वाले कुंडल के अर्थ में, लेने पर यह भाव नहीं आता; इसे शारीरिक चेष्टा वा इंगित के अर्थ में लेना होगा।

'सुरति' शब्द को ऐसे स्थलों पर यदि 'शब्दोन्मुख चित्त' के अर्थ में न लेकर केवल मन का ही एक पर्याय मान लिया तो वह ठीक नहीं है। कबीर साहब

---

१. 'क० ग्रं०', पृ० १४

की निम्नलिखित साखी में ऐसे चित्त एवं साधारण मन को पृथक्-पृथक् करके भी दिखला दिया गया है। जैसे,

सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कँवल कुवाँ मैं प्रेमरस, पीवै बारंबार ॥२॥[1]

यहाँ पर सुरति (शब्दोन्मुख चित्त) को पानी सींचने के प्रयोग में आने वाले गड़े हुए खंभे की समानता दी गई है और ऐसे खंभे का साधन बनने वाली 'लेज' (रस्सी) का काम यहाँ पर ल्यौ (लय) के द्वारा लेना दिखलाया है। चित्त के इस दशा में आ जाने पर ही यह संभव है कि सहस्रार वा सुरतिकमल से सदा निर्झरित होते रहने वाले प्रेमरस का पान हमारा मन कर सके। कबीर साहब का यह भी कहना है कि इस प्रकार की सुरति का अस्तित्व बने रहने पर ही हमारा मन त्रिवेणी अथवा शून्य सरोवर में स्नान करने के योग्य होता है (क० ग्रं० पद ४, पृ० ८८)। इस 'सुरति' के ही नाम पर सहस्रार के भी ऊपर अवस्थित रहने वाले अष्टमचक्र को 'सुरति कमल' कहा जाता है। 'सुरति', इस प्रकार, जीवात्मा का प्रतीक रूप बन जाती है और अपनी इस स्थिति द्वारा परमात्मा की स्मृति बनाये रखने में भी सहायक बनती है। संतों ने 'सुरति' को, इसी कारण, ऐसी दुलहिन के रूप में भी चित्रित किया है जो परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो नामस्मरण के साधन से अनहद शब्द से संयोग जोड़े रहती है।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १८

परिशिष्ट

कबीर साहब—एक परिचय

कबीर साहब के मत संबंधी वास्तविक सिद्धांतों की ही भाँति, उनके समय जाति, जन्म-स्थान एवं जीवन की घटनाएँ भी आजकल विवाद का कारण हो रही हैं। स्वयं कबीर साहब ने अपने संबंध में प्रायः कुछ भी नहीं कहा है और उनके समकालीन समझे जाने वाले भी उनकी ओर केवल संकेत करके ही रह गये हैं। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर केवल इतना ही जान पड़ता है कि सर्वप्रथम, कबीर साहब का उल्लेख एक भक्त के रूप में ही हुआ और, उस दशा में भी, जितना ध्यान उनकी सच्ची भक्ति तथा उनके प्रति प्रदर्शित भगवान की कृपा की ओर दिया गया उतना उनके व्यक्तित्व अथवा उनकी जीवनी की ओर नहीं। उदाहरण के लिए उनके समसामयिक समझे जाने वाले रैदास, पीपा, धन्ना एवं कमाल ने उन्हें, जाति से जुलाहा होते हुए भी, भक्ति के कारण मुक्त हो जाने वाला बतलाया और, उनके जगत्प्रसिद्ध हो जाने का कारण भगवान की कृपा को ही ठहराया। आगे चलकर, मीरांबाई के समय तक, उनकी गणना प्राचीन पौराणिक भक्तों तक के साथ होने लगी और उनके विषय में अनेक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं की भी सृष्टि का आरंभ हो चला। फलस्वरूप उनके घर भगवान् का स्वयं लदा हुआ बैल पहुँचा देना जैसी बातें दीख पड़ने लगीं और, उस समय तक प्रचलित होने वाले कबीर-पंथ के कारण, अलौकिक बातों का प्रचार बड़े वेग से चलने लगा। इनके व्यक्तित्व की ओर सबसे पहले ध्यान देने वालों में हम 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का नाम ले सकते हैं जिन्होंने कबीर साहब की खरी एवं निष्पक्ष आलोचना वाली विशेषता का सर्वप्रथम उल्लेख किया। फिर तो, उक्त पौराणिक चर्चाओं के समानांतर में ही, कबीर-संबंधी प्रसंग यत्र-तत्र ऐतिहासिक रचनाओं में भी मिलने लगा और उनके इस रूप का दिग्दर्शन कराने वाले साहित्य के एक बहुत बड़े अंश का प्रादुर्भाव अलौकिक घटनाओं से भरे ग्रंथों की ही भाँति हो गया।

परंतु उक्त सभी उल्लेख, प्रसंग एवं चर्चाएँ यातो भावावेश में की गई मिलती हैं अथवा उन्हें, अन्य आवश्यक बातों के साथ-साथ, अवसर के अनुसार किसी-किसी ग्रंथ में स्थान मिल गया रहता है; उस पर कभी सावधानी के साथ

आलोचनापूर्ण विचार किया गया नहीं जान पड़ता। आलोचना के अनंतर युक्ति-संगत बातों को ही सप्रमाण सामने लाने का कार्य वास्तव में विक्रम की १९ वीं शताब्दी के अंत में, आरंभ हुआ जब कुछ युरोपीय विद्वानों का ध्यान हमारे साहित्य, संस्कृति आदि महत्त्वपूर्ण बातों के अध्ययन एवं मूल्यांकन की ओर सर्व-प्रथम आकृष्ट हुआ और, उसके परिणामस्वरूप, विल्सन आदि ने अपने खोजपूर्ण ग्रंथों द्वारा इसे अपने हाथ में लिया। तब से कबीर साहब के आविर्भाव-काल, उनकी जाति, उनके जन्म-स्थान अथवा धार्मिक सिद्धांतों के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत प्रकाश में आने लगे और इस प्रकार धार्मिक इतिहास, सुधार-संबंधी आंदोलन तथा साहित्य के विवेचन वाली रचनाओं में इनकी काफी चर्चा होने लगी। कबीर साहब के जीवनकाल को निश्चित करते समय सबने स्वभावतः पहले उनकी निधन-तिथि पर ही अपने मत प्रकट किये, क्योंकि कबीर साहब अपनी अंतिम अवस्था में जितने प्रसिद्ध हुए थे और जितनी जानकारी उनकी मृत्यु के विषय में हो सकती थी उतनी उनके जन्म एवं प्रारंभिक जीवन के संबंध में संभव नहीं थी। तदनुसार जिन लोगों ने उनके समय को लेकर प्रश्न छेड़ा उन्होंने पहले उनके मृत्युकाल को ही निर्धारित किया और जितने भिन्न-भिन्न मत इसे लेकर निकले उनमें सभी ने किसी न किसी पद्य को भी अपना आधार बनाया।

कबीर साहब की मृत्यु की तिथि निश्चित करने वालों के मुख्य तीन मत आजकल प्रचलित हैं जिनमें एक उसे संवत् १५७५ की माघ सुदी ११ को ठह-राता है, दूसरा उसे संवत् १५०५ की अगहन सुदी ११ तक ले जाता है और तीसरा, इन दोनों के बीच इसे संवत् १५५२ के किसी महीने में रखना उचित समझता है। इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथा मत भी प्रचलित समझा जा सकता है जिसका उद्देश्य उक्त तिथि को किसी संवत् या मास द्वारा सीमित कर देना नहीं है और उसके अनुसार उक्त तिथि का निर्णय, उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर, केवल शताब्दियों में ही किया जा तकता है। हम अधिक से अधिक, इसके अनुसार, शताब्दियों के किसी न किसी चरण का ही अनुमान कर सकते हैं। उक्त प्रथम तीन मत, यदि किसी संवत् को पहले से ही प्रायः निश्चित सा मान उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न आनुमानिक घटनाओं को ऐतिहा-सिक बताने की चेष्टा में प्रवृत्त होते हैं तो चौथा दल इसके विरुद्ध, इतस्ततः बिखरी हुई सामग्रियों का मूल्यांकन कर, उनके आधार पर, एक शृङ्खलाबद्ध एवं युक्तिसंगत परिणाम निकालने का प्रयत्न करता है। कहना न होगा कि यह चौथा दल ही अधिक वैज्ञानिक ढंग का अवलंबन करता है और, इसके अनुसार सारी

उपलब्ध सामग्रियों की छानबीन करने पर, यही निष्कर्ष निकलता है कि कबीर साहब की मृत्यु, संभवतः विक्रम संवत् की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में कभी हुई होगी। इस प्रकार उनकी जन्म तिथि को हमें, कुछ पहले और भरसक परंपरागत संवत् १४५५ के भी पहले अवश्य ले जाना पड़ेगा और, यदि किसी अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति के समय के साथ इसे मिलाने का प्रयत्न करें तो, इन्हें मैथिल कवि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) का समसामयिक समझने में कोई अनुचित बात न होगी।

कबीर साहब की जाति के संबंध में इसी प्रकार मुख्यतः दो मत प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक तो उन्हें, मूलतः हिंदू बतला कर, उनके कोरी होने का अनुमान करता है और दूसरा उन्हें, जन्म से लेकर पालन-पोषण एवं मरण पर्यंत, जुलाहा समझता है—उन्हें हिंदू मानने वालों की यह धारणा भी कभी-कभी लक्षित होती है कि वे वस्तुतः किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और उनकी माता, अपनी लाज की रक्षा के प्रयत्न में, बालक को किसी लहरतारा तालाब के निकट त्याग दिया था जहाँ से उन्हें उठा कर नीरू तथा नीमा नामक जुलाहों की दम्पत्ति ने उनका भरण-पोषण किया और अंत में वे हिंदू संस्कारों के ही कारण, एक भक्त बन सके। परंतु दूसरे मत वालों का कहना है कि कबीर साहब ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है और रैदास ने उनके कुल में गो-बध होने की चर्चा की है, अतएव उन्हें जुलाहा के अतिरिक्त और कुछ मानना केवल क्लिष्ट कल्पना-मात्र होगी। कबीर साहब के मुस्लिम संस्कारों के चिह्न उनकी रचनाओं में हम कई स्थलों पर स्पष्ट-रूप में पाते हैं और, इस कारण, हमारा उक्त कथन अधिक युक्तिसंगत एवं प्रामाणिक मानना चाहिए। तो भी कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि, उक्त संस्कारों का समाधान करने के लिए, हम उन्हें कुछ ही पहले धर्मांतर ग्रहण करने वाले बौद्ध मतानुयायी जोगी कुल का मान सकते हैं और इसके प्रमाण में उनके अनेक नाथपंथी विचारों को भी रख सकते हैं। परंतु कबीर साहब को निरा जुलाहा मान कर भी, यदि चाहें तो, हम उक्त सभी बातों का समन्वय कर सकते हैं। कबीर साहब का जिस वातावरण में मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास हुआ था वह उक्त सभी बातों का पूरा समाधान कर सकता है।

कबीर साहब का स्थान परंपरानुसार, काशी नगरी ही कहलाती रही है और इसके प्रमाण में कबीर साहब की रचनाओं से भी कई उद्धरण दिये जा सकते हैं। तो भी इतना स्पष्ट है कि उन्होंने उसे जन्म-स्थान कहीं नहीं कहा। उन्हें

काशी से इतना प्रेम है कि उसके त्यागने को वे जल से मीन के बिछुड़ने से तुलना करते हैं और काशी के जोगी, जती, तपी, संन्यासी अथवा बनारसी ठगों का ऐसा सजीव चित्रण करते हैं कि उन्हें उस नगरी से पूर्ण परिचित ही समझना चाहिए। वे तो यहाँ तक कह डालते हैं 'सकल जनम सिवपुरी गवाँया' तथा 'बहुत बरस तप कीया कासी और मरनु भयो मगहर को बासी।' तब भी काशी के जन्मस्थान होने का उनसे हमें सीधा प्रमाण नहीं मिलता। इन जैसे अवतरणों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि उनका अधिक समय उस नगरी में ही व्यतीत हुआ था। उनके लहरतारा के निकट प्रकट होने का अनुमान हमें इसी कारण, ऐसा भी सोचने की ओर कभी प्रवृत्त कर देता है कि, संभव है, वे काशी में कहीं अन्यत्र से आये थे। कुछ लोगों ने इसी कारण मगहर को इनका जन्म स्थान समझा है और, इस बात के प्रमाण में, उनकी एक रचना उद्धृत किया है कि 'पहले दर्सन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई'। इस 'दर्शन पायो' का भी कुछ लोग मगहर में भगवान के दर्शन पाने का अर्थ लगाते हैं तो दूसरे उसे मगहर के ही दर्शन का अभिप्राय समझते हैं। परंतु वास्तव में इन शब्दों द्वारा मगहर में जन्म ग्रहण करने की बात सिद्ध होती हुई नहीं दीख पड़ती। एक महाशय ने कदाचित् इसी कारण, काशी एवं मगहर इन दोनों को छोड़, आजमगढ़ के बेलहरा गाँव को, उनका जन्मस्थान माना है। इसके प्रमाण में वे 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' का हवाला देते हैं और साथ ही यह भी दिखलाते हैं कि संभव है; बेलहरा ही, जो पटवारी के कागजों में बेलहर पोखर करके दर्ज है, बिगड़कर लहर तालाब हो गया हो। किंतु शब्दसाम्य के इस झमेले में उन्हें यह बात भूल-सी जाती है कि जो स्थान लहरतारा के नाम से प्रसिद्ध है वह काशी के अत्यंत निकट है और उससे बेलहरा से कोई भी संबंध नहीं। निदान जन्म-स्थान के लिए, काशी से बढ़कर अभी कोई दूसरा स्थान सिद्ध नहीं हो सका और, हम समझते हैं कि, उसे मगहर, बेलहरा अथवा कहीं भी अन्यत्र ठहराने के लिए, कुछ अधिक प्रमाण चाहिए।

कबीर साहब के गुरु के संबंध में इसी प्रकार दो भिन्न-भिन्न दलों के मत आजकल बहुत दिनों से प्रचलित होते आए हैं। परंपरा उन्हें स्वामी रामानंद का दीक्षित शिष्य बतलाती है। इस बात में अभी तक अनेक विद्वानों को विश्वास है कि, कबीर साहब, पीपा, सेन, रैदास एवं धन्ना नामक संत सभी स्वामी रामानंद के शिष्य थे और, उनके सीधे संपर्क में रहकर, उपदेश ग्रहण किये थे। परंतु उपलब्ध सामग्रियों को कुछ सावधानी के साथ मीलान करने पर, यह सहसा

स्वीकार कर लेने को जी नहीं चाहता। उक्त संतों में से केवल एक सेननाई ही ऐसे हैं जिनकी एक पंक्ति 'रामा भगति रामानंदु जानै, पूरन परमानंदु बखानै' से प्रतीत होता है कि वे, संभवतः, स्वामी रामानंद के समाकालीन रहे होंगे। इनके "'जानै'' एवं 'बखानै' के प्रयोगों में कुछ वर्तमान काल का संकेत मिलता है। किंतु इन्हीं सेन एवं कबीर के विषय में रैदास ने "नामदेव, कबीर तिलोचन सधना सैनु तरै" कहकर उक्त दोनों संतों को, नामदेव, त्रिलोचन एवं सधना की भाँति, 'तैर चुके' अथवा मुक्त हो चुके हुए कहा है जिससे रैदास के साथ उनकी पूरी समसामयिकता लक्षित नहीं होती। इतना ही नहीं, धन्ना ने तो रैदास, सेन तथा कबीर इन तीनों का ही अपने से बहुत पहले जैसा वर्णन किया है। वे तो यहाँ तक कह डालते हैं कि उक्त तीनों संतों के विषय में "इहि विधि सुनि कै जाटरौ उठि भगती लागा, मिले प्रतषि गुसाइआं धन्ना बड़भागा।," अर्थात् उनके प्रमुख भक्तों में गिने जाने के कारण, उनके संबंध प्रचलित जनश्रुति से ही प्रभावित हो, उन्होंने भक्ति का मार्ग ग्रहण किया। उसमें सफलता भी प्राप्त की। सेन, रैदास, पीपा एवं कबीर इनमें से किसी के भी सत्संग तक की वे कहीं चर्चा नहीं करते। आश्चर्य तो यह है कि स्वामी रामानंद जी के दीक्षित शिष्य समझे जाने वाले उक्त किसी ने भी उनका नाम तक अपनी किसी रचना में नहीं लिया। कबीर साहब ने जहाँ जयदेव, नामदेव अथवा गोरख, शुकदेव आदि के नाम श्रद्धा के साथ लिये हैं वहाँ इनके नाम का भी कहीं न कहीं उल्लेख कर दिये होते तो यह प्रश्न हल हो सकता था। स्वामी रामानंद का कबीर साहब का गुरु होना, सर्वप्रथम कदाचित् व्यास जी ने बतलाया था, किंतु पता नहीं उनका ऐसा करना केवल एक भक्त का आवेश मात्र था अथवा उसमें कोई सत्य का भी अंश था। ये व्यासजी स्वामी रामानंद से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पीछे हुए थे और उन दिनों के वातावरण में ऐसी काल्पनिक बातों का प्रकाश में आना कठिन न था। इस संबंध में भी अभी अधिक प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

एक दूसरा दल कबीर साहब के गुरु के स्थान पर किसी मीर तकी को एक पीर के रूप में रखना चाहता है। इस बात के प्रमाण में कुछ लोगों ने झूँसी के मीर तकी को उनका समकालीन होना बतलाया है और दूसरों ने कड़ा मानिकपुर वाले को कहा है। परंतु कड़ा मानिकपुर वाले शेख़ तकी के विषय में उन्हें, 'बीजक' के अनुसार, श्रद्धा नहीं दीख पड़ती और वे उनसे विवाद भी करते हैं। यदि वे तकी झूँसी वाले हों तो भी, उनके पीर होने के लिए कहीं कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दीख पड़ता। कुछ लोगों का ऐसा अनुमान अवश्य

है कि झूँसी में कबीर साहब बहुत दिन रहे होंगे क्योंकि उनके नाम पर वहाँ का कबीर नाला भी प्रसिद्ध है। परंतु, केवल इतने भर से, उक्त मीर तकी से वे कुछ प्रभावित मात्र ही कहला सकते हैं। कबीर साहब को हम उनका मुरीद नहीं मान सकते। कबीर साहब की एक पंक्ति में गोमती तीर निवासी किसी 'पीताम्बर पीर' का भी नाम आया है जिसकी कुटी तक जाने को वे अपना 'हज्ज करना' तक समझते हैं, किंतु उक्त पीताम्बर के संबंध में हमें जब तक और भी कुछ प्रमाण प्राप्त न हो तब तक उन्हें हम कबीर साहब को गुरु मानने में असमर्थ हैं। वास्तव में बिना किसी पुष्टि के हम किसी को भी उनका गुरु अथवा पीर मानने के लिए सहसा तैयार नहीं हो सकते। कबीर साहब संभवतः, आरंभ से ही एक स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे और, यद्यपि उन्होंने अनेक श्रेणी के संतों, साधुओं, सूफ़ियों तथा पीरों से सत्संग किया होगा तो भी वे, अपने निराले स्वभाव के कारण, किसी सांप्रदायिक परिधि के भीतर आ नहीं सकते थे और विविध सत्संगों के भिन्न-भिन्न प्रभाव भी उन्हें ऐसा करने में बाधा पहुँचाते रहे होंगे।

कबीर साहब ने सत्य की खोज में पूरा पर्यटन भी किया था जिसका उल्लेख उनकी रचनाओं में, संकेत रूप से, कई स्थलों पर मिलता है। काशी में अधिकतर स्थायी रूप में रहने के अतिरिक्त, उनके मगहर तक जाने की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उनके गोमती तीर अथवा संभवतः जौनपुर नगर के निकट कहीं पीताम्बर पीर के आश्रम तक यदाकदा यात्रा करने का भी प्रसंग आ चुका है; तथा यह भी कहा जा चुका है कि शेख़ तक़ी के संबंध में वे कड़ा मानिकपुर तथा झूँसी तक भी जा चुके होंगे। इसके सिवाय कुछ प्रमाणों से यह भी सिद्ध समझा जाता है कि उनकी एक कब्र सूबा अवध के रतनपुर में तथा एक दूसरी उड़ीसा के पुरी जगन्नाथ में वर्तमान है और इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे इन दोनों स्थानों पर भी कभी गये होंगे। इसी प्रकार कुछ जनश्रुति इस संबंध में भी पायी जाती है कि वे प्रसिद्ध भड़ौंच स्थान के निकट कहीं ऐसी जगह भी गये थे जहाँ पर उन्होंने एक बरगद का पेड़ लगाया था और वह आज भी 'कबीर-वट' के नाम से प्रसिद्ध है। धर्मदास एवं रतनबाई के प्रसंगों में कबीर-पंथी ग्रंथों के अंतर्गत उनका क्रमशः बांधोगढ़ तथा मथुरा में भी जाना बतलाया गया है। प्रसिद्ध इतिहासकार किनकेड तथा पार्सनीस महाशयों का यह भी अनुमान है कि वे कभी पंढरपुर तक पहुँचे थे। जो भी हो, उनके देश-भ्रमण के विषय में कोई संदेह करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती क्योंकि सदा सत्संग के इच्छुक रहने वाले व्यक्तियों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूर-दूर तक भटकना ही पड़ता है।

कबीर साहब के परिवार के बड़े होने का पता नहीं चलता। अपने पिता-माता के विषय में उन्होंने किन्हीं स्पष्ट शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं और किसी-किसी पंक्ति से तो, कभी-कभी, यह भी प्रतीत होने लगता है कि वे अपने पिता-माता की जगह, वास्तव में, भगवान् एवं माया का ही वर्णन कर रहे हैं। तो भी, यदि उनके शब्दों का अर्थ माता-पिता परक ही लगाया जाय, तो समझ पड़ेगा कि उनके पिता कोई 'बड़ु गोसाईं' अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और तिस पर भी उन्होंने उन्हें छोड़ सत्गुरुशरण में जाना ही उचित समझा था। इस 'बड़ु गोसाईं' का अर्थ कोई-कोई गोस्वामी भी करते हैं, और रे० अहमदशाह ने तो उक्त गोस्वामी से तात्पर्य स्वामी अष्टानंद का लगाकर, उन्हें एक बैरागी का पुत्र होने का भी संदेह किया है, किंतु इसके लिए और कोई आधार नहीं दीखता। उनके पिता का उनकी माता से पहले मर जाना तथा अपनी माता के भी मर जाने पर उनका हर्ष प्रकट करना, एकाध पंक्तियों, से प्रकट होता है और एकाध स्थलों पर यह भी जान पड़ता है उनकी माता उनके सांसारिक जीवन के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने के कारण उनसे कुछ रुष्ट भी रहा करती थी। उनकी माता का तो यहाँ तक कहना है कि जब से इस 'निपूते' ने माला धारण की तब से परिवार के भीतर दुःख ही दुःख दीख पड़ने लगा। वह उनकी साधनाओं को अपने कुल के विपरीत समझती हैं और, इसी कारण, उनकी दिनचर्या की बराबर निंदा किया करती हैं। उनकी माता द्वारा उसी स्थल पर यह भी कहे जाने से कि 'ऐवारिक कैसे जीवहिं रघुराई,' यह भी समझ पड़ता है कि उसे कबीर की संतानों के प्रति, आगे के लिए, कुछ आशंका रहा करती थी और वह, उनके संबंध में उपेक्षा करने के कारण, उन्हें और भी कोसा करती थी। कबीर साहब का इस प्रकार विवाहित होना एवं पुत्र-पुत्री से संपन्न होना भी प्रतीत होता है। किंतु उनकी कितनी और कौन-कौन संतानें थीं इस प्रश्न के विषय में कुछ मत-भेद है। कुछ लोग संत कमाल को उनका औरस पुत्र तथा उनकी एक पुत्री के रूप में किसी कमाली का नाम लेते हैं और एक स्थल पर तो उनके जमाल तथा जमाली नामक किसी अन्य पुत्र वा पुत्री की भी चर्चा की गई है। तो भी सिवाय कमाल के किसी अन्य संतान के विषय में अधिक लोग सहमत नहीं है। कमाल ने अपनी रचनाओं में भी अपने को 'कबीर का बालक' बतलाया है और जन-श्रुति से भी पता चलता है कि 'बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।" इस कमाल का, कबीर साहब द्वारा प्रचार के लिए अहमदाबाद की ओर, भेजा जाना भी प्रसिद्ध है।

कबीर साहब की कुछ रचनाओं के आधार पर यह भी कभी अनुमान किया जाता है कि उनकी दो स्त्रियाँ रही होंगी, किंतु उन स्थलों पर ध्यान पूर्वक विचार करने पर, समझ पड़ेगा कि वहाँ पारिवारिक जीवन के संबंध में अर्थ न लगाकर उनके आध्यात्मिक विचारों की बानगी का ही भाव ढूँढना अधिक तर्कसंगत है। उनकी स्त्री का नाम कुछ लोग लोई बतलाते हैं और इस शब्द का उन्होंने कई बार प्रयोग भी किया है, किंतु वहाँ भी 'लोई' से उनका अभिप्राय 'लोगों' से ही जान पड़ता है। एक स्थल पर तो यह भी जान पड़ता है कि उनकी स्त्री का नाम, वास्तव में 'धनियाँ' था जिसे लोगों ने 'रमजनियाँ' कहना आरंभ कर दिया था। जो हो, एक छोटे से परिवार में रहकर भी उनका जीवन बहुत सुखमय नहीं रहा और जब, अपने पिता तथा माता का देहांत हो जाने के अनंतर, अपने कुटुंब के भरण-पोषण का भार उन पर पड़ा तो उसे वे सरलता पूर्वक निबाह न सके। कबीर साहब की पैतृक जीविका बुनाई थी जिसे वे अपने जीवन में संभालने की चेष्टा करते रहे। अपने ताने-बाने की चर्चा उन्होंने कई स्थलों पर की है और इसी बुनाई के कार्य में कभी-कभी उनकी शिथिलता देखकर, उनकी माता का उनके प्रति रुष्ट होना सिद्ध होता है। बुनाई से उन्हें क्या आय रहती होगी इसका पता लगाना कठिन है, तो भी उनके द्वारा प्रदर्शित संतोष वृत्ति से यही अनुमान किया जा सकता है कि वे कदाचित् अधिक संख्या में थान तैयार नहीं कर सकते होंगे और न उस कार्य के परिणाम-स्वरूप उन्हें कोई बचत ही होती होगी। वे अपने तथा अपने परिवार के लिए उतना ही धन चाहते थे जिससे दैनिक जीवन का निर्वाह होता चले और किसी से कुछ माँगने की नौबत न आवे उन्होंने यदि कुछ माँगा भी तो भगवान् से प्रार्थना करके ही माँगा और वह भी इतना ही कि "दुइ सेर माँगौ चूना। पाव घीव सँग लूना। आध सेर माँगौ दाले। मो को दोनो बखत जिवा ले।" और स्पष्ट है कि इतना अन्न दोनों जून के लिए केवल एक व्यक्ति के लिए ही पर्याप्त कहा जा सकता है। इतने से यह प्रकट नहीं होता कि उन्हें किसी अन्य व्यक्ति को भी कुछ खिलाना पड़ता था वा नहीं। हाँ, कुछ पंक्तियों से कभी-कभी यह भी अनुमान किया जाता है कि उनके घर साधु-संतों की मंडलियाँ भी आती रही होंगी और, उनके स्वागत सत्कार के लिए भी, उन्हें कुछ करना पड़ता रहा होगा। प्रसिद्ध है कि ऐसे अतिथियों के घर पर आने के कारण उन्हें कई बार बहुत कष्ट भी झेलने पड़े थे।

कबीर साहब का पारिवारिक जीवन इस एक साधारण गृहस्थ परिवार का जीवन था जिसमें ऐश तथा आराम की कोई जगह नहीं थी और न, इसी कारण,

उसके भीतर किसी ठाट-बाट के कोई चिह्न मिल सकते थे। उनका मुख्य उद्देश्य अपने शरीर को स्वस्थ रखते हुए, आध्यात्मिक जीवन के आनंद का निरंतर अनुभव कराना था और वे दूसरों को भी इसी ओर प्रवृत्त करते थे। उनके उलपब्ध चित्रों से, यदि उनमें से कोई प्रामाणिक सिद्ध हों तो, ऐसा प्रतीत होता है कि उनको अवस्था अंत में ७०-८० तक अवश्य पहुँची होगी और इस विषय का समाधान उनकी कुछ रचनाओं के आधार पर भी, किया जा सकता है। 'दिन दिन तन छीजै जश जनावै,' थाके नैन बैन भी थाके' तथा 'रैनि गई मति दिन भी जाइ' आदि के आधार पर उनकी अंतिम अवस्था को कुछ लोग लगभग १०० वर्षों तक भी ले जाने को तैयार दीखते हैं। किंतु, उक्त पंक्तियों का अर्थ यदि एक साधारण कथन मात्र समझा जाय तो, ऐसा करना उचित न होगा। यों तो उनकी मृत्यु का १२० वर्ष की अवस्था में होना भी प्रसिद्ध है। एक उपलब्ध चित्र के आधार पर वे किसी सूफ़ी फकीर का वेष धारण किये हुए जान पड़ते हैं और एक दूसरे से उनका अपने बुनाई के कार्य में व्यस्त रहना सूचित होता है। एक तीसरे चित्र द्वारा, इसी प्रकार, समझ पड़ता है कि वे एक प्रौढ़ मुस्लिम संत हैं जो, अपने हाथों में धारण किये हुए वाद्ययंत्र के सहारे, भगवान का स्मरण करने में लीन हैं। उनकी वेशभूषा सब कहीं सादी ही दीख पड़ती है। उसमें अधिक आडंबर नहीं है।

कबीर साहब के मत के संबंध में विद्वानों में बहुत दिनों से वाद-विवाद चला आता है। कुछ लोग उन्हें शांकराद्वैत का अनुयायी मान कर, उनके लिए निर्गुण-पंथ का प्रवर्त्तक या प्रचारक की उपाधि देना उचित समझते हैं तो, कुछ लोगों की दृष्टि में वे एक पहुँचे हुए योगी थे और उनकी विचारधारा, अधिकांश में नाथपंथ के सिद्धांतों से मिलती थी। इसी प्रकार कुछ दूसरे लोग उन्हें एक सच्चा वैष्णव भक्त भी मानते हैं और एक अन्य मत के अनुसार वें, वास्तव में, एक स्वतंत्र सूफ़ी फकीर थे। उक्त चारों मत वालों ने अपने-अपने कथनों की पुष्टि में अनेक प्रमाण उनकी रचनाओं तथा अन्य स्थलों से भी उद्धृत किये हैं और उन पर दृढ़ भी दीख पड़ते हैं। परंतु, कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं का पूर्वा पर संबंध के साथ, भलीभाँति अध्ययन करने पर, पता चलता है कि यद्यपि उनके कथनों में उक्त चारों मतों का समावेश दीख पड़ता है; तो भी उन्हें किसी भी एक की सीमा के अंतर्गत अवरुद्ध कर देना उनके प्रति अन्याय करना होगा और, किसी अंग-विशेष पर ही अधिक ध्यान देकर, सारे शरीर के पूर्णरूप से अपरिचित रह जाना कहा जायगा। कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत

भिन्न-भिन्न मतों की शब्दावली वा शैली का जो प्रयोग किया है, वह वास्तव में, अपने निजी मत की अभिव्यक्ति के प्रयास में, उनसे केवल काम भर लेना है। वे, वस्तुतः शुद्ध सत्य के पुजारी हैं, वे उसी के अन्वेषण एवं अनुभूति में सदा सचेष्ट रहते हैं और उसी की अभिव्यक्ति करते समय उन्होंने प्रचलित मुख्य मतों के साधनभूत शब्दों का व्यवहार किया है। उन्हें किसी भी प्रचलित मत के मूल सिद्धांतों से कोई भी विरोध नहीं। वे सभी को अपने-अपने ढंग से सत्य की ओर बढ़ने वाला समझते हैं। उनका कहना केवल यही है कि उक्त मतों के अनुयायियों ने अपने मूल उद्देश्य को छोड़ दिया है और, उससे दूर रहते हुए भी, भ्रमवश अपने को विपक्ष में कर दिया है।

सत्य एक, नित्य एवं अनंत है और सबका मूल तथा आधार-स्वरूप है। यदि उसकी ओर ही हमारा ध्यान बराबर रहा करे तो हमें किसी मत-विशेष या संप्रदाय के अंतर्गत अपने को बाँध रखने की आवश्यकता न पड़ेगी। कहना न होगा कि उक्त सत्य पर पहुँचने के लिए सर्व प्रथम, एक शुद्ध हृदय एवं शुद्ध मस्तिष्क का होना अपेक्षित है जो, निश्छल एवं निश्चल रूप से, कुतुबनुमा की भाँति निरंतर उस ध्रुव सत्य की ओर बना रहे। फिर तो लौकिक जीवन का जहाज सदा उचित मार्ग पर ही आरूढ़ रहा करेगा और, अंत तक, हमें आनंदपूर्वक रहने का अवसर मिला करेगा। कबीर साहब के मूल-सिद्धांत हमें सत्य के प्रति एकनिष्ठ रहने तथा, समाज के भीतर समानता का व्यवहार करते हुए, कल्याण मार्ग पर अग्रसर होने की ओर संकेत करते हैं और इस बात का कोई भी मतवादी विरोध नहीं कर सकता।

कबीर साहब का जीवन-काल

कबीर साहब का जीवन-काल निश्चित करने की चेष्टा प्रायः गत सौ वर्षों से निरंतर होती चली आ रही है। जो कुछ भी साधन इस विषय के अभी तक उपलब्ध हैं, उनकी छानबीन भी आज तक होतीं जा रही है। पहले के विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में अधिकतर अनुश्रुतियों का ही सहारा लिया करते थे और कभी-कभी यत्र-तत्र बिखरे हुए विविध प्रसंगों का भी उपयोग करते थे। परंतु कुछ दिनों से उक्त लेखकों द्वारा निकाले गए परिणामों तथा उन तक पहुँचने के लिए प्रस्तुत की गई उनकी युक्तियों पर भी विचार किया जाने लगा है। इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त विषय के अधिकाधिक स्पष्ट होते जाने की आशा की जाती है। किंतु इस प्रश्न को लेकर इस समय एक से अधिक मत प्रचलित हैं और सभी एक दूसरे का खंडन करते हुए से दीख पड़ते हैं फिर भी, यदि उक्त प्रकार की सभी उपलब्ध सामग्रियों पर हम एक बार फिर से विचार करें, तो कदाचित् किसी ऐसे निश्चय पर पहुँच सकते हैं जो वर्तमान परिस्थिति में अधिक से अधिक मान्य एवं युक्ति-संगत माना जा सके।

कबीर साहब का जीवन-काल निश्चित करते समय कभी-कभी कुछ ऐसी पंक्तियाँ भी उद्धृत की जाती हैं जो उसके लिए प्रमाणस्वरूप समझी जाती हैं। किन्तु उन्हें आधार की भाँति स्वीकार करते समय उनके भी मूल का पता नहीं लगाया जाता, अपितु उन्हें केवल बहुत दिनों से प्रचलित रही आई ही मानकर उनमें से किसी न किसी को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चुन लिया जाता है और उसके द्वारा अपने मत की पुष्टि कर दी जाती है। ऐसी पंक्तियाँ भी अधिकतर कबीर साहब के अंतिम काल से ही संबंध रखती हैं और उनके द्वारा मृत्यु-काल का संकेत पाकर हम उनके पूरे जीवन-काल की अवधि भी निर्धारित कर डालते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें कभी-कभी इस प्रकार की कुछ अन्य पंक्तियों का भी सहारा मिल जाया करता है जो कबीर-पंथी साहित्य में कबीर साहब के प्रकट होने के प्रसंग में उल्लिखित पायी जाती हैं। उक्त सभी प्रकार की पंक्तियाँ बहुधा भिन्न-भिन्न एवं परस्पर-विरोधी मत प्रकट करती हैं और उन सबको यदि एकत्र किया जाय तथा उनके मूल स्रोतों का भी पता लगाया जा सके, तो वह स्वयं ही एक

मनोरंजक विषय होगा। अस्तु, उक्त पंक्तियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

१. सम्वत पन्द्रह सौ पछत्तरा, किया मगहर को गवन।
माघ शुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥

२. पन्द्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुद एकादसी, मिल्यो पौन में पौन॥

३. पंद्रह सै उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी, मिलो पौन में पौन॥

४. सुमंत पंद्रासौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उठि हंसा ज्याई॥

५. संवत बारह सौ पाँच में, ज्ञानी कियो विचार।
काशी परगट भयो, शब्द कहो टकसार॥

६. चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥ इत्यादि।

कबीर साहब का मृत्यु-काल निर्धारित करने वाले आजकल अधिकतर उपर्युक्त पहले तीन पद्यों में से ही किसी न किसी एक की सहायता लिया करते हैं और शेष में से अंतिम अर्थात् छठे को कभी-कभी उनका जन्म-संवत् भी स्वीकार कर लेते हैं। तीसरे पद्य को मानने वालों में आपस में थोड़ा-बहुत मतभेद भी जान पड़ता है और चौथे अथवा पाँचवें के समर्थकों की संख्या इस समय अधिक नहीं पायी जाती। इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि ये पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न दीख पड़ने पर भी संभवतः कबीर-पंथ के अनुयायियों की ही रचनाएँ हैं। ये उनकी इस धारणा के साथ प्रस्तुत की गई हैं कि कबीर साहब वस्तुतः अमर तथा अजन्मा हैं, केवल हंसों के उद्धारार्थ कभी-कभी युगानुसार अवतार धारण कर लेते हैं। इसके सिवाय, इन पंक्तियों का आश्रय न ग्रहण कर स्वतंत्र रूप से विचार करने वाले भी कुछ विद्वान् हैं, जो कबीर साहब के पूरे जीवन-काल को विशिष्ट संवतों वा सनों के भीतर न रख सकने के कारण उसे किसी न किसी एक शताब्दी में वा भिन्न-भिन्न शताब्दियों के भागों में रखना अधिक युक्ति-संगत समझते हैं और उनमें भी आपस में कुछ न कुछ मतभेद है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर इस समय कुल मिलाकर केवल चार प्रकार के ही मत अधिक प्रसिद्ध हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) मृत्यु-काल को सं० १५७५ में ठहराते हुए भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् वा जन्म-काल मानने वालों का मत;

(२) मृत्यु-काल को सं० १५०५ में अथवा १५०७ के आसपास मान कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् वा जन्म-काल ठहराने वालों का मत;

(३) मृत्यु-काल को सं० १५५१ वा १५५२ में निश्चित कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् देने वालों का मत; तथा,

(४) मृत्यु एवं जन्म के सवत् अथवा पूरे जीवन-काल को ही भिन्न-भिन्न संवतों के बीच वा शताब्दियों के अनुसार बतलाने वालों का मत।

उक्त (१) के अनुसार सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल मानने वालों की संख्या कदाचित् सबसे अधिक होगी। इस मत के समर्थन में जो दोहा; 'संवत् पन्द्रह सै पछत्तरा किया मगहर को गवन। माघ शुदी एकादशी, रलो पवन में पवन[1] ॥' दिया जाता है, उसके मूल रचयिता का पता नहीं चलता। 'कबीर-कसौटी' ग्रंथ के लेखक बाबू लैहनासिंह कबीर-पंथी के अनुसार यह 'साखी' उन्हें किसी "लाला माधो राम साहिब पाएल वाले से" मिली थी, जब वे "साल-सम्वत् श्री कबीर जी साहेब के प्रकट होने" की तलाश करते फिर रहे थे और एक दूसरे स्थान पर उन्हें यह भी पता चला था कि "श्री कबीर जी काशी में एक सौ बीस बरस रहकर मगहर को गए।" काशी से "माघ सुदी एकादसी, दिन बुधवार, सं० १५७५"[2] को उन्होंने मगहर के लिये प्रस्थान किया था और उसी दिन वहाँ से चलकर काशी से मगहर तक की 'छः मंजिल' की दूरी तय की। वहाँ पहुँचकर किसी संत की एक छोटी कोठरी में, जो वर्तमान अमी नदी के किनारे पर थी, लेट कर चादर ओढ़ ली, बाहर से ताला बंद करा दिया और एक अलौकिक ध्वनि के साथ सत्यलोक सिधार गए। वहाँ का नवाब बिजली खाँ पठान कबीर साहब का मुरीद था, जो उनकी लाश को पहले से ही दफ़नाना चाहता था और बीर सिंह बघेला जो पहले से ही अपनी लश्कर लेकर वहाँ पहुँच गया था, उनका शिष्य था और उनके शव का अग्नि-संस्कार करना चाहता था। दोनों ने कबीर साहब से अपनी-अपनी इच्छा प्रकट की थी और दोनों को उन्होंने मृत्यु के पहले ही समझा दिया था। अतएव ताला खोलने पर जब वहाँ "फ़कत् कमल के फूल और दो चद्दर ही" पायी गई, तब उन दोनों ने उन्हें आपस

---

१. बाबू लैहनासिंह, 'कबीर-कसौटी' (भूमिका) पृ० ३-४

२. वही, पृ० ४३-४४

में बाँटकर अपनी-अपनी विधि का निर्वाह किया। परंतु बिजली खाँ और बीर सिंह का एक साथ उस समय वहाँ पर एकत्र होने की संगति किसी ऐतिहासिक प्रमाण से बैठती हुई दीख नहीं पड़ती और उक्त तिथि को ही मृत्यु-दिवस निश्चित मानकर दोनों का पहले से युद्ध के लिए मौके पर उपस्थित रहना, कबीर साहब का उन दिनों के बीहड़ एवं लंबे मार्ग को माघ महीने के एक ही दिन में तय कर उक्त ढंग से प्रबंध करते हुए शरीर-त्याग करना आदि बातें केवल श्रद्धा के ही बल पर सच्ची घटना मानी जा सकती हैं। इसके सिवाय उक्त माघ सुदी ११ को बुधवार का पड़ना भी अभी तक सिद्ध नहीं।

'कबीर-कसौटी' की रचना संवत् १९४२ में हुई थी और उक्त बातें उसके पहले से प्रचलित रही होंगी। किंतु इतने से ही दोहे की रचना का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यह दोहा संभवतः उस समय भी प्रसिद्ध था, जब कि गार्सां द तासी ने अपनी फ्रेंच पुस्तक 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐंदुस्तानी' अर्थात् 'हिंदी एवं हिंदुस्तानी साहित्य के इतिहास' की रचना सं० १८९६ में की थी। उनके पीछे इस दोहे को एक प्रामाणिक सूत्र के रूप में मानकर उसके अनुसार अनेक विद्वान् सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल निश्चित करते आये हैं। इस संबंध में रे० वेस्टकाट (सं० १९६४), मैकालिफ (सं० १९६६), बालेश्वर प्रसाद (सं० १९६९), अंडरहिल (सं० १९७२), डा० भांडारकर (सं० १९७५), रे० फर्कुहर (सं० १९७५), डा० श्यामसुंदर दास (सं० १९८५), रामचंद्र शुक्ल (सं० १९८६), मनोहरलाल जुत्सी (सं० १९८७), रे० की (सं० १९८८) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से भी मैकालिफ, बालेश्वर प्रसाद, भांडारकर, श्यामसुंदर दास आदि ने कबीर साहब के एक सौ बीस वर्षों तक जीवित रहने का भी किसी-न-किसी रूप में समर्थन किया है। किंतु वेस्टकाट, अंडरहिल, फर्कुहर और की को यह बात मान्य नहीं और वे उनका जन्म-काल सं० १४९७ में ही ठहराते हैं। सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल मानने के पक्ष में जनश्रुति एवं दोहे के अतिरिक्त जो प्रमाण इन विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

१. कबीर साहब को सिकंदर शाह लोदी (शासन-काल सं० १५४६ : १५७४) ने उनके धार्मिक सिद्धांतों के कारण दंडित किया था। उसके बनारस आने के समय अर्थात् सं० १५५१ में ही संभवतः उन्हें काशी छोड़कर मगहर जाना पड़ा था;

२. गुरु नानकदेव (सं० १५२६ : १५९६) के साथ कबीर साहब की भेंट सं० १५५३ (अर्थात् गुरु नानकदेव के २७वें वर्ष) में हुई थी;

३. कबीर साहब के प्रसिद्ध शिष्य धर्मदास ने सं० १५२१ (अर्थात् उनके जीवन-काल) में ही उनकी रचनाओं का संग्रह किया था;

४. कबीर साहब के जो प्रामाणिक चित्र उपलब्ध हैं, उनसे उनकी वृद्धावस्था सूचित होती है और यह बात उनके जन्म-काल के सं० १४५५ वा १४५६ होने से भी मेल खाती है।

स्पष्ट है कि इनमें से किसी के भी आधार पर मृत्यु-काल का सं० १५७५ में ही होना सिद्ध नहीं होता। चित्रों में लक्षित होनेवाली वृद्धावस्था जन्मकाल के काफी पहले होने पर किसी भी पूर्वोक्त मत के अनुसार संभव है। सं० १५२१ में धर्मदास द्वारा कबीर साहब की रचनाओं का संग्रहीत होना भी केवल जनश्रुति मात्र ही जान पड़ता है। वास्तव में अभी तक धर्मदास के ही जीवन-काल का निर्णय अंतिम रूप में नहीं हो पाया है। गुरु नानक देव की किसी प्रामाणिक जीवनी में इन दो महान् संतों की भेंट की चर्चा नहीं मिलती। केवल इतना ही पता चलता है कि सं० १५५३ वा १५५४ में एक बार स्नान करते समय किसी नदी के किनारे गुरु नानक देव से किसी एक संत से भेंट हुई थी, जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए थे।[1] किंतु केवल इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि वे महात्मा कबीर साहब ही थे। कम से कम स्वयं नानक जी ने, उनके शिष्यों ने अथवा किसी भी जानकार समझे जानेवाले व्यक्ति ने कहीं पर इस विषय में कोई संकेत नहीं किया है। इसी प्रकार सिकंदर शाह लोदी वाले प्रसंग के विषय में भी किसी समकालीन इतिहासकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है। सिकंदर शाह के समय में किसी धार्मिक विप्लव का होना प्रायः सभी स्वीकार करते हैं और किसी-किसी के अनुसार एक ब्राह्मण संत का सिकंदर शाह के अधिकारियों द्वारा प्राणदंड दिया जाना भी बतलाया जाता है। किंतु कबीर साहब को उक्त शाह की आज्ञा द्वारा कष्ट पाना अथवा काशी से निकाल बाहर कर दिया जाना केवल अनुमान के ही सहारे समझा जा सकता है।

उक्त (२) द्वारा निर्दिष्ट मत के समर्थकों में सर्वप्रथम नाम उन श्रद्धालु कबीर-पंथियों का आता है जो कबीर साहब का जीवन-काल ३०० वर्षों का होना बतलाते हैं और अपने मत की पुष्टि में दो दोहे[2] उद्धृत करते हैं जिनमें से दूसरा

---

१. शालिग्राम : 'गुरुनानक', पृ० ३६

२. पं० शिवशंकर मिश्र : 'भारत का धार्मिक इतिहास' पृ० २७१

वा मृत्यु-काल संबंधी उपर्युक्त दूसरा दोहा औरों को भी मान्य है। उनका जन्म-काल-संबंधी उक्त पाँचवाँ दोहा 'संवत बारह सौ पाँच में, ज्ञानी कियो विचार। काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार ॥' सूचित करता है कि कबीर साहब (ज्ञानी) ने सर्वसाधारण के उद्धार के निमित्त काशी में अवतार धारण किया तथा अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेशों का प्रचार किया, और दूसरे दोहे 'पन्द्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हों गौन। अगहन सुद एकादशी मिल्यो पौन में पौन।' से प्रकट है कि सं० १५०५ में उन्होंने मगहर की यात्रा की और वहीं अगहन सुदी ११ को अपना शरीर छोड़ दिया। इनमें से प्रथम दोहे के अनुसार मत निश्चित करनेवालों की संख्या नितांत अल्प है और दिन प्रति दिन और भी कम होती जा रही है। किंतु केवल दूसरे दोहे को आधार मानकर निर्णय करनेवालों में अनेक विद्वान् हैं, जो अपने मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों के सहारे भी करने की चेष्टा करते हैं। उक्त दोनों दोहों में से किसी भी रचयिता का पता नहीं चलता, किंतु जान पड़ता है कि कम से कम दूसरा दोहा भी प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना पहले मत का सं० १५७५ वाला दोहा पुराना है। अनुमान किया जाता है[1] कि यह दोहा डा० एच्० एच्० विल्सन (सं० १८८५) को भी मिला था और कदाचित् इसी के आधार पर उन्होंने कबीर साहब का मृत्यु-काल सं० १५०५ में मान लिया था। फिर भी सिकंदर वाले प्रसंग में भी वे कुछ आस्था रखते हुए दीख पड़ते हैं, और फिरिश्ता-द्वारा किए गए तत्कालीन धार्मिक विप्लव-संबंधी उल्लेखों के आधार पर कबीर साहब अथवा कम से कम उनके किसी शिष्य के ही विषय में सांप्रदायिक झगड़े का उस समय खड़ा होना संभव समझते हैं।[2] प्रो० बी० बी० राय (सं० १९६३) ने सं० १५०५ में मृत्यु-काल का समर्थन इस बात से भी किया है कि गुरु नानकदेव (सं० १५२६ : १५९६) कबीर साहब द्वारा प्रभावित थे। वे कहते हैं कि "गुरु नानक जो कबीर के बाद मौजूद था और जिसने कबीर की बहुत-सी तालीमी बातें अपने 'आदिग्रंथ' में इख्तियार कीं, सन् १४९० ई० (सं० १५४७) में अपनी तालीम देनी शुरू की, सो कबीर का उससे थोड़ी मुद्दत मौजूद होना ही मुमकिन है"[3]। परंतु 'आदिग्रंथ' केवल गुरु नानक

---

१. डा० पी० द० बड़थ्वाल : 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोयट्री' पृ० ३०३

२. एच्० एच्० विल्सन : 'ए स्केच ऑव् दी रेलिजस सेक्ट्स ऑव् दि हिन्दूज' पृ० ७२-३

३. प्रो० बी० बी० राय : 'संप्रदाय', पृ० ६०

देव की की रचना न होकर एक संग्रह-ग्रंथ है जिसमें गुरु नानक, कबीर आदि के अतिरिक्त उन सिख गुरुओं की भी रचनाएँ संग्रहीत हैं। जो गुरु नानक के पीछे हुए थे और उसका संग्रह-काल वास्तव में पाँचवें गुरु अर्जुन देव (सं० १६२० : १६६३) के समय सं० १६६१ में बतलाया जाता है। इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है (जैसा कुछ अन्य लेखकों ने भी अनुमान किया है) कि गुरु नानकदेव १५ : १६ साल की अवस्था में अपने पिता की आज्ञा से भाई बाला के साथ व्यापार करने निकले थे, उस समय लाहौर के मार्ग में जो भूखे साधुओं का अखाड़ा चोरकाना के पास मिला था, वह कबीर-पंथियों का ही रहा होगा[1] तथा ये लोग उन दिनों अपने मत के प्रचारार्थ दूर-दूर तक फैल गए होंगे और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहब के सिद्धांतों द्वारा उनका प्रभावित हो जाना कोई असंभव बात नहीं।

सं० १५०५ को मृत्यु-काल माननेवालों में प्रमुख नाम आचार्य क्षिति मोहन सेन (सं० १९८६) तथा डा० बड़थ्वाल (सं० १९९३) के भी समझे जाने चाहिए। क्षिति बाबू ने अपनी पुस्तक 'मिडीवल मिस्टिसिज्म' अथवा 'मध्य-कालीन रहस्यवाद' में उक्त संवत् के समर्थन में किसी 'भारत-भ्रमण' ग्रंथ की चर्चा की है,[2] जिसके अनुसार कबीर साहब का जीवन-काल सं० १४५५ से सं० १५०५ तक बतलाया गया है। परंतु 'भारत-भ्रमण' में व्यक्त किए गए उक्त मत के किसी आधार का पता नहीं चलता और न इस ओर क्षिति बाबू ने ही कोई संकेत किया है। सं० १५०५ के पक्ष में वे फ्यूहरर की उस रिपोर्ट का भी उल्लेख करते हैं जिसमें अमी नदी के किनारे वर्तमान तथा बस्ती जिले के खिरनी स्थान पर निर्मित कबीर के रोजे का बिजली खाँ द्वारा सन् १४५० ई० (सं० १५०७) में बनाया जाना और नवाब फिदाई खाँ द्वारा सन् १५६७ ई० (सं० १६२४) में उसका जीर्णोद्धार होना लिखा है। उनका अपना अनुमान है कि कबीर साहब की मृत्यु होते ही बिजली खाँ ने वहाँ एक मकबरा बनवा दिया था और दो वर्षों के अनंतर उसी स्थल पर फिर एक रौज़ा भी निर्मित करा दिया। परंतु बिजली खाँ के कबीर का अनुयायी होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला और न डा० फ्यूहरर ने ही सन् १४५० ई० के लिए कोई आधार दिया है। यह बात किसी शिलालेख आदि से भी सिद्ध नहीं होती।

---

१. शालिग्राम : 'गुरुनानक', पृ० २७

२. क्षितिमोहन सेन : 'मिडीवल मिस्टिसिज़्म' पृ० ८८

डा० बड़थ्वाल इस विषय में तर्क करते समय स्वामी रामानंद को कबीर साहब का गुरु निश्चित रूप से मानकर चलते हैं[१] और सं० १५७५ को उनका मृत्यु-काल इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वैसी स्थिति में उनका जन्मकाल सं० १४५५ में मान लेना पड़ेगा और तब उनकी स्वामी जी (मृ० सं० १४६८) के शिष्य होने की बात कुछ असंभव-सी जँचने लगेगी। इसके सिवाय उन्हें कबीर साहब का झँसीवाले तक़ी (मृ० सं० १४६६) का सम-सामयिक होना भी मान्य है और वैसा समझ लेने पर इस बात में भी संदेह को स्थान मिल सकता है। झूँसीवाले मीर तकी के साथ कबीर साहब का परिचय वे जनश्रुति एवं झूंसी में वर्तमान कबीर नाले के कारण भी सिद्ध करते हैं। डा० बड़थ्वाल ने रैदास एवं पीपा को भी स्वामी रामानंद का शिष्य माना है और पीपा को कबीर साहब से अधिक अवस्था का समझा है। इनके अनुसार कबीर साहब का जन्म-काल सं० १४२७ में मानना चाहिए, जिससे मृत्यु के समय उनकी आयु ७८ वर्ष की होगी। परंतु ये सारी बातें उन्होंने कोरे अनुमान पर ही आश्रित रखी हैं और सिवाय इसके कि स्वामी रामानंद उनके गुरु थे तथा पीपा एवं रैदास ने उनके संबंध में कुछ चर्चा की है, कोई अन्य प्रमाण उन्होंने उनका जीवन-काल निश्चित करने के लिए नहीं दिया है। डा० बड़थ्वाल को सिकंदर-प्रसंग की सचाई में विश्वास नहीं है, और उन्होंने इस बात को कबीर साहब को 'प्रह्लाद भक्त की भाँति कष्ट पाकर भी बच जानेवाला' सिद्ध करने की चेष्टा में रची गई मनगढ़ंत घटना ठहराया है।[२] क्षिति बाबू कबीर साहब का जन्म सं० १४५५ में होना मानते हैं जिससे मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ५० वर्षों की ही रह जाती है।

उक्त (३) वाले मत का आधार-स्वरूप दोहा "पंद्रह से उनचास में मगहर कीन्हों गौन। अगहन सुदि एकादशी मिलो पौन में पौन।" श्री रूपकलाजी (सं० १९६५) द्वारा की गई नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका के उद्धृत हुआ है और इसके अनुसार वे उक्त संवत् में तीन वर्ष और जोड़कर मृत्यु-काल का सं० १५५२ में होना निश्चित करते हैं।[३] परंतु ये तीन वर्ष उन्होंने क्यों बढ़ा दिये, इसका कोई भी उन्होंने समाधान नहीं किया है। उनके अनंतर सं० १५५२ को

---

१. डा० पी० द० बड़थ्वाल : 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोयट्री' पृ० २५२:३
२. वही, पृ० २५२ ३. नाभादास : 'भक्तमाल' (श्री रूपकला-कृत पृ० ४१७)

मृत्युकाल मानने वाले हरिऔध (सं० १९६६), मिश्रबंधु (सं० १९६७) श्री चन्द्रबली पांडेय (सं० १९९०) तथा डा० रामकुमार वर्मा (सं० २०००) ने इसकी संगति अधिकतर सिकंदर-प्रसंग के साथ बैठायी है। डा० वर्मा ने उक्त सं० १५५२ को भी सं० १५५१ इस कारण कर दिया है कि इतिहासकारों के अनुसार सिकंदर लोदी वस्तुतः उसी वर्ष काशी आया हुआ था। इस प्रकार उक्त मत का एकमात्र आधार सिकंदर-प्रसंग को ही मानना चाहिए; क्योंकि उसी के प्रमाणित होने वा न होने पर इसके विषय में कोई निश्चित निर्णय किया जा सकता है। डा० वर्मा उक्त प्रसंग की पुष्टि में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं; वे इस प्रकार हैं :[1]

१. प्रायः सभी इतिहासकार (जिनकी एक सूची उन्होंने अपनी पुस्तक में दी है) कबीर साहब और सिकंदर लोदी का समकालीन ठहराते हैं ;

२. ब्रिग्स ने सिकंदर का सं० १५५१ में ही बनारस आना कहा है ;

३. प्रियादास अपनी नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका में सिकंदर और कबीर साहब का संघर्ष दिखलाया है ;

४. अनंतदास की रचना 'श्री कबीर साहब की परचई' में इस बात की चर्चा की गई है ;

५. 'आदिग्रंथ' में आये हुए कबीर साहब के रागु गौड़ ४ तथा रागु भैरउ १८ वाले पदों के आधार पर भी हम दोनों को समकालीन मान सकते हैं; और

६. बस्ती जिले में स्थित बिजली खाँ का रोजा कबीर साहब का मरण-चिह्न न होकर केवल स्मारक मात्र भी हो सकता है, जिसे उक्त पठान ने कबीर साहब द्वारा काशी में अक्षय कीर्ति प्राप्त करने के उपलक्ष में भक्ति के आवेश में बनवा दिया है।

परन्तु डा० वर्मा ने जिन इतिहासकारों के नाम अपनी सूची में दिये हैं, वे सभी बहुत पीछे के हैं और उनमें से सबने अधिकतर अनुमान से ही काम लिया है। सिकंदर-प्रसंग को उन्होंने एक प्रचलित्त किंवदंती से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ब्रिग्स का केवल इतना कहना भी कि सिकंदर सं १५५१ में बनारस की ओर आया था, यह सूचित नहीं करता कि उससे और कबीर साहब से कभी भेंट भी हुई थी। प्रियादास की टीका भी इस विषय में विश्वसनीय नहीं कही जा सकती; क्योंकि बहुत अर्वाचीन होने के साथ ही सर्वत्र उसमें अलौकिक बातों की ही भर-मार है और ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा करने की जगह रचयिता का

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, 'संत कबीर' पृ० ३७-४०

उद्देश्य उसमें सब कहीं चमत्कार पूर्ण बातों के उल्लेख द्वारा भक्तों का महत्त्व दर्शाना ही अधिक दीख पड़ता है। अनंतदास की रचना 'श्री कबीर साहिब की परचई' अवश्य एक पुरानी पुस्तक है। किंतु जो हस्तलिखित प्रति (सं० १८४२ की) डा० वर्मा को मिली है, उसकी प्रामाणिकता बिना अन्य प्रतियों से मीलान किये सिद्ध नहीं की जा सकती और उसमें प्रक्षिप्त अंशों के आ जाने की भी संभावना है। इसके अतिरिक्त स्वयं अनंतदास का आविर्भाव भी सं० १६४५ के लगभग माना जाता है जो सिकंदर के सं० १५५१ में बनारस आने से प्रायः सौ वर्ष पीछे की बात है और इतने दिनों के भीतर उस युग में ऐसी अनैतिहासिक वा काल्पनिक बातों का क्रमशः प्रवादमात्र से उन्नति करते-करते भक्त-चरित्रों तक में प्रवेश कर जाना वैसी आश्चर्य की बात नहीं। अनंतदास से प्रायः ४० : ५० वर्ष पहले मीरांबाई (सं० १५५५:१६०३) ने भी अपने पदों में

'दास कबीर घर बालद जो लाया, नामदेव की छान नवंद।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद।, आदि[1]

जैसी घटनाओं की चर्चा करना आरंभ कर दिया था। उक्त सिकंदर-प्रसंग का उल्लेख भी, वास्तव में, अनंतदास के ही समय से आरंभ हुआ जान पड़ता है; क्योंकि उनके अतिरिक्त वषनाजी[2] (१६५०), हरिदास जी[3] (सं० १६५६) एवं रज्जबजी[4] (सं० १६६०) ने भी अपने पदों में उसका उल्लेख किया है।

---

१. 'मीरांबाई की पदावली, पृ० ६७-८

२. 'कासी माहि सिकंदर तमक्यो, गज में डारि जंजीर का।
जिनको आय मिले परमैसुर, बन्धन काटि कबीर का॥
'वषनाजी की बाणी', (जयपुर) पृ० १४८

३. 'अगनित जालै जलि नहिं डूबै, झड़ि-झड़ि पड़ै जंजीर।
जन हरिदास गोविन्द भजे, निरभै मतै कबीर॥ ४॥
मारि-मारि काजी करै, कुंजर बन्धै पाव।
जन हरिदास कबीर कूं, लगे न ताती बाव॥ ५॥
'श्री हरि पुरुष जी की वाणी' (जोधपुर) पृ० ४०१

४. 'जन कबीर जरिं जंजीर बोरे जल माहीं।
अग्नि नीर गज त्रास राखै किधौं नाही॥ 'सर्वंगी' से 'वीणा (वर्ष ६, अंक ७) पृ० ५३८ पर उद्धृत

उसके अनंतर सं० १६३१ में संगृहीत 'आदिग्रंथ'[1] के अंतर्गत राग गौड़ ४ तथा रागु भैरउ १८ वाले पदों के आ जाने से इसे और भी शक्ति मिल गई है। इन पदों में भी सिकंदर का नाम नहीं आया है और इनमें कही गई घटनाएँ अन्य शासकों के विषय में भी समझी जा सकती हैं। इसके साथ ही इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि कबीर और सिकंदर लोदी के सबंध का उल्लेख 'भक्तमाल', 'आईन', 'अख़बारुल अख़ियार', 'दबिस्तां' में नहीं मिलता। इसके अलावे 'आक़यात मुश्ताक़ी', 'तारीख दाऊदी', 'तारीख खानजहाँ लोदी', निज़ामुद्दीन बदायूँनी, और 'तारीख़ फ़िरिश्ता', आदि जिनके आधार पर सिकंदर का विश्वसनीय इतिहास लिखा जाता है, उनके संबंध का उल्लेख नहीं करते"।[2] बस्ती जिले में वर्तमान बिजलीखाँ के रौज़े का निर्माण वास्तव में यदि सन् १४५० वा सं० १५०७ में ही हुआ था (जैसा कि डा० वर्मा भी मानते हुए स्पष्ट जान पड़ते हैं), तो यह बात की वह मरण-चिह्न है अथवा कबीर साहब की अक्षय कीर्ति का केवल स्मृति-चिह्न मात्र है, बड़ी आसानी से समझा जा सकेगा। इसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं कि कबीर साहब उस समय तक ही वैसे यशस्वी हो चुके थे, जन्म-भूमि मगहर से काशी जा भी चुके थे और बिजली खाँ को इतना प्रभावित कर चुके थे कि उसने उनके जीवन-काल में ही स्मृति-चिह्न के निर्माण का आयोजन किया। अभी तक तो बहुत लोगों की यही धारणा रहती आई है कि उनका जन्म काशी में हुआ था और मरने के केवल कुछ ही पहले वे मगहर गए जहाँ पर अमी नदी वा नाले के निकट उक्त रौज़ा बना हुआ है।

श्री चंद्रबली पांडेय का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना जान पड़ता है कि यदि सं० १५७५ की पुष्टि में दिये गए 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना वाले प्रमाण ठीक हों, तो उनके द्वारा उक्त संवत् की जगह सं० १५५२ को ही स्वीकार कर लेना अधिक युक्ति-संगत होगा। वे सं० १५५२ में हुई सिकंदर लोदी एवं कबीर साहब की किसी बातचीत का भी अनुमान करते हैं और कहते हैं कि "संभव है और अधिक संभव है कि जायसी ने 'अखरावट' में आई हुई

'रावर आगे का कहै, जो सँवरे मन लाइ।
तेहि राजा नित सँवरै, पूछै धरम बुलाइ॥

---

१. 'गुरु ग्रंथ साहिबजी', पृ० ८६९—७० और ११६२

२. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी : 'कबीरजी का समय' ('हिंदुस्तानी', भा० २, अ० २, पृ० २०७)

तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझे नहीं ।
परे खरो तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं ॥'

पंक्तियों द्वारा इसी ओर संकेत किया हो ।[1] उनका यह भी मंतव्य है कि "नानक कबीर को सतगुरु समझते थे । यदि कबीर सं० १५७५ तक जीवित रहते, तो नानक और न जाने कितनी बार उनसे मिलते ।" उनके अनुसार गुरु नानक सं० १५५३ में कबीर साहब से नहीं मिले थे, बल्कि सं० १५५२ में ही मिले थे और उसी वर्ष कबीर साहब का देहांत भी हो गया । वे 'सभा' में सुरक्षित सं० १५६१ वाली हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि का, कबीर साहब की मृत्यु के अनंतर, किया जाना इस कारण मानते हैं कि प्रतिलिपि काशी में हुई और यदि उस समय तक कबीर साहब वहाँ वर्तमान रहते, तो उनसे अवश्य प्रमाणित करा ली गई होती ।[2] अंत में वे स्वामी युगलानंद के दिए हुए कबीर साहब के चित्र एवं 'ग्रंथावली' के कतिपय अवतरणों के आधार पर यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि कबीर साहब की अवस्था मरने से पहले सौ से अधिक नहीं, बल्कि उसके लगभग ही रही होगी, जिसकी पुष्टि में जायसी के 'अखरावट' के

'जा नारद तब रोइ पुकारा । एक जुलाहे सो मैं हारा ॥
प्रेम तन्तु नित ताना तनई । जप तप साधि सैकरा भरई ॥'

उद्धृत कर उसके 'सैकरा भरई' में भी इसी ओर के कुछ संकेत की कल्पना करते हैं । उनका कहना है कि 'उस समय कबीर यातना में पड़े थे और लगभग १०० वर्ष के थे ।'[3]

सं० १५७५ को मृत्यु-काल मानने के संबंध में हम अपने विचार इसके पहले ही प्रकट कर चुके हैं । सं० १५७५ को सं० १५५२ वा सं० १५५१ में बदल देने पर भी उसकी पुष्टि में दिये गए प्रमाणों को सहायता नहीं मिलती और न वे कुछ अधिक युक्तिसंगत दीख पड़ने पर भी अकाट्य बन जाते हैं । नानकदेव कबीर को सतगुरु समझते थे, इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया गया । जहाँ तक पता है, गुरु नानक देव ने अपनी रचनाओं में कबीर साहब की

---

१. चंद्रबली पांडेय 'कबीर का जीवनवृत्त' (ना० प्र० पत्रिका' भा० १४) पृ० ५३९-४०

२. वही, पृ० ५४१

३. वही, पृ० ५४४

कहीं चर्चा तक भी नहीं की है और "हका कबीर करीम तू बेऐब परवरदीगार"[1] जैसे स्थल पर जहाँ उन्होंने 'कबीर' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ भी स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय 'कबीर' साहब से न होकर परमात्मा से ही हो सकता है। फिर कबीर साहब के प्रति उनके भाव बहुत उच्च रहे भी हों, तो भी उक्त दोनों संतों का समसामयिक भी होना तथा विशेषकर उनकी भेंट का भी अवश्य होना सिद्ध नहीं हो जाता। इसी प्रकार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की हस्तलिखित प्रति में दिये गए सं० १५६१ के प्रामाणिक होने में जब तक सदेह करने के लिए पूरी गुंजाइश देखी जा रही है, तब तक उसे कबीर साहब के जीवनकाल में लिखी मानकर उसके आधार पर भी तर्क करना उचित नहीं जान पड़ता।

हमारा तो अनुमान है कि इस प्रसंग में जायसी के 'अखरावट' वाले उद्धरणों से भी उचित से अधिक अर्थ निकाला गया है। स्व० रामचंद्र शुक्ल ने स्व-संपादित 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका में[2] कहा था कि "कबीर को वे (जायसी) एक बड़ा साधक मानते थे" और इसके प्रमाण में उन्होंने उक्त "जा नारद तब रोइ पुकारा...सैकरा भरई" को भी उद्धृत किया था। श्री पांडेयजी उस स्थल से कुछ और भी पंक्तियाँ लेते हैं और उक्त कथन को अंतिम निर्णय-सा समझते हुए गर्व के साथ सूचित करते हैं कि 'अखरावट का रचना-काल' नामक लेख में हमनें भी यही प्रतिपादित किया है।"[3] इस संबंध में मतभेद प्रकट कर 'जुलाहे' को केवल प्रतीक-मात्र माननेवाले स्व० लाला सीताराम के प्रति वे कुछ कटाक्ष-सा भी कर देते हैं और आवेश में यहाँ तक कह डालते हैं कि "हमारे विचार में किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए इसमें संदेह करने की सामग्री कुछ भी नहीं है।" उनके अनुसार "जायसी ने यहाँ पर कबीर को पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्ष का जुलाहा माना है और यह भी संकेत किया है कि किस प्रकार उन (कबीर) का आदर-सत्कार तथा ताड़न राज-दरबारों में होता था। उनको बुलाकर राजधर्म की पूछताछ करता था और उनसे सहमत न होने पर आँख दिखाता था।" श्री पांडेयजी ने यहाँ पर किसी 'राजा' का नाम तो नहीं

---

१. 'गुरु ग्रंथसाहब', रागु तिलंगा १, पृ० ७२१

२. पं० रामचंद्र शुक्लः 'जायसी-ग्रंथावली' भूमिका, पृ० ११

३. श्री चंद्रबली पांडेयः 'जायसी का जीवन-वृत्त' (ना० प्र० पत्रिका, भा० १४) पृ० ४१५

लिया है, किंतु अनुमान किया है कि "जुलाहे से जायसी का आशय कबीर से है" तथा इसी प्रकार 'राजा' से भी उसका मतलब यहाँ संभवतः सिकंदर लोदी से ही होगा। परंतु उक्त उद्धरणों में कहीं भी इस ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता, बल्कि "तेहि राजा नीति सँवरै" से तो यह भी बोध होता है कि वह 'राजा' उक्त 'जुलाहे' को 'नित्यशः' अपने दरबार में बुलाकर धर्म-संबंधी प्रश्न पूछा करता था जो बनारस तक बहुत कम पहुँच पानेवाले युद्ध-निरत सिकंदर के विषय में कहना ठीक नहीं जान पड़ता।

श्री पांडेयजी एक दूसरे स्थल पर[1] भी लिखते हैं कि "यह कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि उक्त जुलाहा महात्मा कबीर दास ही हैं," तथा "अब तो यह स्पष्ट ही है कि अखरावट की रचना कबीर के जीवन-काल में ही हो रही थी।" 'अखरावट का रचना-काल' नामक उनका लेख देखने को नहीं मिला जिससे पता चलता कि किन-किन प्रमाणों के आधार पर कौन-सा निश्चित समय उन्होंने इसके लिए माना है। यहाँ पर 'पद्मावत' का रचना-काल वे सन् १५२० (सं० १५७७) से पीछे सन् १५४० (सं० १५९७) तक ठहराते हैं और 'अखरावट' का रचना-काल उसके पहले बतलाते हैं तथा उसी स्थल पर यह भी कह देते हैं कि "कबीरदास की निधन-तिथि के संबंध में अंतिम तिथि सं० १५७५ मानी जाती है जो सन् १५१८ में पड़ती है।" इस प्रकार यदि श्री पांडेयजी के कुल तर्कों को एकत्र कर उनपर विचार किया जाय, तो जान पड़ेगा कि 'अखरावट' की पंक्तियों द्वारा कबीर साहब का समय तथा कबीर साहब के आनुमानिक समय के आधार पर 'अखरावट' का रचना-काल निर्धारित किया जा रहा है और यह तर्क-प्रणाली चक्रावर्तन-सी बन जाती है। इसके सिवाय इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि जायसी ने नारद के रोकर पुकारने के समय का निर्देश 'तब' शब्द द्वारा किया है जो भूतकाल का द्योतक होगा और चूँकि जुलाहे का पूरा वर्णन उसी के मुख से कराया गया जान पड़ता है, अतएव उक्त उद्धरणों में आये हुए 'सैकरा भरई' से ही 'अखरावट' की रचना के समय कबीर साहब की आयु का लगभग सौ वर्षों का होना बतला देना अपनी कल्पना-शक्ति का असंयत प्रयोग करना ही कहा जायगा। 'सैकरा भरइ' का सौ वर्ष पूरा करने के अर्थ में प्रयोग कहीं अन्यत्र नहीं देखा गया और यहाँ तो 'बुनाई' के किसी पारिभाषिक

---

१. चंद्रबली पांडेय : 'पद्मावत की लिपि तथा रचनाकाल', (ना० प्र० पत्रिका; भा० १२) पृ० ११६

शब्द-समूह के रूप में ही हम इसे यदि मान लें, तो अधिक युक्ति-संगत होगा; क्योंकि उक्त जुलाहे का सैकरा भरना यहाँ जप-तप की साधना द्वारा व्यक्त किया गया है। अंत में श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी के अनुसार[1] जायसी के कथन "भा अवतार मोर नौ सदी। तीस वर्ष ऊपर कवि बदी।" के 'नौ सदी' का अर्थ यदि वास्तव में ६०० हिजरी वा सन् १४६४ (सं० १५५१) ही है, तो सं० १५५२ अर्थात् श्री पांडेय जी के अनुसार कबीर साहब के मृत्यु-कालवाले संवत् में जायसी केवल लगभग २ वर्ष के ही थे और उस समय भी 'अखरावट' की रचना का होना नितांत असंभव है; उसके पहले के लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। कहना न होगा कि श्री पांडेय जी द्वारा स्वामी युगलानंद वाले चित्र एवं 'कबीर-ग्रंथावली' से उद्धृत पंक्तियों के आधार पर निकाले गए परिणाम भी इसी प्रकार कल्पित एवं पूर्वग्रह-प्रभावित ही समझ पड़ते हैं।

उक्त (४) वाले मत के समर्थक किसी दोहे आदि को आधार मानकर नहीं चलते। उन्हें शुद्ध ऐतिहासिक उल्लेखों की असंदिग्धता में ही विश्वास है। हंटर ने अपने इतिहास[2] में कबीर साहब के पूरे जीवन-काल की सन् १३०० एवं सन् १४२०, अर्थात् सं० १३५६ एवं वे सं० १४७७ के बीच बतलाया था। किंतु उसने कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिये। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी अपने एक निबंध[3] में अनेक बातों की आलोचना करने के उपरांत इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह समय विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के आगे जाता हुआ नहीं जान पड़ता और सिकंदर-प्रसंग को वे कई कारणों से प्रामाणिक मानने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि "कबीर जी के समय और उनके जीवन की घटनाओं का आधार जिन ग्रंथों पर है, उनमें से कोई भी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले का नहीं है" और इसके अनंतर उन्होंने कई ऐसी रचनाओं के नाम भी उनके रचनाकाल के साथ दिये हैं। उक्त 'सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध' ईस्वी सन् से संबंध रखता है जो विक्रम की १७ वीं शताब्दी के लगभग द्वितीय चरण में पड़ेगा। प्रायः इसी समय से नाभादास की 'भक्तमाल'

---

१. सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी: 'मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन-चरित' (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५), पृ० ४३

२. डा० हंटर : 'इंडियन एम्पायर', अध्याय ८

३. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी : कबीर जी का समय 'हिंदुस्तानी', भा० २, अं० २, पृ० २०४-२१९

(सं० १६४३), अनंतदास की 'परचई' (सं० १६४५), 'आइन-ए-अकबरी' (सं० १६५५) तथा 'आदिग्रंथ' (सं० १६६१) जैसी रचनाओं का भी पहले पहल आरंभ होता है और इनमें भी कबीर साहब के किसी जन्म वा मरण संवत् का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। डा० त्रिपाठी ने सन् १३६० से सन् १३६४ अर्थात् सं० १४१७ से सं० १४५१ तक के समय के विषय में लिखा है कि "ये चालीस वर्ष पूर्व देश में क्रांति के थे" और "इन दिनों राजनीतिक क्रांति और धार्मिक क्रांति साथ-साथ चलती रही" और कबीर साहब जैसे "प्रबल प्रचारक और उनके जैसे प्रबल प्रचार के लिए" वही समय "सबसे उपयुक्त था"। उक्त मत के एक दूसरे समर्थक डा० मोहन सिंह (सं० १६६१) ने भी सिकंदर-प्रसंग को निराधार माना है और कई बातों पर आलोचनात्मक विचार करने के अनंतर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कबीर साहब की मृत्यु का समय सन् १४२० एवं १४४६ (अर्थात् सं० १४७७ एवं १५०६) के भीतर रहा होगा और वे सन् १३८० बल्कि सन् १३६० और सन् १३६८ अर्थात् सं० १४३७ बल्कि सं० १४१७ और सं० १४५५ के बीच में ही उत्पन्न हुए होंगे।[१] सिकंदर के समय में वे किसी बोधन का संभल में सन् १४६६ : १५०१ (सं० १५५६-५८) में मारा जाना कहते हैं।[२]

फिर भी उक्त चारों मतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि (१) तथा (३) अर्थात् क्रमशः सं० १५७५ वा सं० १५५१ वा १५५२ वाले मतों के समर्थकों में से सिकंदर लोदी वाले प्रसंग में प्रायः सभी को विश्वास है। यदि अंतर है तो केवल इतना ही कि (३) वाले जहाँ कबीर साहब का सिकंदर लोदी द्वारा दमन के कारण उसी क्षण वा शीघ्र ही मगहर जाकर मर जाना समझते हैं, वहाँ (१) के अनुसार वे उक्त घटना वा कम से कम दोनों की भेंट के अनंतर भी बीसों वर्ष तक जीवित रहकर इधर-उधर घूमते फिरे और अंत में मगहर जाकर मर गए और इस संबंध में विशेषतः डा० फर्कुहर[३] तथा

---

१. डा० मोहनसिंह : 'कबीर, हिज़ बायोग्राफी' पृ० ४०१

२. वही, पृ० २७

३. The Emperor (Sikandar Lodi) vanished him from Banaras and he thereafter lived a wandering life and died at Maghar near Gorakhpur. : An Outline of the Religious Literature, p. 332.

एवलिन अंडरहिल[1] के अनुमान देखे जा सकते हैं। उक्त दोनों मत वाले कबीर साहब को स्वामी रामानंद का शिष्य और एक वैष्णव भक्त होना ही बतलाते हैं। केवल (३) के समर्थक मौ० गुलाम सरवर (सं० १६०७) ने "शेख़ जोलाहा शेख़ तक़ी के उत्तराधिकारी और चेले थे"[2] कहकर उनकी गिनती सूफ़ियों में की है और (१) के एक समर्थक रे० वेस्टकाट (सं० १६६६) ने भी उक्त विचार के संबंध में बहुत दूर तक अपनी आस्था प्रकट की है। उक्त (३) के अन्य समर्थक श्री चंद्रबली पांडेय ने भी कहा है कि "क्या भाषा, क्या भाव, क्या विचार, क्या परंपरा, सभी दृष्टियों से कबीर 'जिंद' ही ठहरते हैं"[3] और 'जिंद' शब्द को 'जिन्दीक' शब्द का रूपांतर बतलाकर इसका अर्थ उन्होंने 'बेशरा' वा 'आज़ाद सूफ़ी' किया है। इसके सिवाय उक्त (१) के समर्थकों में से कुछ ने कबीर साहब के साथ गुरु नानकदेव की भेंट होने का भी उल्लेख किया है और कुछ ने उनके शव के अंतिम संस्कार के विषय में बिजली खाँ तथा बीरसिंह बघेला के किसी कलह की भी चर्चा की है। इसी प्रकार (२) तथा (४) के समर्थकों में कोई भी विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता, क्योंकि दोनों ने ही सिकंदर-प्रसंग को असंभव अथवा बहुत संदिग्ध बतलाया है। गुरु नानक का उनके द्वारा अधिक से अधिक प्रभावित मात्र होना अनुमान किया है। बिजली खाँ द्वारा निर्मित रौज़े के समय (सं० १५०७) के प्रति स्पष्ट शब्दों में अपना अविश्वास नहीं दिखलाया है और किसी न किसी तक़ी का कबीर साहब का समकालीन होना भी मान लिया है। दोनों के मध्य अंतर केवल कोई निश्चित संवत् देने वा न देने मात्र का है तथा एक यह भी कि (२) का पक्ष ग्रहण करने वाले किसी जनश्रुति वा दोहे पर भी आश्रित समझ पड़ते हैं। वास्तव में पूरी छान-बीन करने पर असंदिग्ध रूप से मृत्यु-समय बतलाने वाले केवल संवत् १५७५ तथा सं० १५०५ के ही दो समर्थक रह जाते हैं। इनके बीच मतभेद के मुख्य कारण भी स्वामी रामानंद, शेख़ तक़ी,

---

१. "Thenceforth he appears to have moved about amongst various cities of Northern India, the centre of a group of disciples continuing in exile...he died at Maghar near Gorakhpur." One Hundred Poems of Kabir Introduction, p. XVIII.

२. 'ख़ज़ीनतुल असफ़िया', पृ० २४-६

३. श्री चंद्रबली पांडेय : 'विचार-विमर्श', पृ० ४४

सिकंदर लोदी, गुरु नानक और बिजली खाँ तथा बीरसिंह बघेला में से किसी न किसी के साथ एक विशेष आनुमानिक संपर्क वा समसामयिकता में ही निहित हैं। मैकालिफ ने तो सं० १५७५ को मृत्यु-संवत् मानते हुए भी सं० १५०५ के समर्थन में किसी मराठी 'भरतखंड अर्वाचीन कोश' का हवाला अपने ग्रंथ[1] में दिया है और डा० बड़थ्वाल ने सं० १५०५ वाले दोहे के "औ पाँच मो" का सं० १५७५ वाले के 'पचहत्तरा' में कालानुसार परिवर्तित मात्र हो जाने का अनुमान किया है।[2]

अतएव जान पड़ता है कि समकालीन एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो सकने के कारण उक्त लेखकों द्वारा अधिकतर अनुमान एवं जनश्रुति के ही आधार काम में लाये गए हैं। उन लोगों ने अपने काल्पनिक मतों की पुष्टि में कतिपय ऐतिहासिक व्यक्तियों को मनमाने ढंग से अपना साधन बना डाला है तथा कुछ भक्तों तथा श्रद्धालुओं की रचनाओं में अतिरंजित की गयी निराधार घटनाओं को भी ऐतिहासिक तथ्य समझ लेने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए, स्वामी रामानंद एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, इसमें कोई भी संदेह नहीं। उनका एक शक्तिशाली एवं क्रांतिकारी सुधारक होना तथा उनके द्वारा अपने समय (सं० १३५६ : १४६७) में कम से कम उत्तरी भारत के अंतर्गत एक प्रबल धार्मिक आंदोलन का चलाया जाना और सर्वसाधारण का उससे बहुत कुछ प्रभावित होना ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। परंतु केवल इसी कारण कबीर साहब का उनका दीक्षित शिष्य भी होना नहीं कहा जा सकता, जब तक इसके लिए हमें सीधे तथा असंदिग्ध प्रमाण नहीं मिल जाते। कबीर साहब ने स्वयं इस विषय में कुछ भी नहीं कहा है और डा० बड़थ्वाल आदि कुछ विद्वानों का इसकी पुष्टि में 'बीजक', 'कबीर-ग्रंथावली' एवं 'आदिग्रंथ' के एकाध पदों[3] का खींचातानी-पूर्वक अर्थ लगाना पर्याप्त नहीं समझ पड़ता। कबीर साहब के तथाकथित गुरुभाई सेन नाई, पीपा, रैदास, धन्ना अथवा उस काल के किसी अन्य व्यक्ति ने भी इसे नहीं बतलाया। सेन नाई के

---

१. 'दि सिख रेलिजन' (भा० ४) पृ० १२२

२. 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोयट्री' पृ० २१२

३. 'बीजक', पद ७७ (बेलवेडियर प्रेस, पृ० ५१) और 'कबीर-ग्रंथावली', पद १८१, पृ० १५२ तथा 'गुरु ग्रंथ साहब' पद ६४, पृ० ४६२

एक पद[1] से केवल इतना जान पड़ता है कि 'राम की भक्ति के वास्तविक जानकार स्वामी रामानंद ही हैं, जो पूर्ण परमानंद की व्याख्या करते हैं' और इसके आधार पर इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि सेन नाई उक्त स्वामीजी के समकालीन रहे होंगे और उन्होंने उनकी प्रसंशा में ये पंक्तियाँ कही हैं। इस पद में स्वामीजी को अपना गुरु भी नहीं स्वीकार करते। इसी सेन नाई और कबीर साहब के सम्बन्ध में उक्त रैदास ने इस प्रकार लिखा है, जैसे वे कभी के मर चुके हों। सेन नाई और कबीर साहब, इन दोनों को वे नामदेव, त्रिलोचन और सधना की भाँति ही तर गए हुए अथवा मुक्त हो गए हुए कहते हैं[2] और कबीर साहब को तो एक दूसरे पद में अपने समय तक तीनों लोकों में प्रसिद्ध तक बतलाते हैं।[3] इसी प्रकार सेन नाई, कबीर तथा रैदास को भी धन्ना भगत ने अपने से पहले ही प्रसिद्ध भक्तों की श्रेणी तक पहुँच गया हुआ कहा है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्हीं लोगों की प्रसिद्धि से प्रेरित होकर मैंने भक्ति की साधना अंगीकार की और भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये[4]। पीपाजी के विषय में 'बीजक' में आये हुए प्रसंग[5] से पता चलता है कि जिस पद

---

१. "राम भगति रामानंद जानै,पूरन परमानंद बखानै" ('श्री गुरु ग्रंथ-साहिब' श्री सैणु धनासरी १, पृ० ५६४)

२. 'नामदेव कबीर तिलोचन साधना सैणु तरे'। 'गुरु ग्रंथसाहिब', राग मारु १, पृ० ११०४

३. 'तिहूँरे लोक परसिध कबीरा', वही, राग मलार २, पृ० १२९२

४. 'बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनी जग हीरा ॥ १ ॥
रविदासु ढुंवता ढोरनी तिनी तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध संगि हरि दरसनु पाइआ ॥ २ ॥
सैनु नाई बुतकारिआ उहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदै बसिआ पार ब्रह्म भगता महि गनिआ ॥ ३ ॥
इहि विधि सुनि कै जाटरौ उठि भगती लागा।
मिलै प्रतीव गुसांइआ धना बड़भागा ॥ ४ ॥ वही, आसा २, पृ० ४८७-८

५. ब्रह्मा बरुन कुबेर पुरन्दर पीपा औ प्रहलादा।
हिरनाकुस नख उदर बिदारा, तिनहुँ को काल न राखा।

में उनका नाम आया है, उसकी रचना उनकी मृत्यु के अनंतर अवश्य हुई होगी। उस पद में उनका नाम जयदेव, नामदेव, गोरख जैसे दिवंगत महापुरुषों के साथ तो आया ही है, उसे प्रह्लाद के नाम के साथ भी जोड़कर "तिनहुँ को काल न राखा" बतलाया है जिससे स्पष्ट है कि यदि वह रचना कबीर साहब की है, तो पीपा जी उनके पहले अवश्य मर चुके होंगे। किंतु डा० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रंथ 'संत कबीर' में जो एक पद[1] किसी 'सरबगुटिका' नाम की हस्तलिखित पुस्तक से उद्धृत किया है उससे विदित होता है कि वास्तव में पीपा ने कबीर से ही अपनी नामोपासना की चेतना प्राप्त की थी। इस प्रकार संभव है, इन दोनों में कबीर साहब ही अवस्था में पीपाजी से बड़े हों। कुछ भी हो, उक्त विवरणों के अनुसार कालक्रम से स्वामी रामानंद, सेना नाई, कबीर साहब, पीपाजी (अथवा पीपाजी, कबीर साहब), रैदास जी एवं धन्ना भगत के नाम दिये जा सकते हैं और इन सभी महापुरुषों के एक साथ अधिक दिनों तक समकालीन कहलाने में पर्याप्त संदेह की गुंजाइश है। सीधा गुरु-शिष्य का संबंध भी स्वामी रामानंद का उक्त पाँचों के साथ इसी कारण निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। कबीर साहब और स्वामी रामानंद के शिष्य-गुरु-संबंध सबसे पहले प्रकट करनेवाले हरिराम व्यास वा व्यासजी कहे जाते हैं जो

गोरख ऐसे दत्त दिगम्बर, नामदेव, जयदेव दासा।
तिनकी खबर कहत नहिं कोई, कहाँ किया है बासा॥ आदि,
'बीजक' पद ८६, पृ० ६२

१. जो कलि माँझ कबीर न होते।
तौले...वेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातल देते।
... ...
नाम कबीर साच परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया।
'श्री पीपाजी की वाणी' (संत कबीर, पृ० ४४, प्रस्तावना)

२. 'साँचे साधु जु रामानंद।
... ...
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद' आदि, तथा
'इतनो है सब कुटुम हमारो।
सैन, धना, औ नाभा, पीपा, कबीर, रैदास चमारो।' आदि
'सूरदास', पृ० २३ (राधाकृष्ण दास कृत)

सं० १६१२ में वर्तमान थे और जिन्होंने कबीर साहब को अपने भक्त कुल का भी माना है।[1] परंतु स्वामी रामानंद की मृत्यु के प्रायः सौ वर्षों के अनंतर की रचना में एक भक्त द्वारा ऐसी बातों का यों ही भी सम्मिलित कर लिया जाना कोई असंभव बात नहीं।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, मीरांबाई के समय अर्थात् संवत् १५५५: १६०३ से ही कबीर साहब के संबंध में अलौकिक बातें कही जाने लगी थीं और मीरांबाई ने धन्ना भगत एवं पीपा जी को भी वैसा ही भक्त समझा था।[2] अब यदि धन्ना भगत सचमुच स्वामी रामानंद के तथाकथित शिष्यों में सबसे पीछे तक वर्तमान रहे हों और उनके संबंध में भी स्वयं भगवान द्वारा बिना बीज के भी गेँहूँ उपजाने की बात कही जाने लगी हो, तो उसके लिये पर्याप्त समय व्यतीत हो चुकने का अनुमान करना अनुचित न होगा। उसके लिये यदि सौ नहीं, तो कम से कम ७० : ८० वर्षों तक अपेक्षित होना तो आसानी से मान लिया जा सकता है। जान पड़ता है कि उक्त समय तक उन सभी संतों की गणना प्राचीन भक्तों में प्रथानुसार होने लगी थी, उनके जीवन की घटनाओं पर पौराणिकता की छाप लगने लगी थी और उन पर चमत्कारों का रंग भी चढ़ाया जाने लगा था। इतना ही नहीं, प्रायः निश्चित रूप से मीरांबाई से कहीं पहले मुक्त हो जानेवाले रैदास जी के विषय में उन्हीं की रचनाओं में कहा जाने लगा था कि वे उनसे स्वयं मिले थे। मीरांबाई का स्पष्ट शब्दों में कहना है कि 'मुझे रैदास जी गुरु मिले, जिन्होंने ज्ञान की गुटकी प्रदान की और 'सुरत सहदानी' से परिचित कराया[2]।' यह मृत संतों द्वारा उपदेश देने और सतगुरु के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन देकर दीक्षित करने की परंपरा आगे और भी प्रचलित होती गई और हम देखते हैं कि मीरांबाई के संभवतः कुछ इसी प्रकार धर्मदास को कबीर साहब ने 'विदेही'

---

१. 'दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद।' मीरांबाई की पदावली, पद १३७, पृ० ६७-८

'पीपा को प्रभु परच्यो दीन्हो, दिया रे खजीना पूर।' वही, पद १३२, पृ० ६६

२. 'गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी।' मीरांबाई की पदावली, पद २४, पृ० १२-१३

'रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।' वही, पद १४६ पृ० ७७

होते हुए भी 'झीने रूप' में दर्शन दिये। चरणदास (सं० १७६० : १८३९) को शुकदेव मुनि ने उपदेश दिये और गरीबदास (सं० १७७४ : १८३५) को कबीर साहब ने ही फिर आकर अपना चेला बनाया। धर्मदास ने अपने विषय में कबीर साहब के साथ की भेंट की स्वयं चर्चा की है[१] और इस बात की पुष्टि 'अनुराग-सागर'[२] तथा 'अमर सुखनिधान'[३] की कुछ पंक्तियों से भी हो जाती है। मीरां-बाई के समय (सं० १५५५ : १६०३) तक कबीर साहब के विषय में चमत्कार-पूर्ण वर्णनों का आरंभ हो जाना, व्यासजी (सं० १६१२ में वर्तमान) के समय से उनके रामानंद-शिष्य कहे जाने की प्रथा का चलना, अनंतदास (सं० १६४५) के लगभग से सिकंदर लोदी के प्रसंग का दीख पड़ना[४], अबुल फज़ल (सं० १६५५ में वर्तमान) के समय से उनके शव के लिए हिंदू एवं मुसलमानों के बीच कलह उत्पन्न होने की चर्चा का फैलना[५] तथा और आगे चलकर उनके शेख़ तकी

---

१. 'साहेब कबीर प्रभु मिलै बिदेही, झीना दरस दिखाइया।' धरमदास की बानी, पृ० ४६

२. 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी।

... ...

पुरुष अवाज उठी तिहि बारा। ज्ञानी वेगि जाहु संसारा॥

... ...

ज्ञानी वेगि जाहु तुम अंसा। धर्मदास के मेटहु संसा॥'

'अनुरागसागर' पृ० ८४-५

३. 'जिंदरूप जब धरा सरीरा। धरमदास मिलि गए कबीरा॥

'अमर सुखनिधान' (उक्त धरमदास की बानी के पृ० २ : ६ में उद्धृत)।

४. 'स्याह सिकंदर कासी आया। काजी मुला कै मनि भाया॥

... ...

'बांध्यो पग मेल्यो जंजीरू। ले बोर्‌यो गंगा के नीरू॥'

'श्री कबीर साहिबजी की परचई' (संत कबीर, पृ० ३० : १ पर उद्धृत)।

५. "He was revered by both Hindus and Muhammadans for his catholicity of doctrine and the illumination of his mind, and when he died the Brahamans wished to burn his body and the Muhammadans to bury it". 'Ain-e-Akberi' (Translated by Col. H. I. Jerret) vol. II p. 129.

का शिष्य होने अथवा गुरु नानक से भेंट करने की कल्पनाओं का भिन्न-भिन्न रचनाओं में स्थान पाने लगना उपलब्ध सामग्रियों की जाँच-पड़ताल करने पर क्रमशः आये हुए प्रसंगों के रूप में दीख पड़ते हैं। इन सभी में काल पाकर कुछ न कुछ बातें बढ़ती ही गई हैं और अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इनमें से किसी न किसी को लोग ऐतिहासिक महत्त्व भी देते गए हैं। कालांतर में पड़ती गई कल्पना-निर्मित 'गर्द ओ गुबार' को यदि मूल ऐतिहासिक बातों के ऊपर से हम किसी प्रकार हटा सकें, तो भिन्न-भिन्न संकेतों का सारा झगड़ा आसानी से तय हो जाय और केवल थोड़ी-सी भी स्वच्छ तथा निखरी सामग्रियों के आलोक में हमें सत्य का आभास हो जाय।

कबीर साहब के समकालीन समझे जानेवाले संतों एवं भक्तों में कमाल तथा पद्मनाभ के भी नाम लिए जाते हैं। इनमें से कमाल का कबीर साहब का पुत्र तथा पद्मनाभ का उनका शिष्य होना प्रसिद्ध है। कमाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि वे अपने को कबीर साहब का 'पूत' वा 'बालक' कहा भी करते थे।[1] इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि वे कबीर साहब की आज्ञा लेकर संतमत का प्रचार करने अहमदाबाद की ओर गए थे[2] तथा दादूदयाल (सं० १६०१:१६६०) की गुरु-परंपरा में (कमाल, जमाल, विमल, बुड्ढन वा बोधन और दादूदयाल के अनुसार) उनके ऊपर पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे।[3] एक दूसरे मत के अनुसार कमाल की

---

१. 'उत्तर स्याने भयो कबीरा, राम चरण का बंदा है।
उनीका पूत कहै कमाल दोनों का बोलबाला ॥' ३: 'गाथा पंचक' पद २, पृ० ७५
'कहै कमाल कबीर का बालक, मन किताब सुनावेगा।' वही, पद ५२, पृ० ८७
'गंगा जमुन के अंतरे निर्मल जल पाण।
कबीर को पूत कमाल कहै, जिन इह गति जांणी ॥'
'कमाल बानी' (डा० बड़थ्वाल द्वारा 'निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोयट्री' पृ० ३०४ पर उद्धृत)

२. 'चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुँचे आई ॥'
'बोधसागर' पृ० १५१५

३. डा० बड़थ्वाल : 'दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिंदी पोयट्री' पृ० २५८:६

गिनती शेख़ कमाल के नाम से सूफ़ी संप्रदाय के लोगों में भी की जाती है और उनकी कब्र का कड़ा मानिकपुर में होना भी बतलाया जाता है।[1] 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में[2] रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की जो गुरु-परंपरा उद्धृत की है, उससे पता चलता है कि शेख़ कमाल के गुरुभाई शेख़ मुबारक थे और ये दोनों शेख़ हाजी के शिष्य थे जो स्वयं सैयद अशरफ़ जहाँगीर के चेले थे। इन अशरफ़ जहाँगीर का मृत्युकाल सन् १४०१ ई० (सं० १४५८) बतलाया जाता है।[3] अतएव इस हिसाब से यदि प्रत्येक पीर की पीढ़ी २५ वर्षों की मान ली जाय, तो शेख़ कमाल का सं० १५०८ तक रहना सिद्ध किया जा सकता है। उसी प्रकार दादूदयाल की गुरु-परंपरा पर भी विचार करने पर यदि दादूदयाल की जीवनी लिखनेवाले जन गोपाल का कहना ठीक हो कि उनके गुरु अत्यंत वृद्ध के रूप में उनसे प्रथम ११ वर्ष की अवस्था में और फिर अंत में ७ वर्ष पीछे मिले थे और उक्त गुरु की मृत्यु दूसरी घटना के एक वर्ष पीछे संभव हो, तो कमाल का सं० १५४५ तक रहना भी कहा जा सकता है और उक्त दोनों संवतों में ३७ वर्षों का अंतर आता है। पता नहीं उक्त दोनों कमाल एक ही थे वा नहीं और यदि नहीं, तो इनमें से कोई भी एक वे समझे जा सकते हैं कि नहीं। यदि इनमें से किसी एक की भी संगति बैठ जाय, तो कमाल के "उत्तर म्यांने भयो कबीरा" से हम कबीर साहब के मृत्यु-काल के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। पद्मनाभ के विषय में नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय दिया है और रूपकलाजी ने उनका सं० १५७४ के लगभग वर्तमान रहना बतलाया है।[4] एक नागर ब्राह्मण पद्मनाभ का और भी पता चलता है। उन्होंने सं० १५१२ में 'कहानदड़े प्रबंध' नाम का एक ऐतिहासिक ग्रंथ गुजराती भाषा में लिखा है।[5] इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं। फिर भी डा० मोहनसिंह को संदेह है कि कहीं ये ही न

---

१. डा० मोहनसिंह : 'कबीर, हिज बॉयोग्राफी', पृ० ६३

२. रामचन्द्र शुक्लः 'जायसी-ग्रंथावली' (भूमिका) पृ० ८७

३. सैयद आले मुहम्मद जायसी : 'मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन-चरित्र', ('ना० प्र० पत्रिका' वर्ष ४५, अंक १) पृ० ४१-२

४. नाभादास : 'भक्तमाल' (रूपकला की टीका 'भक्ति-सुधा-स्वाद' सहित) पृ० ५४०

५. के० एम० झावेरी : 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर', पृ० ४८

कबीर साहब के उक्त शिष्य रहे हों।[1] परंतु कबीरपंथी परंपरा के अनुसार पद्मनाभ ने 'राम-कबीर-पंथ' भी चलाता था जो अयोध्या में फैला उक्त इतिहास-कार पद्मनाभ का गुजरात प्रदेश की ओर का होना लक्षित होता हैं। उन्हीं का कबीर साहब द्वारा शिष्य बना लिया जाना किसी अन्य प्रमाणों से भी अभी तक सिद्ध नहीं, इसलिए इस विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रूपकलाजी के दिये हुए सं० १५७४ के लिए भी कोई अन्य आधार अपेक्षित है और उसे भी हम तब तक उक्त पद्मनाभ का आविर्भाव-काल मानने को बाध्य नहीं, जब तक कोई अन्य प्रमाण भी इस संबंध में उपलब्ध न हो जाय।

सारांश यह कि कबीर साहब का जीवन-काल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसी कारण इस विषय में हम अंतिम निर्णय असंदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। तो भी जो कुछ साहित्य इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आज तक प्रस्तुत किया गया हमारे सामने दीख पड़ता है, उससे इतना स्पष्ट है कि सभी बातों पर पूर्वापर विचार करते हुए उनके मृत्यु-काल को पीछे की जगह कुछ पहले की ओर ही ले जाने के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं। हम तो समझते हैं कि उक्त समय का विक्रमीय संवत् की सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में रखा जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता और इस दृष्टि से सं० १५०५ भी कदाचित् ठीक हो सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर कबीर साहब का स्वामी रामानंद का समकालीन तथा उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना अपने निराले क्रांतिकारी विचारों की सहायता से संतमत की बुनियाद को सुदृढ़ बना उसे पूर्ण बल प्रदान करना, सेन, पीपा रैदास, धन्ना एवं कमाल जैसे साधकों को अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट करना, कुछ पीछे आनेवाले जायसी (सं० १५५१:१६४०) जैसे सूफ़ी तथा सूरदास (सं० १५४०:१६२०) एवं मीरांबाई (सं० १५५५:१६०३) जैसे कृष्णानुरागी भक्तजनों तक को अपनी विचार-धारा के प्रवाह में डाल देना आदि सभी बातें संभव हो सकेंगी। हाँ, कबीर साहब का जन्मकाल उस दशा में परंपरागत सं० १४५५ वा १४५६ से कुछ पहले ले जाना पड़ेगा और वैसी स्थिति आने पर, संभव है, उक्त संवत् उनके सर्वप्रथम प्रबुद्ध होने का ही समय समझा जाने लगे। उनके

---

१ डा० मोहनसिंह : 'कबीर, हिज बॉयोग्राफी' पृ० ८९

'काशी आने', 'काशी में प्रकट होने' अथवा 'सत्पुरुष के तेज के गमन से लहरतारा में उतराने' आदि का तात्पर्य तब वही होगा जो उनके प्राथमिक जीवन का कायापलट होकर उनके एक नितांत नवीन जीवन प्राप्त करने का हो सकता है जिसकी ओर उनके 'गुरुदेव', 'परचा', 'उपजणि' आदि अंगों के अंतर्गत आनेवाली कतिपय साखियों द्वारा कुछ संकेत भी हमें मिलते हैं। यदि अनंतदास की 'परचई' प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्संबंधी कथन भी सत्य निकल आवे, तो इस विषय में 'तीस बरस तै चेतन भयो'' के सहारे हम उनके जन्म-काल के लिए भी सं० १४५५—३०=सं० १४२५ दे सकेंगे और वैसा होने पर कबीर साहब मैथिलकवि विद्यापति (सं० १४१७ : १५०५) के समसामायिक हो जायँगे। ऐसी दशा में संभवतः इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि असम के प्रसिद्ध भक्त शंकर-देव (सं० १५०६ : १६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादशवर्षीया तीर्थ-यात्रा (सं० १५४०: १५५२)[1] के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किये थे।

---

१. एच्० एम्० दास : 'शंकरदेव ए स्टडी', पृ० २४

कबीर साहित्य और संगीत

कबीर साहब के उपलब्ध पदों के संग्रहों में, उनके विभिन्न रागों के अनुसार किये गए, वर्गीकरण को पाकर इस प्रकार का प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि क्या उनकी रचना, संगीत कला के किन्ही स्वीकृत नियमों के अनुसार की गई होगी ? अथवा, क्या यह संभव है कि कबीर साहब को संगीत का भी कुछ परिचय रहा होगा ? उनकी रचनाओं के अब तक सबसे प्रामाणिक समझे जाने वाले तीन संग्रहों में से 'आदि ग्रंथ' के अंतर्गत उनके पद क्रमशः सिरी रागु, रागु गउड़ी, रागु आसा, रागु गूजरी, रागु सोरठि, रागु धनासरी, रागु तिलंग, रागु सूही, रागु बिलावलु, रागु गौंड, रागु रामकली, रागु मारू, रागु केदारा, रागु भैरउ, रागु वसंत, रागु सारंग तथा रागु प्रभाती के अनुसार विभाजित हैं। इसी प्रकार, 'कबीर ग्रंथावली' में उनका वर्गीकरण क्रमशः राग गौड़ी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठि, राग केदारौ, राग मारू, राग टोड़ी, राग भैरू, राग बिलावल, राग ललित, राग वसंत, राग माली गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग, राग मलार तथा राग धनाश्री के अनुसार किया गया मिलता है। 'कबीर बीजक' के शब्दों का ऐसा विभाजन उसके किसी भी प्रसिद्ध संस्करण में नहीं पाया जाता जिस कारण यह भी अनुमान किया जाता है कि वह संग्रह सबसे प्राचीन कहा जा सकता है। जोहैनी (उदयपुर) के संगीतज्ञ श्री कृष्णानंद व्यास (सं० १८५१-१६४५) ने अपने सं० १६१५ में समाप्त 'राग कल्पद्रुम' नामक प्रसिद्ध वृहद् ग्रंथ के अंतर्गत 'कबीर बीजक' के भी शब्दों का रागानुसार वर्गीकरण किया है और उन्हें क्रमशः रागनी असावारी ताल तितारा, धनाश्री तितारा, जंगला तितारा, पूरबी तितारा, गौरी तितारा, भूपाली तितारा, कलिंग गौरि तितारा, एमन तितारा, केदारा तितारा, सोरठ तितारा, विहाग तितारा, ठुमरी तितारा, देशी ठुमरी, खँभाइच तितारा, परज तितारा, रागिनी परज, मारू तितारा, कलिंगरा तितारा, काफ़ी तितारा, जोगिया तितारा, सीधू तितारा, जत तितारा, सिं० तितारा, आहीरी तितारा, दादरा तितारा, राग कलिंग तितारा, राग सुरठ तितारा तथा हींडोला धनाश्री जैसे शीर्षकों में स्थान दिया है जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने यहाँ भी कदाचित् अपनी स्वीकृत पद्धति का ही अनुसरण किया है।

रागों के अनुसार संगृहीत पदों को विभाजित करने की परंपरा बहुत पहले से आ रही थी। जयदेव कवि की संस्कृत रचना 'गीतगोविन्द' के पदों का वर्गीकरण राग एवं ताल के ही आधार पर किया गया है और उसमें विभिन्न लयों की ओर भी संकेत है। इसी प्रकार बौद्ध सिद्धों की भी चर्यागीतिकाओं के संग्रहों में राग पटमञ्जरी, राग गवड़ा, राग गूजरी, राग वराडी, राग मल्लारी जैसे शीर्षक दिये गए मिलते हैं। इन सिद्धों का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी तक चला जाता है और इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश है। इनके जीवन वृत्तों से संबंध रखने वाले विवरण पर्याप्त संख्या में नहीं मिलते जिस कारण यह कहना कठिन है कि इनमें से सभी संगीतज्ञ भी रहे होंगे। किंतु इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि इनकी उपलब्ध गीतिकाओं में पूर्ण गेयत्व का साधन वर्त्तमान है। सिद्धों के अनंतर हम गुरु गोरखनाथ जैसे नाथपंथियों की रचनाओं का भी वर्गीकरण प्रायः उसी नियम के अनुसार किया गया पाते हैं जैसा कि 'गोरखबानी' में आये हुए राग रामग्री, राग असावरी तथा राग रामगरी शब्दों द्वारा सूचित होता है। फिर भी मैथिल कवि विद्यापति की पदावलियों में इस नियम का पालन बहुत कम देखने में आता है। विद्यापति के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने गीतगोविन्दकार जयदेव का ही अनुकरण किया था और वे 'अभिनव जयदेव' कहकर भी विख्यात रहे। उनके पदों के विषय में उपर्युक्त परंपरा के पालन का अभाव कदाचित् इस बात का सूचक हो कि वे गाने योग्य 'विष्णुपदों' की कोटि में नहीं आते। उनकी प्रार्थनाओं तथा नचारियों तक में सदा उन 'टेकों' अथवा 'ध्रुवों' का पता नहीं चलता जो वैसे गेय पदों की विशेषता है। कबीर साहब के समय तक इन दोनों प्रकार के पद-संग्रहों की पद्धति निश्चित हो चुकी होगी। अतएव, यह संभव है कि जिस किसी ने भी उनके पदों वा शब्दों का, सर्वप्रथम, संग्रह किया हो उसके सामने उक्त वर्गीकरण का एक आदर्श अवश्य था। 'कबीर बीजक' वाला संग्रह तैयार करते समय उसने इसके महत्त्व की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। जिन संग्रह-कर्त्ताओं को यह बात सूझी उन्होंने अपने-अपने मत के अनुसार इनका वर्गीकरण विभिन्न रागों के शीर्षकों में कर दिया। किसी पद के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह केवल एक ही राग में गाया जाय। इसी कारण, हम देखते हैं कि 'कबीर-ग्रंथावली' में संगृहीत राग गौड़ी के १०, १२, २१, ३६, ६१, ६२, १११ तथा १४७ संख्यक पदों को 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत क्रमशः रागु आसा २२ तथा ६ रागु गूजरी २, रागु मारू १, रागु भैरउ ४, रागु विभास ४, रागु आसा १२ तथा रागु बिलावल के शीर्षकों

में स्थान दिया गया है। इसी प्रकार, उसका राग आसा वाला २५७ वाँ पद यहाँ रागु तिलंग का प्रथम पद है, उसका राग सोरठि का २६३वाँ पद यहाँ रागु गौड़ का पहला पद हो गया है और उसका धनाश्री वाला ४००वाँ पद भी यहाँ पर रागु सारंग का सर्वप्रथम पद है। इन कतिपय उदाहरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि कबीर साहब के पदों का रागानुसार किया गया वर्गीकरण उनके मूल रचयिता का काम नहीं होगा। यह बात दूसरी है कि उनमें से अधिकांश में पूर्ण गेयत्व का साधन भी वर्त्तमान है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उनकी रचना के समय संगीत कला की ओर कवि का ध्यान अवश्य गया होगा।

कबीर साहब के संगृहीत पदों का, केवल रागानुसार किया गया, वर्गीकरण ही नहीं पाया जाता अपितु उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक प्रकार के प्रसंग एवं प्रयोग तक मिलते हैं जिनसे उनके रचयिता का संगीत-प्रेम सूचित होता है। कबीर साहब ने अपने पदों के संबंध में स्वयं एक स्थल पर 'गीत' शब्द का प्रयोग किया है जहाँ वे कहते हैं कि "तुम यह न समझो कि मैं केवल 'गीत' की रचना कर रहा हूँ; इसमें मेरे ब्रह्म संबंधी निजी विचार भी निहित हैं"

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।[1]

यहाँ पर उन्हें इस बात का स्पष्ट बोध है कि मैं गीतकार हूँ। वे नाम स्मरण को भी, दूसरों के प्रति उसका बोध कराते हुए, गुणगान की संज्ञा देते हैं और इसके लिए कभी-कभी,

गुण गोबिंद के गाइ[2] **मुखि अंमृत गुण गाइ**[3]

तथा, **तू हरिषि हरषि गुण गाइ**[4]

जैसे प्रयोग करते दीख पड़ते हैं। उन्होंने आदर्श भक्त का परिचय देते हुए अपने एक पद की 'टेक' में ही कह दिया है,

निरमल निरमल रांम गुंण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै ॥टेक॥[5]

जहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनका अभिप्राय 'भजन' से ही रहा होगा और सच्चे हृदय से हरि नाम का गान करना उन्हें अवश्य प्रिय लगता होगा।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद ५, पृ० ८६

२. वही, साखी १४, पृ० ६ ३. वही, सा० ३१, पृ० ७

४. वही, सा० २ पृ० १७ ५. वही, पद १२४, पृ० १२७

कबीर साहब 'अनहद नाद' की चर्चा बहुत करते हैं और उसे वे कहीं कहीं 'बेन' की संज्ञा देते हुए भी दीख पड़ते हैं। उनका कहना है—

बार बार हरि के गुन गावउ। गुरगमिभेदु सुहरि का पावउ ॥रहाउ॥

× × ×

अहि निसि अपंड सुरही जाइ, तउ अनहद वेणु सहज महि वाइ ॥[1]

अनहद बेन बजाइ करि, रह्यो गगन मठ छाइ ॥[2]

तथा, ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा ॥

जब अनहद बाजा बाजै, तब सांईं संगि बिराजै ॥[3]

जहाँ पर जान पड़ता है कि अनाहत नाद के श्रवण को वे वेणु के स्वर संगीत श्रवण जैसा बतला रहे हैं। उनका साधक सद्‌गुरु द्वारा संकेत पाकर सुरति को उस नाद की ओर उन्मुख किये रहता है और इस प्रकार, 'जोग जुगति' के सहारे अपने भीतर ही हरि को पा लेता है। वे फिर अन्यत्र इसी 'अनहद नाद' का 'कींगरी' अर्थात् जोगियों की छोटी सारंगी वा चिकारे के शब्द जैसा वर्णन भी करते हैं। उनका कहना है कि "वह अनहद 'किंगुरी' इस प्रकार बजती है कि उसकी ओर उन्मुख हो जाते ही सुरति का नाद में लौ लग जाना संभव हो जाता है।" जैसे,

राजा राम अनहद किंगुरी बाजै। जाकी दिसटि नाद लिव लागै ॥[4]

और यहाँ पर भी उनकी संगीत कला विषयक अभिज्ञता ही प्रकट होती है। योग साधना-संबंधी ग्रंथों में अनाहत नाद का साम्य अनेक प्रकार के शब्दों के साथ बतलाया गया है, किंतु वैसे सादृश्य का सुस्पष्ट एवं सुनिर्दिष्ट परिचय वही योगी दे सकता है जिसे उन विविध शब्दों के सुनने का पूरा अभ्यास भी रह चुका हो।

कबीर साहब ने अपने कतिपय पदों में एकाध वाद्य यंत्रों के रूप एवं बनावट की ओर भी संकेत किया है। अपने एक पद के अंतर्गत वे कहते हैं "हे अवधू क्या तुम्हें पता नहीं कि बिंदु के स्थिर होते ही अपने भीतर 'नाद' की घोर गर्जन होने लगती है और अनाहत शब्द बोलता सुन पड़ने लगता है? तुम

१. 'आदि ग्रंथ', रागु गउड़ी (वार) १, पृ० ३४४-५

२. 'कबीर ग्रंथावली', पद १२१, पृ० १२६

३. वही, पद १७२, पृ० १४६

४. 'आदि ग्रंथ', सिरी रागु, पद ३, पृ० ९१

अपनी काया के अंदर के इन रहस्यपूर्ण व्यापारों की ओर ध्यान नहीं देते और जंगलों में घूमा करते हो ?......देखो, मैंने अपनी तृष्णा को नष्ट करने के लिए चंद्रमा (इडा) एवं सूर्य (पिंगला) नाड़ियों के दो तूंबें जोड़कर अपने चेतन की डांडी सजा ली थी जिससे मेरी सुषुम्ना की ताँत के झंकृत हो उठने में विलम्ब नहीं लगा और इस प्रकार मेरा काम सहज में ही सध गया।"

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूंढत बन बन डोलै ॥टेक॥

× × ×

चंद सूर दोइ तूंबा करिहूँ, चित चेतन की डांडी।
सुषमन तांती बाजण लागी, इहि विधि त्रिष्णां षांडी ॥[1]

जहाँ पर सुषुम्ना की साधना द्वारा उन्मनावस्था की उपलब्धि का वर्णन किया गया है और इसके साथ ही यहाँ एक सजी सजाई वीणा का चित्र भी सामने आ जाता है। 'गोरखबानी' में संग्रहीत १६ वें पद की भी दो पंक्तियाँ लगभग इसी भाव को व्यक्त करती हैं और उनकी शब्दावली भी प्रायः एक समान है; जैसे,

ग्यान गुरू दोऊ तूँबा अम्हारै, मनसा चेतनि डांडी।
उनमनी तांती बाजन लागी, यहि विधि तृष्नां षांडी ॥[2]

किंतु यहाँ पर दिये गए रूपक में वीणा की बनावट का चित्र उतना स्पष्ट नहीं लक्षित होता। 'कबीर बीजक' में एक स्थल पर ऐसी बीन को सुषुम्ना नाड़ी का ही रूपक बनाया है और कहा है कि "वह बिना पत्रों वाली जड़ वा तने के समान खड़ी है जिसमें बिना करही (खूँटी) वाला तूँबा लगा है, बिना जीभ के ही वहाँ गान होता रहता है और गाने वाले की कोई रूपरेखा तक नहीं है।" इत्यादि।

पौविन पत्र करह बिनु तूँबा, बिनु जिभ्या गुन गावै।
गावनिहार के रेख रूप नहिं, सतगुर होय लखावै ॥[3]

फिर उसी संग्रह के अंतर्गत अनहद के नाद को 'झीझी जंतर' के शब्द जैसा अथवा किसी यंत्र के 'झीझी' शब्द जैसा सुनाई पड़ने वाला भी बतलाया गया है। वहाँ यह भी कहा गया है कि ऐसी दशा में बिना हाथ पैर वाला मन नृत्य करने लगता है। उस समय ऐसा भी लगता है जैसे कोई सुव्यवस्थित नगर है

---

१. 'कबीर ग्रंथावली' पद १६६, पृ० १२४

२. 'गोरखबानी', पद १६, पृ० १०६ ३. 'कबीर बीजक' सबद २४, पृ० ३८

जहाँ बिना किसी विशेष अवसर के भी सभा लगी हुई है और वहाँ बिना हाथ के आघात के ही बाजा बजता है। बिना कान के सुन पड़ता है और सुनने वाला ही स्वयं श्रवण रूप भी है।[१]

कबीर साहब ने अपनी कई रचनाओं में सारे शरीर को भी ऐसे यंत्र के रूप में चित्रित किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने इसे स्पष्ट शब्दों में रबाब का नाम दिया है और कहा है "इस तन रूपी रबाब की ताँत इसकी रगें बनी हुई है जिन्हें विरह सदा बजाता रहता है तथा जिसे या तो हमारा स्वामी सुनता है अथवा चित्त सुन पाता है, और किसी को भी वह सुनाई नहीं देता"

सब रँग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त॥[२]

रबाब का यह रूपक वहाँ भी आया है जहाँ अंतिम दशा का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि तारों के "टूट जाने पर कभी रबाब का बाजा नहीं बजा करता"

टूटी तंतु न बजै रबाबु।[३]

कहीं-कहीं उन्होंने इस प्रसंग में, शरीर को केवल 'जंतु' वा मंत्र मात्र भी कहा है, और बतलाया है कि बजाने वाले के बिना वह बेकाम हो जाता है, जैसे,

जो हम जंतु बजावते, टूटि गईं सभ तार।
जंतु बिचारा किआ करै, चले बजावनहार॥[४]

यहाँ बजाने वाला जीवात्मा जान पड़ता है, किंतु अन्यत्र उन्होंने उसे परमात्मा के रूप में भी अंकित किया है। उनका कहना है "यह यंत्र तभी बजता है जब इसे इसका 'गुनी' (कलावंत) बजाता है। इस बीन को रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण तथा पंच तत्त्वों के आधार पर तैयार किया गया है और तीनों लोक वाले सारे दृश्यमान संसार को केवल एक ही पुरुष नचाया करता है।"[५] फिर भी वे जोगी को संबोधित करके एक स्थल पर कहते हैं—

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ, ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ॥टेक॥

---

१. 'कबीर बीजक', सबद १६, पृ० ३५
२. 'कबीर-ग्रंथावली' सा० २०, पृ० ६
३. 'आदि ग्रंथ' रागु आसा १, पृ०४७८
४. 'वही' सलोक १०३ पृ० १३६६
५. 'कबीर ग्रंथावली' पद १६४, पृ० १५२

तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।[1] इत्यादि अर्थात् अरे जोगी तू अपने शरीर के ही वाद्ययंत्र को बजाया कर और इसे ऐसा रूप दे दे जिसमें उस यंत्र की तांत का काम तो तत्त्व करें, उसकी डांडी धर्म बन जाय और उस वीणा की सारिका सत्य हो जाय जिसके द्वारा उसमें से स्वर निकलने लग जाय।

इस प्रकार का रूपक उन्हें बहुत प्रिय जान पड़ता है क्योंकि अन्यत्र उन्होंने इसे और भी स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, ताका सबद गगन मैं गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति की तूंबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूं न पाया॥
जिभ्या तांति नासिका करहीं, माया का मैंण लगाया।
गमां बतीस मोरणां पांचौं, नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहिं बाजै, तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन सांचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै॥१६५॥[2]

अर्थात् 'यंत्रकार का अनुपम यंत्र सदा बजा करता है और उसका शब्द आकाश तक में अथवा काया के भीतर वाले शून्य गगन में गर्जन करता रहता है। उस यंत्र की डांडी अथवा दंड तो स्वर का है, किंतु उसके दो तूंबे दो श्रवणेंद्रियों के बने हुए हैं और उसे स्वयं 'सतगुर' (परमात्मा) ने ही सजाया है। उसके शब्द का पता, बिना गुरू की सहायता के, आज तक देवता, मनुष्य, गंधर्व और ब्रह्मादि तक को नहीं चल सका। उस तंत्र की तांत का काम जीभ करती है, उसकी खूंटी अथवा 'कौडी' नाक बन जाती है और उसमें माया का मोम लगा करता है। उसमें गमक वाली मधुर ध्वनि बत्तीस नाड़ियों से निकलती है और पंचप्राण वहाँ मोरणा का काम करते हैं, और पूरा साज तैयार हो जाता है। यंत्रकार द्वारा परित्याग कर दिये जाने पर वह बज नहीं पाता और जब वह बजाता है तभी बजा करता है जिस कारण सच्चा मनुष्य वही है जो उस यंत्रकार के साथ प्रेम संबंध रखता है। ऐसे यंत्र के प्रति कबीर साहब का इतना आकर्षण है कि वे फिर अन्यत्र इस प्रकार भी कथन करते दीख पड़ते हैं—

परम गुर देखौ रिदै विचारी, कछू करौ सहाइ हंमारी ॥टेक॥
लवा नालि तंति एक संमि करि, जंत्र एक भल साजा।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद २०८, पृ० १५६ २. वही, पद १६५, पृ० १५४

सति असति कछू नहीं जानूं, जैसैं बजावा तैसैं बाजा ॥[1] इत्यादि अर्थात् हे परम गुरु (परमात्मन्) अपने हृदय में विचार कर देखो और किसी भी उचित मात्रा में, मेरी सहायता (अवश्य) करो; क्योंकि लौका, नालि तथा ताँत इन सभी को एकत्र कर इस यंत्र का निर्माण हुआ है (इस काया को शिर, उदर तथा विविध नाड़ियों के संयोग से, किसी विशेष उद्देश्य के अनुसार, निर्मित किया गया है)। मुझे सत्यासत्य अथवा भले बुरे का कुछ भी ज्ञान नहीं है, तुम जब जिस प्रकार इसे बजाते आये हो यह बजता आया है।

इस प्रकार कबीर-साहित्य में हमें केवल पदों का रागानुसार किया विभाजन ही नहीं मिलता। उसमें बहुत से ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनसे कबीर साहब की संगीत के प्रति अभिरुचि तथा उनकी तद्विषयक अभिज्ञता का भी कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। कहते हैं कि वे एक साधारण जुलाहा परिवार में पाले गए अशिक्षित व्यक्ति थे और उन्हें जो कुछ आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध था वह उनके पर्यटनशील होने तथा उच्चकोटि के साधु-संतों के साथ सत्संग में आने का ही परिणाम था। इसी के आधार पर उन्होंने बहुत सी दार्शनिक बातें कही हैं और योगसाधना-संबंधी अनेक रहस्यों का उद्घाटन भी किया है। उनके करघा, खेती, व्यापार आदि वाले रूपकों के आधार पर साधारणतः, यह भी अनुमान किया जाता है कि उनमें से कुछ न कुछ विषयों का उन्हें व्यक्तिगत अनुभव भी रहा होगा किंतु जहाँ तक उनके संगीत-कला आदि के प्रति रुचि प्रदर्शन का प्रश्न है इसका समाधान इस प्रकार नहीं किया जा सकता। इस संबंध में या तो यह कहा जा सकता है कि उन्हें इसकी शिक्षा मिली होगी अथवा यह कि ऐसा उनके युग के वातावरण के ही कारण संभव हुआ होगा।

भारतीय संगीत की परंपरा अत्यंत प्राचीन है और वह भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनी रहती आयी है। प्राचीनतम ग्रंथ 'ऋग्वेद संहिता' की ऋचाओं का शुद्ध गान हुआ करता था और वे तीन प्रकार के स्वरों में उच्चारित हुआ करती थीं। 'सामवेद संहिता' के तो सभी मंत्र गेय थे और उनके गान के अनेक 'उपाय' वा भेद कर दिये गये थे[2] तथा संगीत विद्या पृथक्

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद २११, पृ० १८७

२. 'सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः', 'सङ्गीत ओ संस्कृति' (प्रज्ञानानन्द) पृ० ८३ पर उद्धृत

'गंधर्ववेद' के नाम से भी प्रसिद्ध थी। 'छान्दोग्य उपनिषद' के अंतर्गत ॐ कार की उपासना 'उद्गीथ' के रूप में की गई मिलती है जहाँ पता चलता है कि यह नाम उसे, उसको उदात्त स्वर के साथ उच्चारित किये जाने के ही कारण, दिया गया है। उपनिषदों के कई स्थलों पर नृत्य, गान एवं वाद्य इन तीनों का ही उल्लेख पाया जाता है और कभी-कभी इनकी चर्चा वहाँ रूपकों द्वारा की गई भी मिलती है। वैदिक निघंटु में विभिन्न वाद्य यंत्रों का उल्लेख किया गया है जिनमें तार वाले, हवा देकर बजाये जाने वाले तथा आघात से शब्द करने वाले भी सम्मिलित हैं। वैदिक साहित्य में सप्त स्वरों का स्पष्ट प्रसंग आता है और उनका निदर्शन सिंधु सभ्यता के उपलब्ध अवशेषों में भी मिलता है। जैसे, मोहेन जो-दड़ो की खुदाई में सात स्वरों वाली वंशी का पता चला है, तंत्रों वाली वीणा मिली है और चमड़े से मढ़ा गया वाद्ययंत्र भी प्राप्त हुआ है इसी प्रकार वहाँ पर किसी नृत्यशीला नारी की एक ब्रांज निर्मित मूर्ति और किसी नर्त्तक की भी वैसी ही प्रतिमा पायी गई है।[1]

भारतीय संगीत शास्त्र के अनुसार संगीत कला का घनिष्ठ संबंध योग साधना के साथ माना गया है। संगीत भी उसी प्रकार नाद विद्या है जिस प्रकार योग है क्योंकि जिस आहत वा साकार शब्द की साधना संगीत में की जाती है उसी का अनाहत वा निराकार रूप योग साधना का भी लक्ष्य रहा करता है। अनाहत नाद केवल किसी योगी के ही लिए अनुभवगम्य है और इसके लिए उसे कुंडलिनी योग की साधना करनी पड़ती है। वह सुषुम्ना नाड़ी के मूल भाग में अवस्थित कुंडलिनी को जाग्रत कर उसके द्वारा क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत एवं विशुद्ध चक्रों को वेधित करता है और, अंत में, सहस्रार तक पहुँच कर नाद में लीन हो जाने की चेष्टा करता है। संगीत के साधकों का विशेष संबंध इनमें से केवल तीन चक्रों से रहा करता है। संगीत शास्त्र के ग्रंथों में बतलाया गया है कि हृदय के अनाहत चक्र से 'मंद्र,' कंठ के विशुद्ध चक्र से 'मध्यम' तथा मूर्द्धा के सहस्रार से 'तार' स्वर उत्पन्न होते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर, तार सप्तक अथवा सप्त स्वरों की सृष्टि होती है। जिस कारण इन्हीं चक्रों की साधना पर संगीत कला की सिद्धि भी निर्भर है। योग-संबंधी ग्रंथों में बतलाया गया है कि योगसाधना करने वालों को भी अनाहत

---

१. Stuart Piggot : Prehistoric India (Pelican Series) P. 270.

शब्द पहले मत्तभृंग, वेणु, वीणा, घंटानाद एवं मेघध्वनि जैसा ही सुन पड़ता है, किंतु जब वे, इन से विचलित न होकर स्थिर चित्त रह जाते हैं तो, अंत में, उन्हें नाद में लय की प्राप्ति होती है।

प्राचीन भारतीय समाज का दैनिक जीवन भी ऐसा था जिसमें नृत्य एवं संगीत के अभ्यास की आवश्यकता पड़ा करती थी। अतएव 'रामायण' एवं 'महाभारत' के युगों तक इस प्रकार की कलाएँ केवल धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित नहीं रह गई थीं। राजकुमारियों तथा समृद्धशाली पुरुषों की कन्याओं के शिक्षण के लिए कलामंदिर निर्मित किये जाते थे जहाँ उनकी परिचारिकाएँ तक ये कलाएँ सीखतीं थीं। कहते हैं कि रावण की सभी पत्नियाँ नृत्य एवं संगीत की कलाओं में निपुण थीं और उसके दर्बारों में अप्सराओं का भी नृत्य हुआ करता था। अर्जुन को, अपने अज्ञात वास के समय, बिराट राजा की नृत्यशाला में उनकी राजकुमारी उत्तरा के शिक्षण का भार सौंपा गया था। फिर बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार के साथ-साथ इन कलाओं का उपयोग धार्मिक रूप को छोड़कर अधिकाधिक व्यावहारिक ही होता चला गया। गुप्तों के साम्राज्य-काल में संगीत का महत्त्व यहाँ तक बढ़ गया कि उसके प्रसिद्ध सम्राट् समुद्रगुप्त की गणना श्रेष्ठ वीणाकारों में होने लगी। बाण के 'हर्ष चरित' से पता चलता है कि सम्राट् हर्ष की भगिनी राज्यश्री भी सभी कलाओं तथा विद्याओं में अत्यंत निपुण थी। इसके सिवाय बौद्धों एवं जैनों के प्रभाव में रहने वाली भिक्षुणियों तक को कभी-कभी संगीत का अभ्यास करना पड़ जाता था। इसी लिए संगीत को पीछे 'मार्गी' एवं 'देशी' जैसे दो वर्गों में विभाजित करने की भी प्रथा चली जिनमें से प्रथम वर्ग में शास्त्रीय संगीत का समावेश किया जाता था और द्वितीय के अंतर्गत लोक प्रचलित संगीत परंपरा आती रही। लोक संगीत का विशेष प्रचार भ्रमणशील गायकों द्वारा हुआ जो प्रायः उच्चकोटि के आध्यात्मिक वा प्रेमात्मक संगीत का गान करते फिरा करते थे। उसके एक अन्य रूप के दर्शन हमें उन सामूहिक नृत्यों में भी होते हैं जो आज तक 'रास' एवं 'गर्बा' आदि के द्वारा प्रचलित हैं। इस प्रकार भारतीयों के समाज में संगीत की साधना बहुत प्राचीन काल से अत्यंत व्यापक रूप में होती चली आई और इसके द्वारा किसी समय सुदूर यूनान देश के निवासियों तक ने प्रेरणा ग्रहण कर अपने को भारत का ऋणी होना स्वीकार किया।[1]

---

१ Strabo (X,III)

भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य आरंभ हो जाने पर भारतीय संगीत क्रमशः ईरानी पद्धति से भी प्रभावित होने लगा। परंतु इसका परिणाम विशेष रूप से उत्तरी भारत में लक्षित हुआ। दक्षिण भारत की कर्णाटकी परंपरा उससे प्रायः अछूती ही रह गई। प्रसिद्ध है कि सुलतान अलाउद्दीन के शासन काल (सं० १३५३-७३) में अमीर .खुसरो (मृ० सं० १३८२) ने संगीत में गोपाल नायक को हराया था। जब वह संङ्गीतज्ञ, दक्षिण के यादव राजाओं की पराजय के अनंतर, वहाँ से दिल्ली लाया गया था। अमीर .खुसरो ने ही, सर्वप्रथम, भारतीय एवं ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण की ओर भी ध्यान दिया। उसने दोनों के विशिष्ट स्वरों के उपयुक्त सितार नामक एक नवीन वाद्य यंत्र का आविष्कार किया और कव्वाली जैसी गायन-प्रणालियों का पथ-प्रदर्शन भी किया। अमीर .खुसरो के बहुत पहले से ही संगीत शास्त्र-संबंधी विविध ग्रंथों की रचना होती चली आ रही थी और शार्ङ्गदेव के 'सङ्गीत रत्नाकर' तथा हम्मीर की 'नृत्त रत्नावली' के अतिरिक्त, संभवतः लोचन कवि की 'राग तरंगिणी' भी लिखी जा चुकी थी। अमीर .खुसरो तथा गोपाल नायक के युग में शार्ङ्गधर की 'शार्ङ्गधर पद्धति', द्वितीय हम्मीर के 'सङ्गीत शृङ्गार हार' तथा हरिपाल के 'सङ्गीत सुधाकर' की भी रचना हुई और फिर क्रमशः सुधाकलश की 'सङ्गीत उपनिषद्' तथा विद्यारण्य के 'सङ्गीतसार' जैसे ग्रंथ भी लिखे गए। इसके सिवाय, लगभग इसी समय, इन मूल ग्रंथों के साथ 'सङ्गीत रत्नाकर' पर टीकाओं की रचना का भी सूत्रपात हो गया।

कहते हैं कि इस्लाम धर्म संगीत को प्रश्रय और प्रोत्साहन देने के विरुद्ध है। मोहम्मद साहब की धारणा थी कि संगीत एक विचित्र प्रकार की तल्लीनता का प्रभाव उपस्थित कर देता है जिस कारण हमारे प्रेम के, ईश्वर के प्रति न होकर, लय की ही ओर उन्मुख हो जाने की आशंका रहती है। वास्तव में 'फ़रियाद की कोई लय' नहीं हो सकती और संगीत के कारण प्रायः कृत्रिमता भी आ सकती है, इसलिए गाना हराम है।[1] परंतु इस्लाम धर्म के अनुयायी सभी सुलतानों ने इसके महत्त्व को नहीं माना और उनके समय इस कला ने दर्बारी आश्रय तक ग्रहण कर लिया। फलतः राजधानी से दूर वाले राजाओं तथा नवाबों के यहाँ भी इसे पूरा प्रोत्साहन मिलने लगा और इसमें प्राचीन समय का सा रंग आ गया। उदाहरण के लिए चित्तौर के प्रसिद्ध राणाकुंभ (सं० १४६०-१५२५) ने 'सङ्गीतराज' जैसे वृहत् ग्रंथ की रचना कर डाली और जौनपुर के

१. राजा नवाब अली : 'मारिफ़ुन्नग़मात' (हाथरस, सन् १६२०), पृ० १२-६

नवाब हुसेन शाह शरकी (सं० १४६५-१५३६) ने 'ख्याल' की संगीत-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया। ये दोनों कबीर साहब के समकालीन थे। इनके कुछ समय पीछे तक यह परंपरा चलती ही रह गयी। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (सं० १५४३-७५) ने ध्रुपद का आविष्कार किया तथा 'मानकुतूहल' जैसे सुंदर ग्रंथ की रचना की और उनके दर्बारी प्रसिद्ध बैजू बावरा ने वहाँ से गुजरात के संगीत प्रेमी नवाब बहादुरशाह (सं० १५७३-९३) के यहाँ जाकर 'बहादुरी टोड़ी' को ईजाद किया। यही समय गोपेन्द्र टिप्पा भूपाल (सं० १४८०-१५०३) का भी है जिसने 'तालदीपिका' की रचना की और उसके कुछ ही अनंतर कल्लिनाथ ने 'कलानिधि' का निर्माण किया।

कबीर साहब के समय तक भक्ति आंदोलन का भी आरंभ हो चुका था और उसके प्रचारक उसे सर्वव्यापी बनाने के लिए कटिबद्ध थे। तमिळ नायमारों तथा आळवारों की संगीतमयी रचनाओं का प्रचार हो रहा था और उनके आदर्श पर कन्नड़ी और मराठी में पद भी लिखे जा रहे थे। उधर जयदेव की रचना 'गीत गोविंद' से प्रेरणा ग्रहण कर मिथिला के विद्यापति एवं बंगाल के चंडीदास आदि ने भी पदावलियाँ रचीं और फिर क्रमशः उड़ीसा, गुजरात, उत्तर प्रदेश एवं असम प्रांतों तक में उनके आदर्श को महत्त्व दिया जाने लगा। उस काल के भक्ति साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि डालने पर भी यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उसके निर्माता भक्त-कवियों में संगीत की प्रवृत्ति अवश्य रही होगी। कर्णाटक प्रांत के वीर शैव एवं हरिदास, महाराष्ट्र के बारकरी, बंगाल के सहजिया तथा गौड़ीय कवि, उड़ीसा के पंचसखा, असम के महापुरुषिया, गुजरात के नरसी आदि, राजस्थान की मीराँबाई, पंजाब के नानक आदि तथा ब्रज के हरिदास स्वामी सूरदासादि सभी गायक भक्त रहे। कबीर साहब के बहुत पहले से लेकर उनके पीछे तक ऐसे लोग सदा भगवद्भजन एवं कीर्तन में लीन रहते चले आये। इधर अकबर के शासन-काल (सं० १६१३-६२) तक संगीत-कला के प्रचार में और भी अधिक उन्नति होती गई और बैजू बावरा के अतिरिक्त पुंडलीक विट्ठल तथा तानसेन जैसे भी गायकों का आविर्भाव हुआ जिनके नाम आज तक अत्यंत प्रसिद्ध हैं। अतएव, इस प्रकार के घने एवं दीर्घकालीन वातावरण में रहते हुए, कबीर साहब का संगीत के विषय का कुछ न कुछ परिचय पा लेना असंभव न था और तदनुसार हमारा यह अनुमान करना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता कि उनकी रचनाओं का निर्माण संगीत कला की दृष्टि से भी हुआ होगा।

कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं की संख्या

१. क. पंचबानी (निरंजनी संप्रदाय)

(१) नवलगढ़ नं० ३ प्रति (लिपि काल सं० १७७६ मा० कृ० ६ शुक्रवार), अंग ६४, साखी १३६७

(२) लक्ष्मणगढ़ (शेखावट), (लिपि काल सं० १८३५ चै० कृ० ६ गुरुवार) अंग ६४, साखी १३६५, राग २४, पद ६५२, रमैणी १३, रेखते ७

(३) कुचामन (मारवाड़), (लिपि काल सं० १८६१ श्रा० शु० २३, शुक्रवार) अंग ६४, साखी १३७७, राग २४, पद ६६२, रमैणी १३, रेखते ७

(४) लाधड़िया (डिडवाना) नं० १ प्रति (लिपि काल १८०१, आ० कृ० ७) अंग ६४, साखी १३७४, पद २८०

(५) बड्डग्राम (जोधपुर) (लिपि काल १८२६, भा० शु० ६, आदित्य-वार) अंग ६४, सा० १३६७, राग २४, पद ६५५, रमैणी १३ रेखते ७

ख. पंचबानी (दादू संप्रदाय)

(१) उमरा (हिसार), (लिपि काल सं० १८३१, आ० शु० २, शुभवार) सा० ८११, पद ३२४, रमैणी ७

(२) अलवो (उ० प्र०), नं० १ (लिपि काल १८४७, का० कृ० ४, सोमवार) सा० ८१०, पद ३८६, रमैणी ७

(३) चिड़ावा (शेखावाट) नं० २ प्रति (लिपि काल सं० १८४१, मा० शु० ५ शुक्रवार) सा० ८१०, पद ३८४, रमैणी ७

२. आदिग्रंथ

सलोकु २४३, रागु १७, पद २२८

३. कबीर ग्रंथावली

अंग ५६, साखी ८०६ राग १६, पद ४०३, रमैणी ७

४. कबीर-बीजक—

साखी ३५३, सब्द ११५, रमैनी ८४, ग्यान चौतीसा, विप्रमतीसी, कहरा १२, बसंत १२, चाँचर, बेलि २, बिरहुली १, हिंडोला ३

५. सर्वंगी

(चिड़ावा की प्रति) (लिपि काल १८४१, मा० शु० ५ शुक्रवार) पद एवं साखी कुल ३३२

नामानुक्रमणी

नामानुक्रमणी